गुरुकुल कांगड़ी
पुस्तकालय को भेंट.

जयचन्द्र
१८-३-२८.
गु.कु.कांगड़ी.

भारतभूमि और उसके निवासी

लेखक

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार

भूतपूर्व अध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी,
कौमी महाविद्यालय लाहौर तथा
बिहार विद्यापीठ पटना ।

भारतीय ओरियंटल कान्फ़रेंस के सभापति
रायबहादुर श्री हीरालाल
लिखित प्रस्तावना-सहित ।

प्रकाशक

जयचन्द्र विद्यालंकार
कमालिया, पंजाब
सं० १९८८ वि०

अजिल्द २)

सजिल्द २।)

मुख्य विक्रेता--

(१) रत्नाश्रम, आगरा।
(२) हिन्दीभवन, लाहौर।
(३) "भारतभूमि"-कार्यालय, दारागंज, प्रयाग।

प्रिंटर
पं० चन्द्रहंस शर्मा विशारद
रत्नाश्रम फ़ाइन आर्ट्स् प्रिंटिंग वर्क्स,
आगरा।

भारतवर्ष के अध्ययन
पर जिनका तन मन न्यौछावर था,
जिनकी
निष्पक्ष और निडर सचाई की साध से भरी
ज्ञान-चर्चा ने
और
बुढ़ापे में भी सदा तरुण उत्साह से अनुप्राणित
निष्काम आदर्शपरायणता ने
मेरे मन को अनेक बार
जगाया और जीवन दिया है,
जिनका
सरल सीधा पवित्र जीवन भारतवासियों के लिए
सदा एक आदर्श बना रहेगा,
उन्हीं स्वर्गीय मेजर
वामनदास वसु
की
उज्वल स्मृति में।

परिचय

"भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार" पहले पहल सं० १९८१ वि० (१९२५ ई०) में लिखा गया, और १९८२ के शुरू में दुनिया के सामने आया था। उस का परिचय देते हुए मैंने तब कहा था कि वह भारतीय इतिहास के भूमिका-रूप भारतवर्ष के वर्णन और विवेचन के दो खण्डों में से एक है। प्रस्तुत पुस्तक के केवल पहले खण्ड का विषय उस में आया था, दूसरा खण्ड तब न लिखा गया था। अब मैं इसे "भारतभूमि और उस के निवासी, अथवा भारतीय इतिहास की परिस्थिति" कहना पसन्द करता, पर इस का पुराना नाम प्रसिद्ध हो चुका है—यह इसी से प्रकट है कि ऐसी पुस्तक का हिन्दी में दूसरा संस्करण हो रहा है—, और इसीलिए उस नाम को भी बनाये रखना ज़रूरी है।

भौगोलिक विवेचना की तरफ़ अभी तक हमारे देश में बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इतिहास की अनेक प्रवृत्तियों को भौगोलिक परिस्थिति ने किस प्रकार निश्चित किया है इस का अनुभव यदि यह पुस्तक करा सके तो मेरा जतन एक बड़े अंश में सफल हो जायगा।

भारतवर्ष की जातीय भूमियों को पहचानने का महत्त्व पहले पहल मैंने सं० १९७८ (सन् १९२१ ई०) के स्मरणीय साल दिखलाया था। उनकी पहचान जहाँ एक तरफ़ भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन की बुनियाद है, वहाँ भारतीय राष्ट्र के भावी जीवन की भी वही इकाइयाँ हैं। इति-हास, समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए उन का जितना महत्त्व

है, राष्ट्रीय जीवन के नेताओं के लिए उससे भी कहीं अधिक। सन् १९२१ में मैंने 'भारतवर्ष का स्वाभाविक स्वरूप—स्वाधीन सहोदर जातियों के एक स्वेच्छाकृत संघ'[1] के रूप में अंकित किया था। आज नौ बरस बाद उसी संघ-आदर्श के शब्दों को देश के राजनैतिक वातावरण में गूँजता देख मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। मेरे उस लेख के शब्दों को उद्धृत करते हुए उसी बरस अध्यापक विनयकुमार सरकार ने बर्लिन से मुझे एक चिट्ठी में लिखा था—' "हमें सर्वथा नई वस्तु और नई पद्धति की रचना करनी है" आप की इस राय पर हर एक हिन्दोस्थानि का ध्यान देना चाहिये, कम से कम शिक्षकों का। "बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र जीवित सत्तायें हैं, पूर्वी बंगाल और बम्बई इलाका निर्जीव चीजें हैं"—इस मत पर खेयाल रखने से ही पक्का राष्ट्र-विज्ञान बन सकेगी।' राष्ट्र के नेता लोग आज संघ संघ तो जपने लगे हैं, पर उस संघ के स्वरूप 'पर खेयाल रखना' अभी तक उन्होंने शुरू नहीं किया। उस स्वरूप को समझने का जतन मैं सन् १९२१ से सन् १९३० तक लगातार करता रहा हूँ। उसका एक मोटा खाका इस पुस्तक के सातवें अध्याय के रूप में पहली बार भारतीय जनता की भेंट किया जा रहा ।

इतिहास के अध्ययन में इन जातीय भूमियों का कितना गौरव है, सो इसी से प्रकट है कि इन्हीं को टटोलते टटोलते प्राचीन कम्बोज देश मेरे हाथ लग सका, और उसके सहारे फिर किन्नर आदि जातियों की, उत्तरी चोल देश की और ऋषिक (युइची) जाति की पहचान हो सकी, तथा कालिदास महाकवि एक राष्ट्रीय आदर्शवादी के रूप में प्रकट हुए। इन सब विषयों

---

१ प्रभा, कानपुर २, २, पृ० १४६

की विवेचना पहले मैंने अपनी पुस्तक "भारतीय इतिहास की-रूपरेखा" में की, उसके बाद पटना के छठे भारतीय प्राच्य-विद्या-सम्मेलन में इन्हीं विषयों पर एक लेख भेजा। किन्तु उस पुस्तक और उस लेख के प्रकाशित होने में अभी समय लगेगा, इसीलिए वह समूची विवेचना संक्षेप से यहाँ परिशिष्ट में भी दी जा रही है।

इस पुस्तक के पहले संस्करण के 'परिचय' में मैंने भारतवर्ष की जनता और जातीय भूमियों की विवेचना करने का तथा भारतवर्ष का एक संक्षिप्त इतिहास लिखने का वचन दिया था। बाद में मैं ऐसी उलझनों और कठिनाइयों में पड़ गया कि उस वचन को निबाह सकने की बहुत कम आशा रह गई। किन्तु सन् १९२६ में मैंने जैसे तैसे 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में हाथ डाल ही दिया, और अनेक विघ्नों के बावजूद मैं उसके पहले भाग —प्राचीन काल—के पार लग गया हूँ, और उसके साथ ही इस पुस्तक को भी पूर्ण और परिष्कृत रूप में प्रस्तुत कर सका हूँ, इससे मुझे बड़ी तसल्ली है। जातीय भूमियों की विवेचना पहले पहल 'रूपरेखा' में ही की गई थी, अब वह अधिक विस्तृत रूप में यहाँ की गई है। इस पुस्तक के भारतीय जनता की विवेचना-विषयक अन्तिम तीन प्रकरण लगभग ज्यों के त्यों 'रूपरेखा' से उठा लिये गये हैं। अड़तालीसवें परिच्छेद में वैदिक ऋचाओं और पौराणिक श्लोकों के जो पद्यानुवाद हैं, वे मेरी प्रार्थना पर कविवर पं० नाथूराम शंकर शर्मा ने 'रूपरेखा' के लिये किये थे।

इधर एक बरस से इस पुस्तक का पहला संस्करण निपट चुका था। किन्तु दूसरा संस्करण करने की फ़ुरसत मैं इससे पहले निकाल न सका। यह दूसरा संस्करण वास्तव में उसका पुनर्जन्म है। जो अंश पहली बार था वह भी अब नये साँचे में ढल गया है। तीन नकशे भी इस संस्करण में दिये जा रहे हैं। किन्तु पाठकों को किसी अच्छी स्कूल-ऐटलस की भी मदद लेनी

होगी। मैंने सब जगह भारत सरकार की "इन्डिया ऐन्ड ऐडजेसेन्ट कन्ट्रीज़" (भारत और पड़ौसी देश) परम्परा के अथवा सदर्न एशिया सीरीज़ (दक्खिन एशिया परम्परा) के नये संस्करण के नक्शों से काम लिया है। कोकुयु कई, तमेइके, अकसका तोकियो द्वारा प्रकाशित 'मध्य एशिया की ऐटलस' की मैंने बहुत प्रशंसा सुनी है, किन्तु अनेक जतन करने पर भी मैं आज तक उसे कहीं पा नहीं सका। तीन बरस हुए मेजर वामनदास वसु ने मुझ से कहा था कि उन्होंने अङ्गरेज़ी में भारतवर्ष का एक व्यावसायिक भूगोल (इन्डस्ट्रियल ज्योग्राफ़ी औफ़ इण्डिया) लिखा है। तबसे उसके छपने की बात थी, पर अब तक मैंने उसे छपा नहीं देखा। यदि मेजर वसु की अकाल मृत्यु न हो जाती तो शायद मैं उनकी हस्तलिखित प्रति से भी लाभ उठा पाता। सर टौमस होल्डिक के इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (बृटिश विश्व-कोष) १३ वें संस्करण में प्रकाशित लेखों से भी मैंने सहायता ली है। किन्तु जहाँ उनका 'भारत और पड़ोसी देश' नक्शों से भेद पाया वहाँ उनकी बात मैंने स्वीकार नहीं की। और जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उनका निर्देश जगह जगह कर दिया गया है, किन्तु ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख करते समय केवल उन्हीं के लिए प्रमाण-निर्देश किया गया है जो प्रसिद्ध या सर्वसम्मत नहीं हैं।

यह कह देना ज़रूरी है कि मेरा जातीय भूमियों विषयक अध्ययन अभी तक पूरा नहीं हो पाया। विशेष कर कई प्रदेशों को अपनी आँखों देखना बाकी है। अत्यन्त परिमित साधनों के कारण मैं अपने बहुत से विचारों को पूरा नहीं कर सका।

अपने जिन अनेक बुजुर्गों और मित्रों ने मुझे इस पुस्तक की तैयारी में अनेक प्रकार की सहायता दी है, उनका व्यक्त

शब्दों में धन्यवाद करना कुछ दिन के लिए मुलतवी करता हूँ। 'रूपरेखा' के परिचय में मैं उनमें से एक एक के ऋण का पूरा ब्यारा पेश करूँगा।

काशी जयचन्द्र विद्यालंकार

चैत्र बदी १, सं० १९८७ वि०।

पुनश्च

तीन नक्शे तो इस संस्करण में दिये जा रहे हैं। मैंने चाहा था कुछ और नक्शे भी लगा दूँ। खास कर जातीय भूमियों के तथा एक और नक्शे को बड़े पैमाने पर तैयार कर उन्हें हीलियोज़िंकोग्राफी की प्रक्रिया से--अर्थात् उनकी फ़ोटो ले कर उनके नेगेटिव से धूप और रासायनिक पदार्थों की मदद से जस्त की प्लेट तैयार करा के—छपवाने का मेरी बड़ी चाह रही। पर साधनों के अभाव से वह फ़िलहाल पूरी न हो सकी, और होती भी तो उससे पुस्तक की कीमत बढ़ानी पड़ती। इस काम में मुझे किसी संस्था या सम्पन्न सज्जन की सहायता नहीं मिली, जो कुछ पाठकों की भेंट कर रहा हूँ सब अपने ही तुच्छ साधनों की बदौलत।

पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार करने में कुमारी सरस्वती देवी काव्यतीर्थ साहित्याचार्य तथा श्री प्रभुदयाल लवानिया ने मेरी सहधर्मिणी का हाथ बटाया है। उन दोनों का धन्यवाद करता हूँ।

रा० ब० हीरालाल जी अपने देश के उन इने गिने विद्वानों में से हैं जो इस पुस्तक के विषय पर अधिकार के साथ कुछ कह सकते हैं। मैं उनका बहुत ही अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ कर इसकी प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। मैंने उनसे विशेष आग्रह

किया था कि यदि उनका किसी बात पर मतभेद हो तो उसे अवश्य प्रकट करें। उनका उन्हीं अंशों में मतभेद दीखता है जिन्हें मैंने स्वयं आरज़ी अटकल के तौर पर पेश किया है, और विशेष कर मेरी जातीय भूमियों की योजना उन्हें पसन्द प्रतीत होती है, इसका मुझे बड़ा हर्ष है। अपनी चिट्ठी में वे लिखते हैं—"आपका विषय ऐसा है कि वह थोड़ा मतभेद अवश्य उत्पन्न करता है, तिस पर भी मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आपने उसे इस प्रकार से संभाला है कि मूल तत्त्वों में विवादात्मक बहुत सी बातें रहने नहीं पाईं। आशा है कि आपका प्रयत्न सफल होगा और अनेक लोगों की आँखें खोल देगा।"—तथास्तु।

देहरादून
२०-३-१९८७।

ज॰ च॰ वि॰

प्रस्तावना

पण्डित जयचन्द्र विद्यालङ्कार की यह एक नई सूझ है जो भूगोल को शास्त्र का रूप दे रही है। अभी तक भूगोलों के ग्रन्थकार किसी देश के विभाग पर्वत नदी नाले इत्यादि का वर्णन दे कर संतोष कर लेते थे, परन्तु भौगोलिक स्थिति से इस देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन जहाँ तक मुझे ज्ञात है पहले पहल पण्डित जयचन्द्र ही ने किया है। निदान इस देश में उस ओर किसी का भी ध्यान गया जान नहीं पड़ता। केवल आज की बात नहीं है, इसका अङ्कुर पण्डित जी के हृदय में कोई नव वर्ष पूर्व उगा था। उसी समय आपने इस विषय का एक ग्रन्थ लिख डाला जिसका यह परिवर्द्धित और संशोधित द्वितीय संस्करण है। इसी शैली की एक बृहत्पुस्तक लाहौर बैठक वाली १९२७ की इंडियन सायन्स कांग्रेस के भूगर्भ-विभाग के सभापति डाक्टर डडली स्टाम्प ने 'एशिया' पर सन् १९२९ में लिख डाली है जो विशेष महत्व की है, और एशियाई देशों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं पर प्रकाश डालते हुए इतिहास पर भी पुरानी भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव प्रकाशित करती है।

पुस्तक के दो खण्ड किये गये हैं। पहले खंड में भारतवर्ष की भूमि और दूसरे में उसके निवासियों का वर्णन है। भूमि के वर्णन करने में केवल भूमितल के ऊपर ही का वर्णन नहीं है वरन् उस भूमि का कैसे विकास हुआ और किस प्रकार परिवर्तन होते गये वह थोड़े में इस प्रकार दिखलाया गया है जिससे पाठक को कुछ भूगर्भविद्या (Geology) का बोध

हो जाता है। इसके पश्चात् सतह के स्वाभाविक विभागों का विशद रूप से सतर्क वर्णन किया गया है, जिस में साधारण तीन विभागों के स्थान में चार की योजना की गई है, अर्थात् हिमालय, उत्तर भारतीय मैदान, विन्ध्यमेखला और दक्खिन। हिमालय में उत्तर की समस्त सीमान्त पर्व्वतमालाएँ और उनके क्षेत्र में पड़ने वाले देश तथा पार्श्ववर्त्ती प्रान्त सम्मिलित हैं। यह भूमि वह है जहाँ से या जहाँ हो कर आर्य्य जाति ने भारतवर्ष के विस्तीर्ण मैदान में प्रवेश किया और उसे दुनिया भर में अत्यन्त उपजाऊ क्षेत्र बना डाला[1]। इन अञ्चलों का ब्यौरेवार वर्णन और प्राचीन नामों की पहचान विशेष प्रकाश डालती है। प्रत्येक विभाग का केवल भौगोलिक निरूपण ही नहीं किया गया, बरन उसका आर्थिक दिग्दर्शन करा के पथपद्धति और ऐतिहासिक पर्य्यालोचन बड़ी खूबी के साथ पेश किया गया है, जिससे ग्रन्थकार के गम्भीर अन्वेषण का पता चलता है। अन्त में समुद्रों और जलपथों विषयक प्राचीन भारतवासियों के ज्ञान का उल्लेख कर भ्रममूलक शंकाओं को मिटा प्रथम खंड की समाप्ति की गई है।

दूसरा खंड यद्यपि परिमाण में पहले से आधा ही है, तथापि उसमें कई बातें विवादरहित न हो कर भी बड़े मार्के की हैं। पहले तो उनके पढ़ने से पुरातत्व (Archaeology) भाषाओं (Languages) और जनविज्ञान (Ethnology) का कुछ न कुछ बोध हो जाता है। पिछला सब से नवीन विज्ञान है जिससे ऐतिहासिक विवेचना में बहुत कुछ सहायता मिलने की आशा है। परन्तु उसके सिद्धान्त अभी सर्वमान्य होने की अवस्था को नहीं पहुँचे, यथा मानुषमिति

---

१. 'One of the most important plains in the world.' (*Dudley Stamp's Asia* p. 171).

(Anthropometry) पर अनेक विद्वान् विश्वास करने को झिझकते हैं। खोपड़े की लम्बाई चौड़ाई द्वारा अथवा नाक की नाप आदि से परख करना कि अमुक पुरुष किसी विशेष जाति या वर्ग का है विरोधी पक्ष को हास्यजनक जान पड़ता है। उनके लेखे तकिया या दाई द्वारा मनमानी विकृतियाँ पैदा हो सकती हैं। खोपड़ी या नाक की आकृति जिस प्रकार दाई बना कर या उठा कर कर देवे उसी प्रकार की हो जाती है, और सिर का आकार उसके नीचे तकिया रखने से भी बदल जाता है। तिस पर भी एक वेषभूषा और रंग के भिन्नजातीय व्यक्तियों को देखते ही पहचान की जा सकती है, यथा यदि श्यामल रंग के कोट-पतलून-हैट-बूट-धारी मराठा और बंगाली किसी के सामने खड़े कर दिये जांय तो वह उत्तमांग की आकृति देखते ही बतला देगा कि अमुक व्यक्ति मराठा और दूसरा बंगाली है। चेहरों की बनावट में कुछ ऐसा भेद अवश्य लख पड़ता है जो उनको पृथक् २ वर्गों में बाँट देता है। जनविज्ञान और उसके अंग मानुषमिति, नासिकामान, कपालमिति इत्यादि अभी आरम्भिक अवस्था में हैं, जिनकी कालान्तर में वृद्धि होने की आशा है। वर्तमान अवस्था में भाषाओं द्वारा एकजातीयता की परख अधिक दृढ़तापूर्वक की जा सकती है। मुख्यतः उन्हीं के आधार पर ग्रंथकर्त्ता ने वर्तमान भारत को पूरे एक कोड़ी प्रदेशों में बाँटने का उद्योग किया है; वह इस प्रकार है—

हिन्दी खण्ड में (१) अन्तर्वेद अर्थात् संयुक्तप्रांत का बहुत सा भाग
(२) राजस्थान अर्थात् राजपूतानादि
(३) चेदिकोशल अर्थात् मध्य प्रदेश व मध्य भारत का बहुत सा भाग
(४) बिहार
(५) नेपाल

पूरब खण्ड में	(६) भूटान तथा आसामोत्तर प्रदेश
	(७) आसाम
	(८) बंगाल
	(९) उड़ीसा
दक्खिन खण्ड में	(१०) आन्ध्र या तेलंगण
	(११) तामिलनाड़ अर्थात् मद्रास अहाते का दक्षिणी भाग
	(१२) सिंहल या सीलोन
	(१३) केरल अर्थात् मलाबार प्रान्त
	(१४) कर्णाटक अर्थात् कन्नड़ भाषा का क्षेत्र
	(१५) महाराष्ट्र अर्थात् बम्बई प्रान्त का बहुत सा भाग
पश्चिम खण्ड में	(१६) गुजरात
	(१७) सिन्ध या सिन्ध-कलात
उत्तरपश्चिम खण्ड में	(१८) अफगानस्थान
	(१९) कपिश-कश्मीर
	(२०) पंजाब।

ऊपर लिखे कुछ नामों की उपयुक्तता पर ग्रंथकार ने कुछ शङ्का प्रकट की है, और पृ० २०७ के दूसरे फ़ुटनोट में लिखा है कि 'यदि समूचे पूरबी हिन्दी क्षेत्र को एक प्रांत मानना अभीष्ट हो, तो उसका नाम कोशल बहुत ही सार्थक होगा, क्योंकि अवध प्राचीन उत्तर कोशल है और छत्तीसगढ़ दक्षिण कोशल. दोनों के बीच कौशाम्बी या वत्स-भूमि (प्रयाग प्रदेश) और कारूष देश (बघेलखंड) में भी उत्तर कोशल की ही बोली है, उस दशा में अन्तर्वेद और चेदिकोशल के बजाय इस प्रकार तीन प्रांत होंगे—

अंतर्वेद बुंदेलखंड कोशल। और कोशल में चार प्रदेश होंगे—उत्तर कोशल, कौशाम्बी, कारूष, दक्षिण कोशल। यह प्रश्न आलोचना के लिये छोड़ा जाता है. इन शंकाओं का केन्द्र चेदि-कोशल नाम है जहाँ का मैं निवासी हूँ, इसलिये इस विषय पर मुझे अपनी राय प्रकट करना अभीष्ट जान पड़ता है। जिन कारणों से प्रेरित होकर पंडित जी ने चेदि-कोशल नाम चुना है वे पृ० २०५-२०७ में दिये हैं। मेरी समझ में वे काफ़ी जान पड़ते हैं। यथार्थ में महाकोशल का विस्तार प्राचीन काल में निदान वर्धा नदी तक था और उसमें वर्तमान चार मराठी ज़िले अर्थात् भंडारा, नागपुर, वर्धा और चांदा भी शामिल थे। चीनी यात्री युवनच्वांग के भ्रमण के समय महाकोशल की राजधानी चांदा ज़िले में ही भद्रावती वर्तमान भांदक में थी। पश्चात् वह रायपुर ज़िले के श्री पुर वर्तमान सिरपुर को अन्तरित कर दी गई थी। हैहय अथवा कलचुरि नरेशों का राज्य चेदि नाम से चलता था और आसपास की जो भूमि राज्य में आती जाती थी वह चेदि में समाती जाती थी जैसा कि वर्तमान समय में ब्रिटिश भारत में हो रहा है। महाकोशल चेदि राज्य का एक भाग था जिसमें कलचुरि वंश के माण्डलिक त्रिपुरी-नरेश के अधीन राज्य करते थे। स्वयं त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) जो मेरे एक ग्राम से पाँच मील की दूरी पर है, डाहल मण्डल के अन्तर्गत थी, जिसका विस्तार मलकापुरम् के शिलालेख में यों दिया है—

अस्ति विश्वम्भरासारः कमलाकुलमन्दिरम्।
भागीरथीनर्म्मदयोर्मध्यं डहलमण्डलम् ॥

इसलिये जिस प्रांत का नाम पंडितजी ने चेदि-कोशल रखा है, उसके लिये यथार्थ में केवल चेदि काफ़ी था, परन्तु यह नाम बहुत काल से विस्मृत हो चुका है। इसलिये उसमें कोशल जोड़ देने से कुछ स्पष्टता आ जाती है। त्रिपुरी का राज्य ख्रीष्टीय १२

वीं या १३ वीं शताब्दी में मिट जाने पर भी महा या दक्षिण कोशल का राज्य अठारहवीं सदी के मध्य तक चलता गया, परंतु उसका क्षेत्र संकुचित हो कर वर्तमान छत्तीसगढ़ के बीच ही रह गया। इधर उधर के अंग कट कर अन्य प्रान्तों में सम्मिलित हो गये, इसीलिये महाकोशल का दायरा छत्तीसगढ़ के भीतर गिना जाने लगा। हाल ही में मराठी ज़िलों से भिन्नता दिखलाने के लिये मध्य प्रदेश के हिन्दी ज़िलों का नाम महाकोशल प्रचलित किया गया है। यह पंडितजी के मनोनीत नाम को पुष्ट करता है। इसके स्वीकृत होने से अन्य नामों के बदलने की आवश्यकता मिट जाती है।

महाकोशल की चर्चा मुझे यहाँ एक दूसरी समस्या का स्मरण कराती है जिसके विषय में इस पुस्तक में अनेक शंकायें उपस्थित की गई हैं, वह समस्या है स्त्रीराज्य की स्थिति की। प्रथम परिशिष्ट में जो प्राचीन भूगोल विषयक नई बातें प्रविष्ट की गई हैं, उनमें पृ० ३१६, ३१७ पर स्त्रीराज्य का ज़िक्र है। वहाँ पर बतलाया गया है कि यह नाम राजतरंगिणी में ललितादित्य के उत्तर-दिग्विजय के देशों में और वात्स्यायन के कामसूत्र में भी मिलता है। कामसूत्र के टीकाकार ने 'वज्रवन्तदेशात्पश्चिमेन स्त्रीराज्यम्' लिखा है, इसपर से कल्पना की गई है कि स्त्रीराज्य भूटान या दोर्जेलिंग (प्रचलित दार्जिलिंग) के पश्चिम होना चाहिये, क्योंकि तिब्बती भाषा में भूटान को डुगयुल कहते हैं जिसका अर्थ होता है बिजली का देश और दोर्जेलिंग का अर्थ होता है वज्रद्वीप। इन स्थानों में बहुपतिक विवाह की प्रथा के कारण अनुमान किया गया है कि उस ओर का आधुनिक चाङ प्रदेश ठीक स्त्रीराज्य होगा। परन्तु राजतरंगिणी के स्त्रीराज्य का विवेचन नहीं किया गया। कहा जाता है कि ललितादित्य जिस क्रम से अनेक देश जीतता गया उसी क्रम से राजतरंगिणी

में उनका नाम दर्ज किया गया है, यथा कान्यकुब्ज को जीत कर उसकी सेना कलिंग को बढ़ी, वहाँ से कर्णाट, कोंकण, द्वारका, अवन्ति, काम्बोज, तुःखार, भौट्ट, दरद और प्राग्ज्योतिष को सर करती हुई बालुकाम्बुधि को पहुँची। तत्पश्चात् स्त्रीराज्य मिला, 'तद्योधान्निगलद्धैर्यान् स्त्रीराज्ये स्त्रीजनोऽकरोत्'। स्त्री-राज्य के पश्चात् उत्तर कुरु मिला जिससे जान पड़ता है कि ये दोनों देश एक दूसरे से सटे हुए थे। सर औरल स्टाइन ये दोनों नाम कल्पित समझते हैं, परन्तु ग्रन्थकार के अनुमान को चीनी यात्री युवनच्वांग और बृहत्संहिता से कुछ सहारा अवश्य मिलता है। युवन च्वांग ने पो-लो-हिः-मो-पु-लो (ब्रह्मपुर) देश का जिक्र किया है जिसे वह पूर्वीय स्त्रीराज्य कहता है। उसका विस्तार उसने पूर्व में तिब्बत तक बतलाया है। बृहत्संहिता में स्त्रीराज्य की गणना पश्चिमोत्तरीय देशों में की गई है।

परन्तु बहुपतिक प्रथा का प्रचार दूर दूर के अनेक देशों में था, इस-लिये स्त्रीराज्य की स्थिति किसी किसी ने भारत के बिलकुल दक्षिण में की है। एक (मि. लोगन) ने तो लकाद्वीप के मिनिकोइ टापू को स्त्रीराज्य ठहराया है। मिनिकोइ मलाबार के निकट है, जहाँ बहुपतिक प्रथा का अब भी प्रचार है। लोगन का कहना है कि मिनिकोइ द्वीप में स्त्रियों की बहुलता अब भी है। यदि इसी बात पर सब दारमदार हो तो अज़रबेजान की जरसैअन और ओस्सोशियन जातियों के प्रान्त को असल स्त्रीराज्य कहना चाहिये। ये दोनों काला समुद्र और कास्पियन के बीच में हैं। यहाँ की स्त्रियाँ आज भी पूर्ण रूप से स्वत्व जमाये हुए हैं। युवन च्वांग ने लिखा है कि पूर्वी स्त्रीराज्य में देशरक्षा और खेती के सिवाय पुरुषों से कुछ काम लिया ही नहीं जाता था। अज़रबेजान के स्त्रीराज्यों में तो पुरुष से कोई भी काम नहीं लिया जाता। स्त्रियाँ सब कुछ करती हैं अगर कोई पुरुष निठल्लेपन से उकताकर कुछ काम कर बैठे तो

स्त्रियाँ उसकी निन्दा करती हैं और अपनी बेइज्जती समझती हैं। स्त्री के 'चले जाव चले जाव' तीन बार कह देने से तलाक हो जाता है। महाभारत में, जिस स्त्रीराज्य का वर्णन है उसके नियम तो और भी अधिक कठोर थे। उस राज्य में पुरुषों की समायत ही नहीं थी। जो कोई भूला भटका अथवा व्यापारादि हेतु वहाँ जा पहुँचता वह पकड़ लिया जाता था और एक महीने के बाद निकाल दिया जाता था। यदि निकलने में आनाकानी करे तो मार डाला जाता था। उसके सहवास से जो लड़के उत्पन्न होते थे वे भी मार डाले जाते थे, केवल लड़कियों को जीवनदान दिया जाता था। जब श्यामकर्ण अश्व घूमते घामते उस राज्य में प्रविष्ट हुआ तब अर्जुन बड़े चक्कर में पड़ गये, क्योंकि स्त्रियों को पराजित करने में कोई बहादुरी नहीं थी और यदि हारते तो मुंह दिखाने लायक न रह जाते।

संस्कृत साहित्यमें स्त्रीराज्य और मूषिक देश के सटे हुए होने का ज़िक्रमिलता है। मूषिक देश की भी स्थिति विविध स्थानों में बतलाई गई है। प्राचीन भारत के अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास[1] में सिकन्दरकालीन म्यूसीकानस (Musicanus) से मूषिक का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया गया है,परन्तु पादसूचना में इसे अत्यन्त संदिग्ध कह कर लिख दिया है कि मूषिक संस्कृत साहित्य के अनुसार हिन्द के दक्षिण भाग में था। भाग्यवशात् हाथी-गुम्फा के प्राचीन लेख में खारवेल द्वारा मूषिक राष्ट्रिक और भोजकों[2] के पराजय का उल्लेख मिलता है। विद्या-महोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने इस पर से मूषिक की स्थिति मध्य प्रदेश में चाँदा ज़िले में बतलाई है। यदि चांदा

---

१. Cambridge History of India, vol I.p.377.

२. ये सब एक दूसरे से जुटे हुए बरार के भीतर थे।

ज़िले का पश्चिमी भाग मय निकटवर्ती यवतमाल ज़िले के स्त्री-राज्य कहलाता रहा हो और पूर्वी भाग मूषिक तो कामसूत्र के टीकाकार का कथन बिलकुल ठीक जम जाता है, क्योंकि चाँदा ज़िले के बीचोंबीच बैरागढ़ है जिसका प्राचीन नाम वज्र[1] था। इसके सिवाय यवतमाल ज़िले में अब भी एक जाति पाई जाती है जिनमें बहुपतिक प्रथा का विशेष प्रचार था। इस जाति का नाम कोलाम है। जिसकी भाषा से जान पड़ता है कि ये लोग द्राविड़ों से पहले के निवासी हैं। उनके आसपास द्राविड़ी गोंड़ बहुत रहते हैं। परन्तु उनकी वैवाहिक रीति कोलामों की रीति से बिलकुल विपरीत है। गोंड़ों में लड़की को पकड़ ला कर विवाह कर लेने की प्रथा थी, कोलामों में लड़की लड़के को पकड़ लाती थी और उससे विवाह करती थी। स्त्रियों का स्वत्व पुरुषों से बड़ा था। इसीलिये वे पुरुषों से बलात्कार कर सकती थीं। ऐसे स्थल में स्त्रियों का राज्य होना बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ता है।

इस प्रकार असल स्त्रीराज्य की स्थिति की संभावना मध्य-प्रान्त में प्रतीत होती है, परन्तु यह भी हो सकता है कि स्त्री-राज्य एक से अधिक रहे हों। दिग्विजयों में तो सभी देशों को प्रविष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था, जिसमें यह कहा न जा सके कि दिग्विजेता अमुक राज्य को सर नहीं कर सका। इतिहास-कारों का मत है कि ललितादित्य हिमालय की तराई के प्रान्तों के बाहर कभी नहीं गया। उसके प्रताप की प्रशंसा मात्र के लिये समस्त भारत के दिग्विजय का आडम्बर रचा गया और जन-श्रुति और कल्पना के आधार पर देशों के नाम लिखे गये। कह चुके हैं कि प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर स्टाइन ने भी यही मत प्रकाशित किया है और स्त्रीराज्य उत्तर कुरु इत्यादि को बिल्कुल कल्पित माना है। कदाचित् बराहमिहिर ने ललितादित्य के

१. Epigraphia Indica Vol. X p. 26.

दिग्विजय की अनुश्रुति पर से स्त्रीराज्य की गणना हिमालय शृंखला अन्तर्गत देशों में कर दी हो।

संदिग्ध विषयों में कल्पना के घोड़े तेज़ी से दौड़ते हैं और थोड़ा सा भी आधार पा कर शीघ्र ठहर जाते हैं। इस तर्क के युग में भी इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जिसका उदाहरण इसी पुस्तक में विद्यमान है, यथा पृ० ३१८-३२२ पर शुक्तिमान पर्व्वत की पहचान के लिये जो विवाद खड़ा किया है, उस में कल्पना की मात्रा का चमत्कार दिखाई देता है। डाक्टर मजूमदार ने उसे सुलेमान सिद्ध करने के लिये जिस प्रकार का तर्क किया है उसे हमारे ग्रंथकार 'गोमय-पायसीय' न्याय बतलाते हैं, परन्तु उन्होंने ऋषिका को मूषिका और पलाशिनी को पालेर कह कर इन मूलरहित ठेघों पर उसे हैदराबाद-गोलकुण्डा के पठार में जमाने का जो प्रयत्न किया है उसके विषय में क्या डा० मजूमदार प्रश्न नहीं कर सकते कि संस्कृत नैयायिक इसे कौन सा न्याय कहते हैं? सच बात तो यह है कि जब तक यथोचित सामग्री न प्राप्त हो जाय, तब तक इन संदिग्ध बातों का निर्णय होना कठिन है।

पंडित जयचंद्र ने अपनी पुस्तक के आदि वाक्य में कहा है कि 'हमें भारतवर्ष की भूमिरचना को इस दृष्टि से देखना है कि उसने देश के इतिहास पर कैसा प्रभाव डाला है'। हर्ष की बात है कि इसका निर्वाह आपने उत्तमता के साथ कर दिखलाया है।

श्रीनगर (कश्मीर)

ता० ९। ६। ३१ हीरालाल

ढाँचा

भूमिका

छठा प्रकरण—समुद्र-परिखा

दूसरा खण्ड-भारत-भूमि के निवासी

सातवाँ प्रकरण-भारतवर्ष की जातीय भूमियाँ

आठवाँ प्रकरण—भारतवर्ष की प्रमुख भाषायें और नस्लें

नक़शे

भूमिका

§१. मनुष्य और प्रकृति

संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि मनुष्य और प्रकृति ये दो ही मानव इतिहास की प्रेरक शक्तियाँ हैं; इन दोनों की पारस्परिक क्रिया और प्रतिक्रिया का वृत्तान्त ही मनुष्य का इतिहास है। मनुष्य स्वतन्त्र कर्त्ता है, वह अपनी कृति और अपने चरित का चालन स्वयं अपने विचारों और इच्छाओं के अनुसार करता है। किन्तु मनुष्य की कृति उसकी प्राकृतिक परिस्थिति की अवस्थाओं से परिमित और प्रभावित होती है, प्रकृति के बन्धनों को वह तोड़ नहीं सकता।

उन्नीसवीं शताब्दी (ईसवी) के पिछले हिस्से में विकास-सिद्धान्त का पहले पहल आविष्कार होने पर युरोप में एक सम्प्रदाय उठा था जो मानव इतिहास के प्रत्येक उतार-चढ़ाव की व्याख्या भौगोलिक कारणों से करता था। वह यह सिद्ध करने का जतन करता था कि मानव इतिहास का विकास प्राकृतिक प्रभावों की विपरिणतिओं का ठीक अनुसरण करता है, प्राकृतिक या भौगोलिक परिस्थिति मानव इतिहास की एकमात्र प्रेरक शक्ति है। उदाहरण के लिए, मनुष्य का सभ्यता की आरम्भिक दशा में जब वह अपना भोजन प्रकृति से सीधा लेकर अर्थात् जंगल से फल मूल बीन कर या शिकार करके ही गुज़ारा करना जानता था,[1] मनुष्यों के विभिन्न झुण्डों की तीन तरह की विभिन्न परिस्थि-

---

१. मानव सभ्यता का क्रमविकास मनुष्य के अपनी जीविका-उपार्जन के तरीकों में उन्नति करने के साथ साथ हुआ है। उन तरीकों के उन्नति-क्रम में निम्नलिखित दर्जे हैं,—(१) शिकारी अवस्था (२) पशुपालक अवस्था (३) कृषक अवस्था (४) शिल्पी अवस्था। जब मनुष्य ने पहले पहल जानवर पालने की रीति का आविष्कार किया तब मानव-समाजों के जीवन में एक भारी क्रान्ति हुई। एक गाय को मार कर खाने से

तियाँ थीं -- समुद्र-तट, सघन वन और सूखे बांगर या बार

एक मनुष्य का कुछ दिन तक गुज़ारा हो सकता है, किन्तु उसका दूध दुह कर पीते हुए वह बरसों गुज़ार सकता है। इस प्रकार जहाँ एक शिकारी की जीविका के लिए कई वर्गमील जंगल की ज़रूरत होती थी वहाँ उतने ही दायरे में पशुपालकों का एक अच्छा झुण्ड गुज़ारा करने लगा। दूसरे, जहाँ शिकारी मनुष्य अपनी कर्मेन्द्रियों की प्रेरक शक्ति से ही काम लेता था, वहाँ पशुपालक पशुओं की शक्ति से भी काम लेने लगा। मनुष्य की युद्धकला में तो इससे एक क्रान्ति ही होगई पैदल और सवार का परस्पर क्या मुकाबला है? उसके सिवाय शिकारी मनुष्य जहाँ अपने विरोधी मनुष्य को मारकर फेंक या खा ही सकता था, वहाँ पशुपालक उसे भी दास बनाकर उस से पशु की तरह काम लेने लगा। इस प्रकार दूसरे की मेहनत से लाभ उठाने का तरीका चला। अपने जानवरों के रूप में मनुष्यों के गिरोहों के पास कुछ सम्पत्ति और पूँजी भी होने लगी। पशुपालक दशा से मनुष्य धीरे धीरे तीसरी अर्थात् कृषक अवस्था में पहुँच गया। आरम्भिक कृषि का कुछ ज्ञान तो उसे शिकारी अवस्था में ही हो गया था, फल खाकर उनकी गुठलियाँ वह अपने डेरे के पास डाल देता और फिर उन्हें उगता देखता था तब उसे पौधे उगाने की प्रक्रिया मालूम हो जाना कठिन न था। किन्तु असल कृषि तब शुरू हुई जब वह जानवरों या दासों के पट्ठों की ताकत से खेती करने लगा। पशुपालक से कृषक दशा में आने पर उसने एक बड़ी मंज़िल तय करली। एक वर्गमील चरागाह की अपेक्षा एक वर्गमील खेत पर कई गुने मनुष्यों का गुज़ारा हो सकता है। कृषक अवस्था में आने पर मनुष्य पहले पहल स्थावर व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाने लगा। कृषि के साथ ही धीरे धीरे शिल्पों का भी आरम्भ हुआ। पशुपालक दशा से हस्त-चालित शिल्पों की दशा तक मनुष्य के पास प्रायः दो ही प्रेरक शक्तियाँ थीं—अपने और अपने गुलामों के पट्ठों की या जानवरों के पट्ठों की। पवनचक्की और पनचक्की में अथवा मौसमी हवाओं से चलने वाली नावों

(stepps)[1] । मनुष्यों के जो गिरोह समुद्र-तट पर रहते थे, वे स्वभावतः मछुए बन गए, और फिर उन्हों ने बहुत जल्द नौचालन सीख लिया । वनों वाले गिरोह बहुत देर तक शिकारी ही बने रहे, किन्तु बांगरों वाले झुण्ड शीघ्र पशुपालक बन गये। इन मछुए, शिकारी और पशुपालक गिरोहों के आन्तरिक संगठनों से इतिहास के भौगोलिक व्याख्याकार आज तक की सब सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं (Institutions) और व्यवस्थाओं (Constitutions) का क्रम विकास टटोलते हैं ।

इस व्याख्या-पद्धति में बहुत कुछ सचाई है, किन्तु इसके पहले प्रवक्ताओं ने इसे बहुत बार बेहूदगी की सीमाओं तक पहुँचा दिया, जहाँ उनकी बातें केवल अन्धविश्वासियों को संतुष्ट कर

और जहाज़ों में वह दो एक प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग करना भी जानता था ! किन्तु हाल में जब उसने अपने शिल्प के यंत्रों में भाप बिजली आदि की प्रेरक शक्तियों को बर्तने का तरीका निकाला, तब फिर उसके जीवन में एक भारी क्रान्ति होगई, जिसने उसके समूचे समाज-संस्थान को बदल दिया ।

१. नदी की बनाई उसके "कच्छ" की ज़मीन को खादर, तथा सूखी ऊँची पक्की ज़मीन को जिसे नदियों ने न बनाया हो बांगर कहते हैं । कुरुक्षेत्र का बांगर प्रसिद्ध है । पंजाब में वैसी ही भूमि को बार कहते हैं । बांगर या बार में ऊँचे बड़े पेड़ नहीं होते, और खेती सिंचाई के बिना नहीं हो सकती; दूर तक खुला दिगन्त दीखता है जिस में थोड़ी थोड़ी दूर पर करीर और जंड (शमी) की अकेली अकेली झाड़ियाँ लगातार चली जाती हैं । पूर्वी रूस और तुर्किस्तान के steppes भी पंजाब के इन बारों का ही बड़ा संस्करण हैं, इसी लिए steppes के अर्थ में मैं बांगर या बार शब्द बर्तता हूँ ।

सकीं। इस शैली के एक प्रमुख प्रवक्ता बकल थे। उन्हों ने और उनके अनुयायियों ने भौगोलिक कारणों से अपनी तसल्ली को यह सिद्ध कर दिखाया था कि पूर्वी देशों के लोग क्यों सहज फिसड्डी हैं, और सभ्यता का उच्चतम विकास क्योंकर युरोप के ठंडे जलवायु और विस्तृत पेचीदा समुद्र-तट पर ही हो सकता है। आधुनिक भारत की गुलामी के मूल कारण उसके जड़ और निर्जीव समाज संस्थान की बुनियाद रूप जात-पाँत को उन्हों ने भारतवर्ष के गर्म जलवायु और उर्वरा भूमि की स्वाभाविक उपज सिद्ध कर दिखाया। क्योंकि इस उर्वरा भूमि में एक तरफ़ तो प्रकृति अपना अत्यन्त सौम्य रूप प्रकट करती है, थोड़ी सी मेहनत से आदमी अपने लिए भरपूर भोजन पैदा कर लेता है, जिस से वह स्वभाव से आलसी हो जाता है और दूर की चिन्ता करना नहीं सीखता। दूसरी तरफ़ जब प्रकृति यहाँ रुद्र रूप में प्रकट होती है, तब वह इतनी रुद्र होती है कि मनुष्य उस के सामने अपने को बिलकुल निःशक्त पाता है। इस प्रकार उस में आत्मविश्वास के बजाय अपने को भाग्य का गुलाम मानने की आदत बनती है। अदूरदर्शी और भाग्य-विश्वासी होने के कारण दुर्भिक्ष के समय यहाँ के जन-साधारण निरी मुसीबत में फँस जाते हैं, उस समय उनके समाज के अल्पसंख्यक चालाक लोगों की जिन्हों ने सुभिक्ष के समय आसानी से संचय कर रक्खा होता है बन आती है, और वे जनसाधारण को ख़ूब लूट और दबा सकते हैं। इस प्रकार ऐसे जलवायु में स्वभाव से ही समाज में श्रेणी-भेद पैदा हो जाता है, जिस का परिणाम जात-पाँत है। भाग्यवाद और ऊँचनीच के इस वातावरण में प्रजातंत्र भला कैसे फल फूल सकता है? चावल की रासायनिक बनावट की छानबीन कर बकल ने यह दिखलाया कि चावल खाने वाले भारतवासी क्यों स्वभाव से दार्शनिक तथा व्यवहारिक वस्तुओं से

बेपरवाह होते हैं। उनकी रसायन भी गलत थी, और उन का इतिहास भी गलत। किन्तु जब चावल-मछली खाने वाले जापानियों ने युरोप की गेहूँ-गोश्त खाने वाली एक सब से तकड़ी जाति को पछाड़ दिया, तब तो उन के बालू के महल की बुनियाद ही हिल गई। बुड्ढी माइयाँ बतलाया करती हैं कि गाजर का पानी चाँदनी में रखने से उस में रोशनी लग जाती है और इसलिए उसको पिलाने से कमज़ोर जिगर के आदमी के जिगर में भी रोशनी आ जाती है! बकल और उनके साथियों की इतिहास की भौगोलिक व्याख्या-पद्धति भी प्रायः देसी युक्तियों पर उतारू हो जाती है। इस व्याख्या-शैली को देखते हुए एक जर्मन विद्वान ने बकल को सब से बड़े और अद्वितीय लालबुझक्कड़ (Magician) की पदवी दी है[1]।

दुर्भाग्य से भारतीय इतिहास की विवेचना में अभी तक इसी लालबुझक्कड़ व्याख्या-शैली का ज़ोर है और विद्यार्थियों की पाठ्य पुस्तकों में तो उसका एकमात्र दौरदौरा है। हमारे भाटों और चारणों की पुरानी व्याख्या के अनुसार राजपूत और मुसलमान राज्यों की प्रत्येक लड़ाई का मूल कारण किसी न किसी सुन्दरी का रूप होता था, और राजपूतों की प्रत्येक हार का कारण या तो उनकी उदारता (उपनाम मूर्खता) और या उनके किसी घर के आदमी का विश्वासघात! भारतीय इतिहास के बहुत से आधुनिक पण्डितों की व्याख्या भी उससे बहुत आगे नहीं पहुँचती। स्वर्गीय विद्वान डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'औक्सफ़र्ड हिस्टरी औफ़ इण्डिया' में

---

१. हूस्टन स्टिवर्ट चेम्बरलेन कृत 'उन्नीसवीं शताब्दी की आधार-शिलायें', मौलिक जर्मन पुस्तक का अंगरेज़ी अनुवाद The Foundations of the Nineteenth Century, जि. २, पृ. २०४।

राजपूतों की उन्हीं हारों की जो व्याख्या की है, उस की आलोचना डा० देवदत्त रा० भण्डारकर ने यों की है[1]—

"वे कहते हैं कि मुस्लिम आक्रान्ता अपने हिन्दू विरोधियों से लड़ने की शक्ति में बढ़े चढ़े थे, क्योंकि वे पहाड़ी देशों के ठंडे जलवायु से आते और उनका बदन भारी और गठन मज़बूत होता था, और क्योंकि वे मांसाहारी थे जब कि हिन्दू प्रायः शाकाहारी थे।.......................मौंट स्टुअर्ट ऍल्फ़िन्स्टन की दृष्टि अधिक विस्तृत है, वे आश्चर्य प्रकट करते हैं कि अरब लोग भारतवर्ष को फ़ारिस की तरह क्यों न जीत सके। स्मिथ स्वयं स्वीकार करते हैं कि मुहम्मद की मृत्यु के बाद अस्सी बरस के अन्दर ही अरबों ने फ़ारिस, सीरिया (शाम) पच्छिमी तुर्किस्तान, सिन्ध, मिस्र, और दक्खिनी स्पेन जीत लिया था, किन्तु वे भारत को न जीत पाये। साढ़े चार सौ बरस बाद भारत में इस्लाम के पैर जम सके। आश्चर्य है कि वि० आ० स्मिथ इस अन्तर को, जो किसी तरह कम नहीं है, कैसे टरका गये हैं। उन्हें यह नहीं सूझा दीखता कि अरबों का विजय क्यों सिन्ध और मुलतान तक ही रह गया, यद्यपि मुसलमान लोग तब एशिया, अफ़रीका और युरोप के बड़े भाग पर लगातार अनुपम विजय पाने से मद-मस्त थे, और उनका मज़हबी जोश किसी तरह कम न हुआ था। इस बात की ओर मौंट स्टुअर्ट ऍल्फ़िंस्टन का ध्यान गया था, किन्तु स्मिथ को इस ने कुछ भी कष्ट नहीं दिया।"

सिकन्दर की भारतवर्ष के उत्तर-पच्छिमी आँचल की विजय-यात्रा से स्मिथ की दृष्टि में "युरोपियन चतुराई और सुश्रृंखला के मुकाबले में बड़ी से बड़ी एशियाई सेनाओं की सहज

1. ऐनल्स औफ़ दि भण्डारकर इंस्टीट्यूट, जि. १०, पृ० २६–२८।

दुर्बलता सिद्ध हो जाती"[1] है, किन्तु सिलिऊक[2] के चन्द्रगुप्त से हारने से क्या सिद्ध होता है सो बतलाना वे भूल गये हैं। "उनकी दृष्टि, भारतीय पुरातत्त्व में स्वयं भारी भारी आविष्कार करने के बावजूद भी, बकल, हीगल, मेन और मैक्स मुइलर की स्थापनाओं से आगे नहीं बढ़ पाई," क्योंकि "ऐतिहासिक तारतम्य की तमीज़ का स्मिथ के लेखों में प्रायः अभाव ही है।"[3] युरोप और एशिया शब्द सिकन्दर के समय में भी थे, पर तब उनका वह अर्थ न था जो आज है, और सिकन्दर के समय में अभिमानी यूनानियों से आजकल के पच्छिमी यूरोप के उस समय के उन जंगली बाशिन्दों में से, जिनके वंशज विसेंन्ट स्मिथ और उनके देश वाले हैं, यदि कोई यह कहता कि आप भारतीय आर्यों की अपेक्षा हमारे अधिक सगोत्र हैं, तो वे उस 'बर्बर' की बात पर घृणापूर्वक हँसते !

हमारी पाठशालाओं की पाठ्य पुस्तकों के लेखक तो स्मिथ के भी कान काटते हैं। एक प्रसिद्ध डाक्टर और अध्यापक की भारतीय इतिहास विषयक एक अत्यन्त प्रचलित पाठ्य पुस्तक में मैंने पढ़ा था कि भारतवर्ष का जलवायु गर्म होने के कारण यहाँ के निवासी स्वभावतः कमज़ोर और ठंडे देशों के मज़बूत निवासियों के शिकार होते रहे हैं। भूगोल की एक हाई स्कूल पाठ्य पुस्तक में, जो मेरे सामने है, यों लिखा है—

---

१. अर्ली हिस्टरी औफ़ इंडिया (भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास) चौथा संस्करण, पृ० ११७।

२. 'सिलिऊकस' का अन्तिम स् प्रथमा एकवचन का प्रत्यय है, न कि नाम का अंश।

३. ऐन इंग्लिश हिस्टरी औफ़ इंडिया (भारत का एक अंग्रेज़ी इतिहास), पोलिटिकल साइन्स क्वार्टर्ली (राजनीति-विज्ञान-त्रैमासिक), न्यूयार्क, जि० ३४ (१९१९) पृ० ६४५-६४६।

"उष्ण कटिबन्ध के अधिवासी साधारणतः आलसी तथा उद्योग-हीन और इसके विपरीत शीतोष्ण कटिबन्ध के मनुष्य उद्यमशील तथा तीक्ष्णबुद्धि होते हैं।......समुद्रतट के अधिवासी साधारणतः मछुवे, साहसी, नाविक तथा कुशल व्यापारी और अन्तर्वर्ती देशों जैसे चीन आदि के लोग गृहमुखी (जो अपने घर को छोड़ कर बाहर नहीं जाना चाहते) होते हैं।"

यह लालबुझक्कड़-शैली की पराकाष्ठा है ! यह मानी हुई बात है कि पंजाब के गर्म मैदान में रहने वाले सिक्खों के मुकाबले का रिसाला रूस के कौस्सकों के सिवाय दुनिया के तख्ते पर कोई नहीं है। कुरुक्षेत्र, राजपूताना और गंगा-काँठे के जाट, राजपूत और भोजपुरी संसार की सब से सुन्दर सैनिक जातियों की टक्कर ले सकते हैं। पिछली शताब्दी में गर्म मैदानों में पैदा हुए इन्हीं भारतीय योद्धाओं की सेनायें अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारिस, चीन, दक्खिनी अफ़रीका, मिस्र, तिब्बत, जर्मनी, अरब और तुर्की की लड़ाइयों में विजय के बाद विजय पाती रही हैं। आश्चर्य है कि यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष बात जो किसी भी आँख वाले को दीख सकती है, इन पुस्तक-लेखकों को नहीं सूझ पड़ती ! चीन के लोगों को 'गृहमुखी' कहने वाले लेखक ने चीन के इतिहास का क-ख पढ़ने का कभी कष्ट नहीं किया सो निश्चित है, क्योंकि किया होता तो उन्हें मालूम होता कि पहली शताब्दी ई० में पीले सागर और दक्खिन चीन सागर से कास्पियन सागर तक चीन का एकच्छत्र साम्राज्य था; फिर सातवीं-आठवीं शताब्दी में संसार के सब से दुर्गम पहाड़ी रास्तों से अपने देश के साथ सम्बन्ध बनाये रख कर चीन की सेनायें सुदूर कश्मीर, तुर्किस्तान और काबुल तक पर किस प्रकार अपना आधिपत्य रखती थीं उसे देख कर आधुनिक इतिहास-विवेचक दाँत तले अँगुली दबाने लगते हैं। 'आलसी और उद्योगहीन' जाति का

नमूना क्या ठंडे तिब्बत के निवासियों से बढ़ कर भी कहीं है ?

यह कहा जा सकता है कि भारतीय सेनायें यदि पिछली शताब्दी में लगातार विजय पर विजय पाती रही हैं तो अंग्रेज़ों की अधिनायकता में। किन्तु जो भी हो गर्म जलवायु से देह दुर्बल हो जाने की बात तो इस से कट जाती है। और वे दूसरों की नायकता के बिना स्वयं अपने को संगठित नहीं कर सकतीं, उनकी यह चरित्रगत दुर्बलता क्या उसी बीमारी को सूचित नहीं करती जिसके कारण हमारे ये पुस्तक-लेखक स्वयं कुछ नहीं सोच[1] सकते और अपनी आँखों कुछ नहीं देख सकते ? इस चरित्रगत दुर्बलता का कारण निःसन्देह भारतवर्ष का जलवायु नहीं है।

अध्यापक यदुनाथ सरकार ने मराठा जाति के सारे चरित्र के एक एक गुण-दोष का कारण महाराष्ट्र की पहाड़ी परिस्थिति के प्रभावों में खोज निकाला है। महाराष्ट्र की प्राकृतिक परिस्थिति ने मराठा इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला है और ख़ास कर शिवाजी का चरित तो महाराष्ट्र की भौगोलिक बनावट पर ध्यान दिये बिना समझ ही नहीं आ सकता, सो ठीक है। किन्तु जब अध्यापक महोदय मराठी भाषा में भी, जिसमें हिन्दी 'आप' जैसा कोई सम्मानसूचक शब्द नहीं है, महाराष्ट्र के पहाड़ों का प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं, तब हम उनका साथ नहीं दे सकते। वे यह आसानी से भूल गये हैं कि गुजरात और पंजाब की शस्यश्यामला भूमियों के निवासी भी 'तमे' और 'तुसी' से बढ़ कर कोई अन्य सम्मानसूचक शब्द नहीं जानते। दूसरे यदि उन्हें यह सिद्ध करना था कि महाराष्ट्र की भौगोलिक

---

१. यदि सब कुछ सोचते समझते हुए भी वे किसी और उद्देश्य से ऐसी बातें लिखते हैं तो दूसरी बात है। तब हमारा उनसे कोई विवाद नहीं है, क्योंकि सोये को जगाया जा सकता है मचले को नहीं।

परिस्थिति का वहाँ की भाषा पर किसी विशेष प्रकार का प्रभाव हुआ है तो केवल आधुनिक मराठी पर ही नहीं, प्रत्युत महाराष्ट्र की पहली सब बोलियों पर भी वह प्रभाव दिखाना था।

भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर किस अंश तक और किस प्रकार पड़ता है इस विषय की विस्तारपूर्वक विवेचना यहाँ नहीं की जा सकती। संक्षेप से यहाँ इतना कह देना बस है कि मानव इतिहास एक बड़ी पेचीदा वस्तु है, उसकी व्याख्या एक ही सामान्य सूत्र से नहीं हो सकती। बकल की स्थापनाओं से आधुनिक विज्ञान बहुत आगे बढ़ चुका है। उसके अनुसार परिस्थिति मनुष्य के मार्ग को निश्चित अवश्य करती है, पर परिस्थिति में केवल भौगोलिक परिस्थिति नहीं प्रत्युत उन सब प्राकृतिक अवस्थाओं और मानव कृतियों का परिगणन करना चाहिए जो मनुष्य के जीवन-संग्राम पर प्रभाव डालती हैं। यही इतिहास की आर्थिक व्याख्या है[1]।

किन्तु यह व्याख्या भी एक प्रकार का भौतिक भाग्यवाद (Material determinism) है। जीवन-संग्राम की अवस्थाएँ इसके अनुसार इतिहास की एकमात्र प्रेरक शक्ति हैं। मनुष्य का मार्ग उनके द्वारा निश्चित है, मनुष्य उनके हाथ में खाली खिलौना है। पुराने आस्तिकों के भाग्यवाद में भाग्य, किस्मत वा दैवी इच्छा ही मानव घटनाओं का एकमात्र निर्धारक मानी जाती थी; यह नास्तिकों का भाग्यवाद है जिसमें रोटी की छीन-झपट ही मनुष्य के सारे चरित्र का—उसकी राजनीति, उसकी समाज-व्यवस्था, उसके धर्म, उसके विज्ञान, उसके दर्शन और उसके सर्वस्व का—

१. इस विषय के अधिकांश ग्रन्थ फ्रांसीसी और जर्मन में हैं। अँग्रेज़ी में अध्यापक सेलिग्मैन की 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' (The Economic Interpretation of History) में उनका बहुत अच्छा निचोड़ दिया गया है।

कारण मानी जाती है। मनुष्य की स्वतन्त्र विचारपूर्वक कृति के लिए यह कोई स्थान नहीं छोड़ती। मानव इतिहास के अनेक पहलुओं पर यह व्याख्या भी पूरी नहीं उतरती। मनुष्य का स्वतन्त्र कर्तृत्व आज इस युग में ही जब कि विज्ञान के सहारे उसने प्रकृति को बहुत दूर तक अपने वश में कर लिया है नहीं जगा, उस प्राचीन सरल पशुपालन के ज़माने में भी जब आरम्भिक चरवाहे जंगल में फिरते फिरते चिन्ताकुल मनोवृत्ति से तारों को झाँकने और उनकी गति का निरीक्षण करने लगते थे, या इस मनुष्य और संसार के उद्भव और अन्त के प्रश्नों का चिन्तन करने लगते थे, तब भी उनकी वह चिन्ता जीवन-संग्राम की किसी प्रेरणा को नहीं प्रत्युत मानव प्रतिभा के सहज उद्बोधन को सूचित करती थी। मनुष्य की विचारपूर्वक कृति इतिहास के प्रवाह की एक प्रबल प्रवर्तक शक्ति है जो मानव इतिहास के धुँधले आरम्भ के समय से काम कर रही है[1]।

प्राकृतिक परिस्थिति का मनुष्य पर बड़ा प्रभाव है, किन्तु मनुष्य अपने प्रयत्न से उस परिस्थिति तक को बदल डाल सकता है। वह रेगिस्तान को नहरों से सींच सकता, दलदलों का पानी सोख कर उन्हें हरा भरा मैदान बना सकता, हिमालय और हिन्दूकुश को मार्ग देने के लिये बाधित कर सकता और पानामा की पहाड़ी गर्दन में छेद कर अपने जहाज़ों के लिए रास्ता निकाल सकता है। आकाश लोक के मेघ भी उसके प्रभाव से बाहर नहीं हैं।

मनुष्य के इस सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए भी हम इतिहास की आर्थिक व्याख्या को अधिकांश में सच मानते हैं। मनुष्य-जातियों की ऊँची आध्यात्मिक संस्कृति (Culture)

---

१. देखिये स्व० आल्फ्रेड रसेल वालेस कृत "सामाजिक परिस्थिति और आध्यात्मिक उन्नति" (Social Environment and Moral Progress)।

का न सही उनकी भौतिक सभ्यता (Civilisation) के विकास का जीवन-संग्राम या रोटी की छीन झपट सब से बड़ा प्रवर्त्तक कारण है—यदि स्पष्ट कारण नहीं तो कम से कम मुख्यतम उत्तेजक तो अवश्य है। मनुष्य की अनेक संस्थाएँ जिन्हें हम सर्वथा धार्मिक और सामाजिक माने बैठे हैं—उदाहरण के लिए विवाह और परिवार की संस्थाएँ—मुख्यतः आर्थिक शक्तियों की उपज हैं, और उन पर धार्मिक कलई पीछे से चढ़ी है। उच्च आध्यात्मिक संस्कृति की भी आर्थिक शक्तियाँ और अवस्थाएँ चाहे उत्पादक कारण न हों, प्रतिबन्धकाभाव-रूप से वे उसका कारण होती हैं, और प्रतिबन्धक रूप से उसकी उत्पत्ति को नियन्त्रित कर सकती हैं। और भौगोलिक परिस्थिति इन आर्थिक अवस्थाओं का एक बहुत बड़ा अंग और अंश है। वह परिस्थिति मानव इतिहास की एकमात्र प्रवर्त्तक शक्ति भले ही न हो, उसके विकास का मार्ग बाँधने वाला एक बहुत बड़ा कारण अवश्य है, यहाँ तक कि किसी देश की भौगोलिक परिस्थिति को समझे बिना उसके इतिहास को समझना असम्भव है। यह मानने के लिए भौगोलिक परिस्थिति के प्रभावों को अतिरञ्जित करके दिखाने की ज़रूरत नहीं है। अतिरञ्जना वास्तव में धुँधले और अधूरे ज्ञान की दशा में होती है।

इसीलिए भारतीय इतिहास का अध्ययन आरम्भ करने से पहले उसकी परिस्थिति की आलोचना और विवेचना करना आवश्यक है, जिससे इतिहास पर उसके प्रभावों को समझा जा सके, और उन प्रभावों की सीमा को ठीक ठीक निश्चित किया जा सके। भारतीय परिस्थिति की उसी प्रकार की विवेचना का एक जतन अगले पृष्ठों में किया जायगा। पहले खण्ड में हम भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति की पड़ताल करेंगे, और दूसरे में जातीय परिस्थिति की।

पहला खण्ड

भारतवर्ष की भूमि

पहला प्रकरण

भारतीय भूमि का विकास और उसके मुख्य विभाग

§१. भूमि का विकास और परिवर्तन

ध्यान रहे कि हमें भारतवर्ष की भूमि-रचना को इस दृष्टि से देखना है कि उसने देश के इतिहास पर कैसा प्रभाव डाला है। भूतल की उपरली आकृति अर्थात् पर्वत, नदी, मैदान, जंगल, समुद्र, सरोवर आदि का उसमें संस्थान-क्रम, उसकी नमी और गर्मी, उसकी उपरली और निचली तहों की अर्थात् वानस्पतिक, जान्त्विक और खनिज उपज, आदि सब वस्तुएँ उसके इतिहास पर प्रभाव डालती हैं, और ये वस्तुएँ भी सदा एक सी नहीं रहतीं तो भी उनका विकास और परिवर्तन बहुत करके मानव इतिहास आरम्भ होने से पहले पूरा हो चुका था, और उसके बाद उसकी गति इतनी मन्द है कि मनुष्य की दृष्टि में उन्हें स्थिर कहा जा सकता है। क्योंकि भारतीय परिस्थिति की आलोचना में उसके विद्यमान रूप को ही हम सामने रखेंगे, इसलिए उन पुराने परिवर्तनों का कुछ निर्देश पहले कर देना ज़रूरी है।

ज्योतिष-शास्त्रियों का कहना है कि हमारी पृथिवी तथा वे दूसरे ग्रह जिनका समूचा परिवार सौर मण्डल कहलाता है पहले सब सूरज में ही थे। सूरज से अलग होने के बाद पृथिवी धीरे धीरे कैसे ठण्डी हुई, और उस दशा में उसका क्रमविकास कैसे हुआ, इसकी विवेचना भूगर्भ-शास्त्री करते हैं। बहुत समय तक वह

इतनी गर्म थी कि उस पर कोई जीव पैदा न हो सकता था. उस काल को अजीव कल्प (Azoic age) कहते हैं। उस कल्प में भी भूमि की बहुत सी चट्टानों के स्तर क्रम से बन रहे थे जो अब प्रायः भूगर्भ के अन्दर हैं। पृथिवी को पैदा हुए जितना समय अब तक बीता है उसे चौबीस घण्टा माना जाय तो उसमें से बारह घण्टा अजीव कल्प रहा। उसके बाद प्रारम्भिक भाप जो भूमण्डल को घेरे हुए थी पानी बन कर समुद्र में जमा होने लगी, और उसके किनारे उथले पानी में और नमी वाली ज़मीन पर पहले पहल जीव-सृष्टि होने लगी। चट्टानों के उपरले उपरले स्तरों का भी क्रम से विकास होता रहा। जीवों में वनस्पतियाँ भी सम्मिलित हैं। परिस्थिति के विकास के साथ साथ जीवों के रूप में भी लगातार विकास होता गया। जीव-सृष्टि के आरम्भ से अब तक के काल को जीवों का विकास-क्रम देखते हुए तीन मुख्य स्तरों में बाँटा जाता है—पुराणजीव कल्प (Palaeozoic age), मध्यजीव कल्प (Mesozoic age) और नव्यजीव कल्प (Cainozoic age)। इन्हें प्रथम (Primary) द्वितीय (Secondary) और तृतीय (Tertiary) कल्प भी कहते हैं। पुराणजीव कल्प की अवधि अजीव कल्प से आधी थी। प्रत्येक कल्प की चट्टानों में उस कल्प के जीवों के प्रस्तरावशेष (Fossil) पाये जाते हैं। यदि हम किसी ऐसे स्थान पर जहाँ भूकम्प से या नदियों समुद्रों आदि के धो डालने से भूमि की नीचे की सतहें ऊपर न निकल आई हों उस स्तरनिवेशन (Stratification) या सतहबन्दी का अध्ययन करें, अर्थात् यह देखें कि ज़मीन की एक के नीचे दूसरी परत या सतह में किस प्रकार परिवर्त्तन होता गया है, तो हम यह पायेंगे कि सब से ऊपर नव्यजीव कल्प की रचनायें हैं, फिर मध्यजीव कल्प की इत्यादि। इन कल्पों के फिर अनेक उप-विभाग हैं। मनुष्य नाम

अर्थात् जब उनका समाज एक तो किसी बाकायदा विधि व्यवस्था या नियम पर संगठित होता है, और दूसरे वह अपने पूर्वजों से अपने वंशजों तक एक धारावाहिक परम्परागत एकसूत्रता अनुभव करने लगता है,—अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक समूह का अंग समझता है जो समूह एक आकस्मिक अस्थायी जमघट नहीं प्रत्युत एक परम्परा से चला आने वाला अनेक पुश्तों का समुदाय होता है। ऐसे समूहों के सामूहिक जीवन की घटनाओं का क्रमिक वृत्तान्त ही इतिहास कहलाता है, इसलिए इतिहास की सत्ता से पहले सामूहिक चेतना होना आवश्यक है। कृषक अवस्था में पहुँचने के बाद जब मनुष्यों के समूह निश्चित प्रदेशों में स्थायी रूप से बसने लगते हैं, तब तो यह सामूहिक चेतना पैदा हो ही जाती है, किन्तु उसके कुछ पहले पशुपालक और फिरन्दर दशा में भी इसका प्रायः उदय हो चुका होता है।

उस मानव इतिहास के युग में हमारे देश के पर्वतों को तो लगभग सनातन और स्थायी कहा जा सकता है, किन्तु उसके भू-निवेशन में और छोटे साधारण परिवर्तन होते रहे हैं। वे सब परिवर्तन समुद्रों, नदियों और मैदान की आकृति में हुए हैं। बहुत पुराने समय में राजपूताना का थर एक उथला समुद्र था। सम्भवतः वह दशा आरम्भिक ऐतिहासिक काल में भी बनी रही थी[१]। सरस्वती नदी उसी समुद्र में अपना पानी ले जाती थी। भारतवर्ष की सभी नदियाँ पहाड़ों की मिट्टी ढो ढो कर अपने मुहानों पर ढेर करतीं और समुद्र की कोख में से लगातार नये

१. पार्जीटर—एन्श्यन्ट इण्डियन हिस्टौरिकल ट्रैडीशन ('प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति,' आगे इस ग्रन्थका निर्देश प्रा०भा०ऐ० अ० या प्रा० अ० संकेत से किया जायगा), पृ० २६० ।

मैदान निकालती रही हैं। अकबर के ज़माने में सिन्ध नदी का काँठा मुग़लबीन पर समुद्र से लगता था, आज वह पचास मील दक्खिन है! इस प्रकार किसी ज़माने में जहाँ बड़े बन्दरगाह थे आज वहाँ ऊजड़ खँडहर हैं! ताम्रपर्णी नदी के मुहाने में कोरकई ई० सन् के आरम्भ में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था, अब वह सूखे में है! बंगाल में तामलूक और गुजरात में सूरत और भरुच की स्थिति भी इसी प्रकार पहले की तरह समुद्र के किनारे नहीं रही। भारतवर्ष की नदियाँ भी अपना मार्ग बहुत बदला करती हैं, और उनके इन परिवर्तनों को ध्यान में न रखने से बहुत बार पिछले इतिहास को समझना असम्भव हो जाता है। चौथी शताब्दी ई० पू० में पाटलिपुत्र गंगा और शोण के संगम पर बसा था, आज के पटना से सोन दस-बारह मील पच्छिम खसक गया है। आठवीं शताब्दी ई० के शुरू में रावी मुलतान के दक्खिन चिनाब में मिलती थी, और व्यास सतलज में मिलने के बजाय रावी के नीचे जाकर चिनाब में। इस बात पर ध्यान न रक्खें तो मुहम्मद इब्न कासिम की मुलतान की लड़ाई समझ में ही नहीं आ सकती। किन्तु ईसवी सन् से ५—६ सौ बरस पहले यास्क मुनि के समय में व्यास आजकल की तरह सतलज में ही मिलती थी[1]। बहुत जल्द जल्द अपना पाट बदलने के लिए कोसी भारतवर्ष की सब नदियों से अधिक बदनाम है।

---

१. विपाट्छुतुद्रयोः सम्भेदमाययौ—निरुक्त, २, ७, २। इससे साफ़ पता लगता है कि दोनों परस्पर मिलती थीं, परन्तु दुर्गाचार्य उसकी व्याख्या में लिखते हैं—विपाट् छुतुद्रयोः नद्योः सम्भेदं संगमम् आययौ आगतवान्, यत्र विपाट् छुतुद्रयौ इतराभिः सिन्ध्वादिभिर्नदीभिः सम्भिन्ने एकीभूते इत्यर्थः। अन्तिम वाक्य में दुर्गाचार्य ने बिलकुल गोलमाल कर दिया है, निरुक्तकार के शब्दों में वह अर्थ हर्गिज़ नहीं प्रतीत होता। ऋग्वेद के जिस सूक्त (३, ३३) की व्याख्या में निरुक्तकार ने ये शब्द कहे हैं, उसकी

मनुष्य ने अपने हाथों जंगल साफ़ कर, नहरें निकाल कर और तालाब बाँध कर जो परिवर्तन किये हैं, उनका उल्लेख यहाँ करने की ज़रूरत नहीं। किन्तु उन कार्यों से भी देश की शकल ही बदल जाती है। भारतवर्ष का सब मैदान भाग पहले घने जंगलों से घिरा था, और उसे साफ़ करके आबाद करना शताब्दियों का काम था। नौवीं शताब्दी ई० में कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के मंत्री सुय्य ने दलदलों को सुखा कर, नदियों के रास्ते बाँध कर और उनसे नहरें निकाल कर इतनी नई ज़मीन आबाद कर दी थी जिस में हज़ारों गाँव बस गये थे और धान के दाम एकाएक ५१/३ गुना घट गये थे[1]। इसी कारण कश्मीरी ऐतिहासिक कल्हण ने उसे अन्नपति की उपाधि दी है। कोई राजनैतिक क्रान्ति देश के इतिहास में इतना बड़ा परिवर्तन न कर सकती जैसा अन्नपति सुय्य ने कर डाला। इसके अतिरिक्त कुछ एक प्रदेश जो पहले आबाद थे आज जंगल या सूखे मरु हो गये हैं। भगवान् बुद्ध के समय (छठी शताब्दी ई० पू० में) नैपाल तराई में कपिलवास्तु आदि समृद्ध बस्तियाँ थीं। आज वह प्रदेश घने बनों से ढका हुआ है। चीनी यात्री फ़ाहियान के समय (चौथी शताब्दी ई० में) ही वह जंगल हो चुका था। उसी प्रकार पंजाब में शोरकोट (प्राचीन शिविपुर[2]) के बार में बिखरे हुए स्तूपों और इमारतों के "भिड़" (खेड़े) किसी

दूसरी ऋचा में 'अन्या वामन्यामप्येति' शब्दों से भी दोनों का परस्पर संगम सिद्ध होता है। किन्तु जान पड़ता है दुर्गाचार्य के समय वे परस्पर न मिलती थीं, और यह न जानने से कि पहले उससे उल्टा होता था, उन्हें यह खींचतान करनी पड़ी।

१. राजतरंगिणी, ५, ७१–१२१।

२. जर्नल औफ़ दि पंजाब हिस्टौरिकल सोसाइटी, जि० १, पृ० १७४।

प्राचीन हरी भरी बस्ती को सूचित करते हैं, किन्तु रावी और चिनाब की नई नहरें निकलने तक वहाँ ऐसा बियाबान था जिसमें अनेक स्थानों पर मृगमरीचिका के दृश्य देखे जा सकते थे।

भूमि की निचली तह में कोई विशेष प्राकृतिक परिवर्तन इतिहास की स्मृति में नहीं हुआ, पर मनुष्य के हाथों ने अनेक खानों को खोद खोद कर खाली कर डाला है। गोलकुण्डा और पुन्नाडु की खानें अब हीरे और गोमेद नहीं सूतीं, और बलोचस्तिान की आधी खुदी गन्धक की खानें हमारे पूर्वजों के परिश्रमी हाथों के स्मारक रूप से विद्यमान हैं।

इन परिवर्तनों पर ध्यान रखते हुए हम भारतीय भूमि के विद्यमान नक़शे पर उन सब बातों का अध्ययन कर सकते हैं जो हमारे इतिहास के मार्ग को प्रभावित करती रही हैं और भविष्य में भी करेंगीं। भारतवर्ष की सतह के किसी अच्छे नक़शे को सामने रख कर आगे आने वाली बातों को समझना सुगम होगा।

---

§३. मुख्य चार विभाग

भारतवर्ष की सतह के किसी अच्छे नक़शे पर, जिस में समुद्र-सतह से भिन्न भिन्न ऊँचाइयाँ अलग अलग रंगों में दिखा रक्खी हों, जो बात सब से पहले दीख पड़ती है वह यह कि गंगा और सिन्ध के मुहानों से शुरू कर उन नदियों के उपरले काँठों तक लगातार दो मैदान चले गये हैं जो ऊपर जाकर एक हो गये हैं। यही उत्तर भारत का विशाल मैदान है[1]। इस

१. प्राचीन भारत में भी हम समूचे उत्तर भारतीय मैदान को एक गिनने का विचार पाते हैं। पालि वाङ्मय में उसका नाम है—जम्बुदीपतल अर्थात् जम्बुद्वीप-तल; दे० जातक (फौसबोल-सं०) जि० ३, पृ०

मैदान के उत्तर तरफ़ थोड़ी ही चौड़ाई में १५०० से २९००० फ़ुट से ऊपर तक की ऊँचाइयों की रेखाएँ एक दूसरे के बाद क्रमशः खिंची हुई हैं जो हिमालय की रचना को सूचित करती हैं। पूरब और पच्छिम तरफ़ भी ज़मीन का उठाव दीखता है जो हिमालय के साथ के सीमान्त के पहाड़ों या "मर्य्यादा-पर्वतों"[२] को सूचित करता है। सतलज, जमना और गंगा के काँठों के दक्खिन फिर उसी तरह का उठाव है। उस उठाव के दक्खिन फिर ढाल शुरू होता है, और नर्मदा और तापी, वर्धा और वेण गंगा, महानदी और ब्राह्मणी की धाराओं के साथ फिर उतार दिखाई देता है उसके दक्खिन फिर पहाड़ी पठार है, । जिस के दोनों छोर मैदान का तंग हाशिया है।

तापी के दक्खिन का यह पठार दक्खिन भारत या खाली 'दक्खिन' कहलाता है। उस के और उत्तर भारतीय मैदान के बीच जो पहाड़ी कमरबन्द सा चला गया है, उसे हम विन्ध्य मेखला कहते हैं। उस के पच्छिमी छोर से आड़ावला की बाँही उत्तर तरफ़ बढ़ी हुई है, उसे भी हम विन्ध्यमेखला में ही गिनते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष के चार स्वाभाविक विभाग हैं—(१) हिमालय और अन्य मर्यादा-पर्वत (२) उत्तर भारतीय मैदान (३) विन्ध्यमेखला और (४) दक्खिन।

प्रचलित पुस्तकों में लिखा रहता है कि भारतवर्ष के तीन विभाग हैं—हिमालय, उत्तर भारत, और दक्खिन। उत्तर और दक्खिन की सीमा विन्ध्याचल को कहा जाता है। किन्तु विन्ध्या-

---

१५९; जि० ४, पृ० १५३ (अंग्रेज़ी अनुवादक ने यहाँ 'तल' का अर्थ नहीं समझा); जि० ४, पृ० ४६८। जम्बुदीप (जम्बुद्वीप) का अर्थ पालि में सदा भारतवर्ष ही होता है।

२—मर्यादा = सीमा। मर्यादा-पर्वत शब्द पुराणों का है; दे० मार्कण्डेय पुराण, ५४, २६; श्रीमद्भागवत, ५, १६, ६—१०।

चल कोई एक रेखा तो नहीं है। प्रश्न होता है कि उस के उत्तर तट के दक्खिन का भाग दक्खिन है या दक्खिन तट के-निःसन्देह हम दक्खिन तट के दक्खिन देश को ही दक्खिन कहते हैं; किन्तु विन्ध्याचल के उत्तरी और दक्खिनी तट के बीच इतना बड़ा विस्तृत देश है और रचना में वह उत्तर भारत के मैदान से इतना भिन्न है कि उसे उत्तर भारत में नहीं गिना जा सकता। विन्ध्य-मेखला को 'दक्खिन' में गिनना तो किसी को अभीष्ट न होगा। उसके और दक्खिन भारत के बीच स्पष्ट व्यवधान है। सातपुड़ा, गवीलगढ़, महादेव, मेकल और छोटा नागपुर के पहाड़ों के दक्खिन लगातार एक मैदान की रेखा चली गई है, जो पच्छिम तरफ़ तापी के मुहाने से शुरू होकर पूर्णा के विकाम की तरफ़ जाती हुई वर्धा और वेणगंगा के उपरले काँठे में पहुँचती और महानदी-काँठे के उत्तरी छोर से गुज़रती हुई वैतरणी की धारा के साथ पूरबी समुद्र को जा छूती है। कलकत्ते से सूरत तक का रेल पथ उसी रेखा को सूचित करता है। वह विन्ध्यमेखला और दक्खिन भारत की ठीक विभाजक रेखा है।

यदि लूनी नदी के मुहाने से हम बीकानेर तक चले आवें, वहाँ से भरतपुर और उस के बाद जमना-गंगा की दक्खिनी धाराओं को लाँघते हुए पारसनाथ पर्वत के पूरब छोर से दामोदर और सुवर्णरेखा की धाराओं को पार कर उसी पूर्व-परचित रेखा के रास्ते सूरत पहुँच जायँ तो हम विन्ध्यपरम्परा की पर्वतीय मेखला की पूरी परिक्रमा कर लेंगे।

गुजरात-काठियावाड़ का हरा भरा मैदान विन्ध्यमेखला की बगल में रह जाता है। रचना में चाहे वह उससे भिन्न है तो भी उसे विन्ध्य-मेखला में ही गिनना चाहिए, जिस प्रकार दक्खिन भारत के दोनों छोर के मैदान दक्खिन में गिने जाते हैं।

इस प्रकार भारतवर्ष के चार स्वाभाविक विभाग हैं। शायद यह समझा जाता है कि भारतवर्ष के तीन विभाग—हिमालय, उत्तरापथ और दक्षिणापथ करने की शैली प्राचीन है; किन्तु प्राचीन शैली पाँच विभाग करने की थी, उसकी परिभाषा में 'उत्तरापथ' से उत्तर भारतीय मैदान कभी न समझा जाता था, उस शब्द का एक दूसरा ही अर्थ था, और कभी २ उसके अनुसार एक छठा विभाग 'विन्ध्यपृष्ठ' [1] भी गिना जाता था। उस शैली के विषय में हम आगे कहेंगे।

---

१. दे. नीचे § २५। राजशेखर ने काव्यमीमांसा अ० १७ में केवल पाँच विभाग किये हैं, किन्तु पुराणों में उन पाँच के अतिरिक्त 'विन्ध्यपृष्ठ निवासिनः' और 'पर्वताश्रयिणः' को अलग गिनाया है। दे० वायु पु०, १ म खण्ड, अ० ४५, श्लो० १३१–१३४; मार्कण्डे पु०, अ० ५७, श्लो० ५२–५५। इस प्रकार विन्ध्यमेखला को एक अलग विभाग गिनने की प्रथा भी पुरानी है, यद्यपि पुराने समय वह बहुत प्रचलित न थी।

दूसरा प्रकरण

उत्तर भारतीय मैदान

§४. पानी और प्रदेश—भौगोलिक निरूपण

उत्तर भारतवर्ष एक खुला विस्तृत समथर मैदान है। यदि समुद्र की सतह से एक हज़ार फुट तक की ऊँचाई को एक ही रंग से सूचित करें तो ब्रह्मपुत्र और सुरमा के काँठों से लेकर गोमल और बोलान दर्रों के ठीक नीचे तक एक सी भूमि दिखाई देगी। इस डेढ़ हज़ार मील के विस्तार के एक छोर से दूसरे छोर तक ऐसे मार्ग से गुज़र सकते हैं जिसके चारों तरफ़ लगातार लहलहाते खेतों की हरियाली हो, और जिसे एक छोटा सा कंकर भी कहीं कण्टकित न करे।

इस विशाल मैदान को नदियों के दो जाल सींचते हैं; दोनों पानियों का निकास लगभग एक ही जगह से है। किन्तु जहाँ "पञ्चभुज सिन्धुनद" का पानी दक्खिन-पच्छिम बह जाता है वहाँ गंगा का प्रवाह दक्खिन-पूरब झुक जाता है। इससे स्पष्ट है कि सतलज और जमना के बीच का जल-विभाजक इस मैदान का सब से ऊँचा भाग है, जिसके दोनों तरफ़ हलका उतार है। सतलज-सिन्ध और जमना के बीच निचले हिस्से में तो राजपूताना का थर और आड़ावला की शृङ्खला फैली हुई हैं, ऊपर उन्हें कुरुक्षेत्र का बांगर एक दूसरे से जोड़ता और अलग करता है। उस बांगर का इसी कारण विशेष महत्व है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यदि उसे हम आधा

के दोपाये जीव का उदय पहले पहल नव्यजीव कल्प के आरम्भ में हुआ।

इन कल्पों का इतिहास जानने वाले बतलाते हैं कि भारतवर्ष में सब से पुरानी रचना आड़ावला[1] विन्ध्यमेखला और दक्खिन भारत का पठार[2] है। उनका विकास अजीव-कल्प में ही पूरा हो चुका था। उत्तर भारत, अफ़गानिस्तान, पामीर, हिमालय और तिब्बत उस समय सब समुद्र के अन्दर थे। उसी प्राचीन समुद्र की लहरों ने आड़ावला की बढ़ी हुई नोक को काट काट कर उसके लाल पत्थर से मालवा का पठार बना दिया। द्वितीय कल्प के अन्तिम भाग खटिका-युग (Cretaceous Period) से एक भारी भूकम्पों का सिलसिला शुरू हुआ जो तृतीय कल्प के आरम्भ तक जारी रहा। उन्हीं भूकम्पों से हिमालय, तिब्बत, पामीर आदि तथा उत्तर भारतीय मैदान के कुछ अंश समुद्र के ऊपर उठ आये। हिमालय की सब से ऊँची चोटियों पर भी खटिका-युग के जीवों और वनस्पति के अवशेष पाये जाते हैं जब कि विन्ध्याचल और आड़ावला की भीतरी चट्टानों में जीवों की सत्ता का कोई चिन्ह नहीं मिलता। उत्तर भारतीय मैदान का बाकी मुख्य हिस्सा बाद में नदियों ने पहाड़ों से मिट्टी ला लाकर बना दिया।

किन्तु ये सब घटनाएँ मानव इतिहास से प्रायः पहले की हैं। तो भी एक तो देश के पहाड़ों की भौगोलिक स्थिति को और उस की खनिज सम्पत्ति के स्वरूप और प्रकार को ठीक ठीक समझने

१. राजपूताने का प्रसिद्ध पर्वत जिसका नाम हिन्दी से अंगरेज़ी में और फिर अंगरेज़ी से हिन्दी में आते हुए 'अरवली' बन गया है। आड़ा = तिरछा, वला = पर्वत। दे० परिशिष्ट ३।

२. ऊँचा पहाड़ी मैदान, अंगरेज़ी Plateau. दे० परिशिष्ट ३।

के लिए इन घटनाओं के इतिहास को थोड़ा बहुत जानने की ज़रूरत होती है; दूसरे, भारतवर्ष के आरम्भिक मनुष्यों ने जब कि वे शिकारी दशा में पत्थर के हथियार[1] बर्तते थे, सम्भवतः वह पुरानी परिस्थिति देखी होगी, इस कारण उनके इतिहास को समझ सकने के लिए हमें उस परिस्थिति के रूप का पता होना चाहिए। उदाहरण के लिए, भूगर्भ शास्त्रियों का कहना है कि कश्मीर की रम्य घाटी कभी समूची एक झील थी, कश्मीर की पुरानी दन्तकथाएँ भी इसी बात को सूचित करती हैं, और वहाँ से आरम्भिक मनुष्यों के पत्थरों के जो हथियार पाये गये हैं वे सम्भवतः उस काल के हों जब कि उस घाटी में आरम्भिक झील और दलदल के बहुत से अंश बाक़ी थे। उस काल के मनुष्यों के भ्रमणों और प्रवासों के मार्ग पर विचार करते समय हमारे लिए उस झील को ध्यान में रखना ज़रूरी होता है। तो भी वह युग मनुष्य की दृष्टि से प्रागैतिहासिक ही था।

असल मानव इतिहास तो तब से शुरू होता है जब मनुष्यों के गिरोह किसी नियम और व्यवस्था से संगठित होकर अपने अन्दर एक क्रमागत सामूहिक एकता अनुभव करने लगते हैं,—

१. मनुष्यके जीविका-साधनों की क्रमिक उन्नति को देखते हुए जिस प्रकार उसकी सभ्यता के विकास का एक पैमाना बनाया गया है जिसमें शिकारी अवस्था, पशुपालक अवस्था आदि विभिन्न दर्जे हैं, उसी प्रकार उसके हथियारों की क्रमिक उन्नति की बुनियाद पर एक दूसरा पैमाना बनाया गया है। इस पैमाने में सबसे पहले पुराणाश्म-युग (Palaeolithic age) था, जब कि मनुष्य पत्थर के भद्दे हथियारों से काम लेना था; उसके बाद नवाश्म-युग (Neolithic age) आया, जब वह चिकने पत्थर के हथियार बर्तने लगा। फिर काँस्य-युग (Bronze age) या ताम्र-युग और अन्त में लोह-युग आया। अश्म-युग प्रायः शिकारी दशा के साथ साथ चलता है।

सतलज के और आधा जमना के खादर के साथ गिन लें, तो उत्तर भारतीय मैदान के स्पष्ट दो हिस्से हैं—एक सिन्ध का मैदान और दूसरा गंगा का मैदान।

इन दोनों हिस्सों के फिर कई स्पष्ट टुकड़े होते हैं। सिन्ध के मैदान में जहाँ सिन्धु-नद अपनी पाँचों भुजायें फैलाये हुए है, वह पंजाब है; जहाँ उन सब का पानी सिमट कर अकेले सिन्ध में आगया है, वह सिन्ध है। इसी प्रकार गंगा के मैदान में जहाँ गंगा जमना दक्खिन पूरब वाहिनी हैं, वह उपरला गंगा-काँठा है, जहाँ वह ठीक पूरब-वाहिनी हो गई है बिचला गंगा-काँठा है; और जहाँ फिर दक्खिन मुँह फेरकर उसने समुद्र की तरफ़ अपनी बाँहें फैलादी हैं वह निचला गंगा-काँठा या गंगा का मुहाना है। वहाँ ब्रह्मपुत्र भी उससे आ मिला है, उन दोनों के मुहाने का पुराना नाम समतट है। उत्तर तरफ़ गंगा और ब्रह्मपुत्र के बीच का मैदान वरेन्द्र है, समतट के पूरब मैदान का टुकड़ा पुराना वंग है, और समतट के पच्छिम राढ़; राढ़ वरेन्द्र, वंग और समतट मिला कर बंगाल का मैदान बनता है। गंगा-मैदान के उत्तर-पूरबी छोर पर ब्रह्मपुत्र के पच्छिम-पूरब प्रवाह का काँठा स्पष्ट एक अलग प्रदेश—आसाम—है। इस प्रकार उत्तर भारतीय मैदान में कुल ये प्रदेश हैं—(१) सिन्ध, (२) पंजाब, (३) उपरला गंगा काँठा, (४) बिचला गंगा-काँठा, (५) बंगाल और (६) आसाम।

---

§५. पैदावार और धन-सम्पत्ति—आर्थिक दिग्दर्शन

उत्तर भारत का यह मैदान संसार के अत्यन्त उपजाऊ इलाकों में से है। सभ्यता का उदय पहले पहल नदियों के उपजाऊ काँठों में ही हुआ था, और सभ्यता के उन प्राचीन

उत्पत्तिस्थलों में गंगा-सिन्धु-सरस्वती के काँठों का प्रमुख स्थान है। इसीलिए उनके विषय में कवि का यह गाना कि—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने,
प्रथम साम-रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन-विपिने,

सर्वथा संगत है। इस बात में उनका मुकाबला केवल चीन की पीली नदी (होआँग् = पीली. हो = नदी) और याङ्चे[१] नदी (क्याङ् = नदी) का, फ़ारिस की खाड़ी में गिरने वाली दजला और फ़रात नदियों का तथा मिस्र की नील नदी का काँठा ही कर सकता है। यही सब वे प्रदेश हैं, जिनमें पहले पहल मनुष्यों ने जंगली पौधों को घरेलू बनाकर उनकी कृषि शुरू की थी। बहुत प्राचीन काल से उत्तर भारत के मैदान में अनेक प्रकार के अनाज तिलहन, रेशादार पौधे, फल तरकारी और ओषधियाँ पैदा की जाती हैं। आसाम में आजकल कुछ रबर भी पैदा होता है। यह निश्चत रूप से मालूम है. कि कपास की खेती पहले पहल उत्तर भारत में ही की गई थी; प्राचीन यहूदी, यूनानी और रोमन लोग उसे उसके संस्कृत नाम 'कार्पास' से ही जानते थे; यूनानियों को जब पहले पहल पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में भारतीय कपास के पौधे का पता मिला वे उसे ऊन का पौधा कह

---

१. चीनी, तिब्बती, कश्मीरी और पठान लोग 'च' को ज़रा दबा कर बोलते हैं. उच्चारण के लिए अंगरेजी वाले ts लिखते हैं। व मराठी में भी वह उच्चारण है, पर च ही लिखा जाता है। 'याङ्चे' में वही च है। मैं उसे च़ लिखता हूँ, पर टाइप वैसा बना न होने से जहाँ च़ में कोई मात्रा है, वहाँ नीचे का बिन्दु लग नहीं सका।

कर अचरज प्रकट करते, और चीन वाले भारतवर्ष से परिचित होने तक ऊन और रेशम को ही जानते थे[१]।

---

१. भारतवर्ष में भी वैदिक काल में कपास होने का कोई प्रमाण नहीं है। वेदों में ऊन, सन, 'क्षौम' और 'तार्थ' के ही कपड़ों का उल्लेख है। कपास का सब से पहला उल्लेख आश्वलायन श्रौत सूत्र (६, ४, १७) में है। कलकत्ता यूनिवर्सिटी के शिक्षक श्रीयुत नारायणचन्द्र वन्द्योपाध्याय ठेठ वैदिक वाङ्मय में कपास का ज़िक्र न होने की व्याख्या यों करते हैं कि 'उस समय तक आर्य लोग दक्खिन या पूरब के कपास पैदा करने वाले ज़िलों तक न पहुँचे थे' (इकनौमिक लाइफ़ ऐन्ड् प्रोग्रेस इन एन्श्येन्ट इंडिया,—'प्राचीन भारत का आर्थिक जीवन और प्रगति'—जिल्द १. पृ. ४६)। इस प्रकार वैदिक काल में कपास न होने की उन्हों ने एक भौगोलिक व्याख्या की है। किन्तु वैदिक काल में आर्य लोग पंजाब में और उपरले गंगा काँठे तक थे, और उसके बाद पूरब तथा दक्खिन फैले, एक तो यह कल्पना सर्व-सम्मत नहीं है, दे० पार्जीटर—प्रा. अ. पृ. २९७—३०२। दूसरे उस कल्पना को माना जाय तो बैनर्जी महोदय की व्याख्या ठीक उलटी पड़ती है, क्योंकि दक्खिन-पच्छिमी पंजाब जहाँ बढ़िया कपास पैदा करने में समूचे भारत में केवल बराड़ और खानदेश से पीछे है, और उत्तरी पंजाब, कुरुक्षेत्र और उपरले गंगा काँठे में भी बहुत अच्छी कपास उपजती है, वहाँ 'पूरब के ज़िलों' अर्थात् विहार बंगाल में—मधुवनी कोकटी-वांगा को छोड़ कर—किसी काम की कपास नहीं उपजती। भौगोलिक व्याख्याएँ ऐसे हलकेपन से नहीं करनी चाहिएँ। प्राचीन-काल में काशी का कपास बहुत प्रसिद्ध था और पालि वाङ्मय में कपास के साथ 'काशिकं' विशेषण प्रायः सदा लगा रहता है, उसका दूसरा कारण है। वह यह है कि कपास की ईजाद पहले पहल काशी देश में हुई थी। यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना दीघनिकाय की अट्ठकथा में धम्मपाल ने दी है। मैं इसके लिए अपने मित्र भिक्खु राहुल सांकृत्या-

समूचे उत्तर भारतीय मैदान में से भी दिल्ली, अवध, तिरहुत (उत्तरी बिहार) और पूरबी बंगाल प्रदेश सबसे अधिक उपजाऊ और घने बसे हुएहैं। उनकी प्रतिवर्गमील आबादी ६०० से ऊपर है, अवध के पूरब गोरखपुर ज़िले की ७२१, दिल्ली प्रदेश की ८२३, तिरहुत के मुज़फ्फ़रपुर ज़िले की ९०७, और पूरब बंगाल के कुछ अंशों की १००० से भी अधिक है। वे संसार के सब से घने आबाद इलाकों में से हैं। संसार भर में केवल या तो चीन के कुछ इलाके और या युरोप के वे धनी प्रदेश जिन में कल कारखाने केन्द्रित हो चुके हैं, आबादी की घनता में उनका मुकाबला करते हैं, या उन से बाज़ी ले गये हैं।

गंगा सिन्ध मैदानों का यह उपजाऊपन उनकी नदियों और बरसात पर निर्भर है। इस अंशमें सिन्ध मैदान की अपेक्षा गंगा-मैदान पर प्रकृति की अधिक कृपा है। एक तो सिन्ध-मैदान की चौड़ाई हिमालय के नीचे आती है और गंगा-मैदानकी लम्बाई सिन्ध मैदान हिमालय के नीचे खड़ा है और गंगा मैदान पड़ा। गंगा-मैदान के दूसरी तरफ़ लगातार विन्ध्यमेखला भी चली गई है। इसका फल यह है कि मुख्य और प्रसिद्ध नदियों के अतिरिक्त जो छोटी छोटी धारायें पहाड़ों से आती हैं, गंगा के मैदान में तो उनका एक छोर से दूसरे छोर तक एक जाल ही बिछा हुआ है, किन्तु सिन्ध-मैदान के वे केवल उत्तरी आँचल में समाप्त हो जाती हैं। कश्मीर के दक्खिन-पूरब, पंजाब के पहाड़ों की समूची उपत्यका में उन छोटी धाराओं का सामान्य नाम तौही या तावी (संस्कृत तौषी) है; स्यालकोट के पास की एक (अपगा) और

यन त्रिपिटकाचार्य का अनुगृहीत हूँ। इस समय काशी में, जहाँ बैठकर मैं यह लिख रहा हूँ दीघनिकाय की सम्पूर्ण अट्ठकथा हाथ न आने से प्रतीक नहीं दिया जा सका।

अटक ज़िले की सोहन (वैदिक सुषोमा) भी उन छोटी धाराओं का नमूना हैं। गंगा-मैदान में उस क़िस्म की धारायें पचासों हैं। गंगा- और सिन्ध-मैदानों का यह भेद बारीक नक़्शों पर ही प्रकट होता है।

दूसरे, पूरबी मानसून के पच्छिमी की अपेक्षा बहुत प्रबल होने के कारण गंगा-मैदान में सिन्ध-मैदान की अपेक्षा बरखा बहुत अधिक होती है। पच्छिमी मानसून को उठाने का मुख्य कारण राजपूताने का थर माना जाता है—थर की गर्मी से वहाँ का वायु ऊपर उठता है और उसकी जगह भरने समुद्र का वायु आता है। पूरबी बंगाल में जहाँ बरस में २०० इंच पानी पड़ता है—चेरापूंजी में ४५८—वहाँ निचले सिन्ध काँठे में सिर्फ़ ९ इंच और उत्तरी सिन्ध-सीमान्त में ५ ही इंच पड़ता है! इसी कारण उत्तरी सिन्ध के सक्खर शहर में कच्ची मिट्टी के तिमंजिले मकान मज़े में बनाये जा सकते हैं। दक्खिन पंजाब में भी कच्ची मिट्टी के मकानों का रिवाज है। जितना पानी पड़ने पर बिचले और निचले गंगा-कांठे के लोगों को सूखा मालूम होता है, उतने से सिन्ध प्रान्त में बाढ़ आजाती है। इसी कारण स्वास्थ्य के लिए सिन्ध-काँठा जहाँ गंगा-काँठे से बहुत अच्छा है, वहाँ उसकी आबादी उससे आधी घनी भी नहीं है। भारतीय वैद्यों की परिभाषा में सिन्ध-काँठे का बहुत सा हिस्सा "जांगल" तथा निचला गंगा-काँठा "अनूप" है।

पानी की इस कमी के कारण सतलज, रावी, चिनाब और सिन्ध के निचले प्रवाहों के बीच बहुत सा सूखा प्रदेश है, जिसकी धूलभरी ज़मीन पर खुले दिगन्त की सीमाओं तक करीर और ज़ंड (शमी)[1] के विरल पेड़ों के सिवाय कुछ नहीं दीख पड़ता। सतलज, रावी और चिनाब के निचले काँठों के लोग नदी के कछार को 'कच्चा' या 'कच्छा' कहते हैं, और उसके मुकाबले में

[1] मारवाड़ में उन्हें जांड कहते हैं।

उक्त सूखे प्रदेशों को बार। उसी बार को आयुर्वेद की परिभाषा में जांगल प्रदेश कहना होगा। सिन्धसागर दोआब और डेराजात[1] में 'कच्चे' या 'कच्ची' के मुकाबले में सूखा प्रदेश थल कहलाता है। सिन्धी लोग उसी थल शब्द को थरऽ[2] बोलते हैं और उसके मुकाबले में नदी के कच्छ को पटऽ (नदी का पाट)। सिन्ध पंजाब और कुरुक्षेत्र के इन बांगर प्रदेशों की मिट्टी में शोरे का कल्लर बहुतायत से पाया जाता है। पिछले महायुद्ध से पहले तक आधुनिक बारूद की उस आवश्यक वस्तु की उपज मुख्यतः भारतवर्ष में ही थी। बार का इलाका अपनी गौओं की नस्ल के लिए भी प्रसिद्ध है। भारत भर में सब से दुधार गायें उसी बार प्रदेश में साहीवाल (मांटगुमरी) ज़िले की होती हैं, और दूसरे दर्जे पर कुरुक्षेत्र हिसार हाँसी की। बार और बांगर की इस विशेषता का कारण चारे की बहुतायत और नमी-रहित उत्तम जलवायु प्रतीत होते हैं। बरसात के मौसम में वहाँ चारा खूब होता है, एक तरह से हाल तक समूचा बार चरागाह ही था। अब उसमें नहरें निकल कर खेती हो जाने से दूध की कमी होगई है, किन्तु नहरें निकलने के पहले तक यह दशा थी कि लोग चौमासे में अनाज के बजाय दूध पर ही गुज़ारते थे।

जहाँ दक्खिन पंजाब और सिन्ध का बहुत सा हिस्सा पानी की कमी के कारण बार होगया है, वहाँ पूरब बंगाल बहुत पानी पड़ने से बरसात में एक उथला समुद्र सा बन जाता है। पाट (जूट) और धान के खेतों पर प्रायः पानी की चादर बिछी रहती है, जिसमें उठे हुए घर और गाँव टापू से दीखते हैं।

---

१. सिन्ध के पश्चिम तट के डेरा गाज़ीखां, डेरा इस्माइलखां ज़िले।

२. सिन्धी भाषा में शब्द स्वरान्त होते हैं, अर्थात् अन्तिम स्वर पूरा बोला जाता है। अन्तिम अ के उच्चारण को स्पष्ट करने के लिए ऽ चिन्ह दिया गया है।

और उनके बीच बहने वाले नाले जिन्हें 'खाल' कहते हैं, रास्तों—निःसन्देह जलमार्गों—का काम देते हैं। प्रत्येक किसान के लिए नाव उतनी ही जरूरी चीज़ होती है जितना हल, और प्रायः घर से खेत तक या गाँव से गाँव तक नाव में ही जाना होता है। बरसात की इसी बहुतायत के कारण बंगाल और आसाम में घास-झाड़ी और बांस के झुंड हद्द से ज़्यादा हैं, और बुख़ार-बीमारियाँ भी उसी तरह। इसी कारण उनके रास्ते भारतवर्ष में बड़ी सेनाओं का आना उतना सुगम नहीं है। बुख़ार-बीमारी की दृष्टि से पच्छिम बंगाल पूरब बंगाल से भी बुरा है, क्योंकि पूरब बंगाल का पानी जहाँ खुली 'खालों' से समुद्र तक बह जाता है, वहाँ पच्छिम बंगाल की भूमि की बनावट ऐसी है कि उसका बहुत सा पानी बन्द तालावों में जमा होकर सड़ता रहता है।

सिन्ध-मैदान तथा उपरले गंगा-काँठे की मुख्य उपज गेहूँ, किन्तु बाकी गंगा-काँठे की चावल है। यह भेद भी वर्षा के कम अधिक होने के कारण है। निचले गंगा-काँठे में चावल की तरह सन और पाट की उपज की बड़ी कीमत है।

यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ आज खेती होती है वहाँ शुरू में प्राकृतिक जंगल रहा होगा। उत्तर भारतीय मैदान की तमाम बस्ती उस आदिम जंगल को साफ़ करके ही बनाई गई है। आरम्भ में हमारे आर्य्य पूर्वजों की बस्तियाँ उस जंगल के बीच वैसा ही थीं जैसे समुद्र के बीच टापू। उन जंगलों में हिंस्र जन्तुओं के सिवाय जंगली मनुष्य भी रहते थे, जिनमें से शायद कुछ नरभक्षक गिरोह भी रहे हों। इस परिस्थिति को ध्यान में रक्खे बिना भारतवर्ष का आरम्भिक इतिहास समझा नहीं जा सकता। जंगलों को साफ़ करने के अनेक वृत्तान्त उस इतिहास में पाये जाते हैं। आधुनिक मथुरा (या मधुरा) प्रदेश के मधुवन[1] और

१. प्रा० भ० पृ० १७०।

दिल्ली प्रदेश के खाण्डव वन की सफ़ाई की कथायें प्रसिद्ध हैं जंगलों के कारण लकड़ी की भी इफ़रात थी, और इसीलि बहुत ज़माने तक इमारतें लकड़ी की ही बनाई जाती थीं। इस बात का प्रमाण है कि आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पूर्व तक राजाओं के महल तक लकड़ी के बनाये जाते थे[1]। लकड़ी के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की उपज भी जंगलों से थी और अब तक है।

उत्तर भारत के जंगलों और मैदान की जान्तवक उपज की भी बड़ी क़ीमत है। समूची हिमालय की उपत्यका तथा बिहार बंगाल आसाम के जंगलों में हाथी रहते हैं। पहले पहल बिहार बंगाल में ही हाथी पाला गया और उसका युद्ध में उपयोग किया गया। सधे हुए हाथी युद्ध में एक डरावनी चीज़ होते थे, और भारतीय सेनाओं में उनका बड़ा महत्त्व था। मगध में साम्राज्य स्थापित होने के कारणों में शायद एक वहाँ हाथी का

---

१. भद्दसाल जातक (नं० ४६५), फौसबोल-संस्करण, जि० ४, पृ० १५३।

२. यह विचार चल गया है कि हाथियों के कारण भारतीय सेना उलटा निकम्मी हो जाती थी, फुर्तीले रिसाले के सामने लस्टमपस्टम हाथी किसी काम के न थे। सिकन्दर और 'पोरस' की लड़ाई में तथा महमूद और सम्मिलित भारतीय राजाओं की लड़ाई में भारतीय सेना के हाथियों ने भगदड़ में पड़ कर उलटा अपने पक्ष को नुकसान पहुँचाया। इन्हीं दो एक दृष्टान्तों से हाथियों का निकम्मापन मान लिया गया है। किंतु स्वयं महमूद भारतवर्ष से हाथी लेगया था, और मध्य एशिया की लड़ाइयों में उसके दुश्मनों के लिए वे एक भयानक चीज़ थे। प्रत्येक हथियार को बर्त्तने के लिए अच्छे कारीगर की अपेक्षा होती है। महमूद के दृष्टांत से सिद्ध है कि ग्यारहवीं सदी ई० के शुरू तक की युद्धकला में हाथियों की उपयोगिता बनी हुई थी।

सुलभ होना भी रहा हो। बार और बांगर की गौवों का उल्लेख हो चुका है। सिन्धु देश अर्थात् सिन्ध नदी का बिचला काँठा--आधुनिक सिन्धसागर दोआब और डेराजात[१]— सदा से घोड़ों की अच्छी नस्ल की खान समझा जाता रहा है। पंजाब के बार और थल तथा बांगर में भेड़ पालने का व्यवसाय भी बड़े महत्त्व का है, वैदिक काल से रावी का काँठा और गान्धार देश अपनी

---

१. प्राचीन सिन्धु-देश वही था न कि आधुनिक सिंध जो तब सौवीर कहलाता था, दे० रायचौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ़ एन्श्येंट इंडिया (प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास), पृ० ३१८। रघुवंश १५, ८७ में भी सिन्धु का वही अर्थ है। कुण्डककुच्छिसिन्धव जातक (२५४) से यह पाया जाता है कि उत्तरापथ के व्यापारी बनारस में 'सिन्धव' अर्थात् घोड़े बेचने आते थे। फलतः सिन्धु देश उत्तरापथ में था, जब कि आधुनिक सिंध प्राचीन परिभाषा के अनुसार पच्छिम देश में सम्मिलित था, दे० नीचे § २५। नमक को भी संस्कृत में सैन्धव कहते हैं, और नमक की पहाड़ियाँ आधुनिक सिंधसागर दोआब में ही हैं। रायचौधरी का यह विचार ठीक नहीं कि सौवीर आधुनिक सिंध का केवल दक्खिनी भाग था, और सिन्धु उत्तरी। उत्तरी सिंध भी सौवीर था, क्योंकि सौवीर की राजधानी रोरुक (दीघनिकाय, पाली टेक्स्ट सोसाइटी संस्करण, जि० ३, पृ० २०८–९) आधुनिक रोरी है जो उत्तरी सिंध में है। पारसी साम्राज्य में जो 'हिदु' प्रांत सम्मिलित था, वह भी मेरे विचार में प्राचीन सिन्धु था न कि आधुनिक सिंध। रायचौधरी स्वयं यह सिद्ध करके कि सिन्धु आजकल का सिंध न था, पारसी प्रकरण में वह बात भूल गये हैं, क्योंकि यूनानी लेखकों के अनुसार पारसी 'हिदु' प्रांत के पूरब मरुभूमि थी। वह मरुभूमि राजपूताने के थर के बजाय सिंधसागर दोआब का थल हो सकता है।

ऊन के लिए प्रसिद्ध रहे हैं[1]। आज भी ऊन के लिए भारतवर्ष में सब से बड़ी मण्डी फ़ीरोज़पुर ज़िले में बंगला—फ़ाज़िलका है। आसाम में अंडी-रेशम के कीड़े की अच्छी पैदाइश है।

मैदान में खनिज सम्पत्ति विशेष नहीं रह सकती, किन्तु उत्तरपच्छिमी पंजाब में हिमालय ने नमक की पहाड़ियों के रूप में अपनी जो भुजा बढ़ा दी है, उसका "सैन्धव" नमक बहुत पुराने समय से प्रसिद्ध है। सिन्धसागर दोआब ही प्राचीन सिन्धु देश था, और उसका नमक और घोड़े प्राचीन समय से 'सैन्धव' या 'सिन्धव' कहलाते रहे हैं। सेंधा नमक सांभर और समुद्री नमक से बहुत अच्छा माना जाता है, और अब तक दक्खिन की ब्राह्मणियाँ व्रतों के भोजन में उसी का प्रयोग करती हैं। हाल में उसी इलाके में अटक ज़िले में ज़मीन के नीचे मट्टी का तेल भी पाया गया है।

---

§ ६. पथपद्धति और ऐतिहासिक पर्यालोचन

उत्तर भारतीय मैदान का मुख्य राजपथ पच्छिम से पूरब ज़रा दक्खिन झुकते हुए उसकी लम्बाई के रुख़ चलता है, और सिन्ध-काँठे का राजपथ नदियों के बहाव के साथ ज़रा पच्छिम झुकते हुए दक्खिन। प्राचीन काल से आज तक निचले गँगा-काँठे से उत्तरपच्छिमी पंजाब तक जाने वाला रास्ता उत्तर भारत का मुख्य राजपथ रहा है। आधुनिक रावलपिंडी और पेशावर का इलाका प्राचीन काल में पूरबी और पच्छिमी गन्धार देश कहलाता था। रावलपिंडी से १८–२० मील उत्तरपच्छिम तक्षशिला नगरी पूरबी गन्धार की, तथा काबुल (कुभा) और स्वात (सुवास्तु) नदियों के संगम पर पुष्करावती नगरी

---

१. ऋग्वेद १, १२६. ७ [गांधार]। ४. २२, २; ५, ५२, ६ [रावी-काँठा]; दे० वैदिक इंडेक्स में 'परुष्णी'।

(आधुनिक प्रांग और चारसद्दा) पच्छिमी गन्धार की राजधानी थी। उपनिषदों के समय (नौवीं-आठवीं शताब्दी ई. पू.) में ही हम काशी और मिथिला से गन्धार जाने वाले रास्ते की बात सुनते हैं। वह इतना चलता था कि कोई आदमी "गाँव से गाँव पूछता हुआ गन्धार पहुँच" सकता था[1]।

जातकों के समय (सातवीं, छठी शताब्दी ई. पू.) तक्षशिला समूचे भारत का मुख्य विद्या-केन्द्र था, जहाँ भारतवर्ष के सब प्रदेशों से गरीब-अमीर राजा-रंक बड़ी संख्या में ऊँची शिक्षा पाने के लिए पहुँचा करते थे। गंगा-काँठे के साथ गन्धार देश का व्यापार भी काफी था। गन्धार से गँगा-काँठे तक अनेक निःशस्त्र लोगों के अकेले यात्रा करने का उल्लेख है, जिस से प्रतीत होता है कि वह रास्ता खूब चलता और सुरक्षित था। उसकी अनेक शाखायें भी उस समय रही प्रतीत होती हैं। शेरशाह और अकबर की सड़के-आज़म (ग्रांड ट्रंक रोड) उसी रास्ते का नया संस्करण थी, और उसी प्रकार आज-कल का कलकत्ते से पेशावर तक का रेलपथ।

असल में आजकल उत्तरपच्छिम से पूरब तक दोहरा रास्ता चलता है। पेशावर से सहारनपुर तक और वहाँ से लखनऊ तक जो सीधी रेलवे-लाइन गई है वह उत्तरी मार्ग को सूचित करती है और उसके बड़े अंश में हिमालय की बाह्य शृङ्खला की पहाड़ियाँ दीख पड़ती हैं। इस मार्ग की रेखा वज़ीराबाद से दक्खिन झुकती है केवल पंजाब की राजधानी को छूने के लिए, और जलन्धर तक फिर अपनी दिशा ठीक कर लेती है। इस के बराबर एक दक्खिनी मार्ग है जो लाहौर से रायविंड, फ़िरोज़पुर, भटिंडा होकर देहली जाता है, वहाँ जमना पार कर दोआब में प्रवेश करता और गँगा के दाँये दाँये प्रयाग जा पहुँचता

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६, १४, २।

है, जहाँ फिर जमना पार कर गंगा के दक्खिन जारी रहता है। लाहौर के उत्तरपच्छिम फ़िलहाल एक ही मार्ग है। किन्तु उसके समानान्तर दो दक्खिनी मार्ग अंशतः बन रहे हैं। यदि बन्नू से सिन्ध पार कुन्दियाँ तक सीधा सम्बन्ध हो और कुन्दियाँ से ख़ुशाब तक जो लाइन गई है और ख़ुशाब से सरगोधा तक जो लाइन बन रही है, उसका सरगोधा के आगे साँगला तक भी सम्बन्ध हो जाय जहाँ से आगे लाहौर तक लाइन है ही; अथवा यदि पंजाब और अफ़ग़ानिस्तान के मुख्य व्यापार-पथ दरा गोमल के नीचे डेरा इस्माईलख़ाँ का सिन्धसागर दोआब के आर पार झंग से सीधा सम्बन्ध हो जाय, और झंग से गोजरा उकाड़ा फ़ाज़िल्का होते हुए भटिंडा के क़रीब तक जो लाइन बन रही है, उसके द्वारा सीधे दिल्ली चले आँय तो यह बन्नू-लाहौर-मार्ग और उससे भी बढ़ कर डेराइस्माईलख़ाँ-देहली-मार्ग ठीक दक्खिनी रास्ते को सूचित करेगा। पेशावर ख़ैबर वाली लाइन का रुख़ काबुल की तरफ़ है, डेरा इस्माइलख़ाँ-गोमल वाली का गज़नी की तरफ़ रहेगा। लखनऊ के आगे उत्तरी रास्ता गंगा के उत्तर उत्तर तिरहुत पार कर कटिहार पर्वतीपुर होकर आसाम तक जा पहुँचता है, जब कि दक्खिनी रास्ता प्रयाग पर गंगा पार कर बनारस के सामने तक, और वहाँ से गंगा के दाहिने भागलपुर तक जाकर गंगा के साथ २ कलकत्ता, अथवा बनारस के सामने या पटना के कुछ आगे से विन्ध्यमेखला के किनारे को सीधे काट कर कलकत्ता निकल आता है।

इन मुख्य रास्तों के बीच बहुत से रास्ते हैं जो उत्तरी और दक्खिनी मार्गों को परस्पर मिलाते हैं। उन में से जो लाइन लखनऊ और अयोध्या से बनारस होकर गंगा पार करती है, उसके पूरब उत्तरी और दक्खिनी रास्तों का परस्पर सम्बन्ध उतना सुगम नहीं रहता, क्योंकि गंगा उसके आगे बहुत फैल

गई है, और उसके उत्तर दक्खिन के रास्तों को मिलाने वाले रास्ते स्टीमरों द्वारा ही गंगा को लाँघ सकते हैं। उसके नीचे केवल एक जगह अर्थात् नदिया और राजशाही ज़िलों के बीच सारा घाट पर गंगा की मुख्य धारा पद्मा पर रेल का पुल है। इसी कारण बनारस से उत्तरपूरब तिरहुत, उत्तर बंगाल और आसाम का रास्ता, और विशेष कर उसका गीतलदह के पूरब का आसाम वाला टुकड़ा केवल स्थानीय महत्त्व का है; उसकी गिनती मुख्य राजपथों में नहीं है।

किन्तु बनारस के नीचे गंगा और ब्रह्मपुत्र का ज़लमार्ग बड़े महत्त्व का है। गंगा में बक्सर तक और घाघरा में अयोध्या तक छोटे स्टीमर चलते हैं, पटना के नीचे गंगा में बड़े स्टीमर भी चलने लगते हैं। ग्वालन्दो में जहाँ गंगा और ब्रह्मपुत्र मिलती हैं, उनका भारी नाका है; वहाँ से ऊपर ब्रह्मपुत्र में वे दिब्रूगढ़ तक नियम से जाते हैं, और बरसात में आसाम के उत्तरपूरबी छोर सदिया तक भी जा सकते हैं। पूरबी बंगाल की सुरमा नदी में भी उनका बाकायदा आना जाना है

बंगाल से आसाम जाने को मैदान में के रास्ते केवल दो हैं, एक तो उत्तर बंगाल से ब्रह्मपुत्र के उत्तर उत्तर, दूसरे पूरबी बंगाल से गारो पहाड़ियों का चक्कर लगा कर नदी के दक्खिन दक्खिन। तीसरा रास्ता पूरब बंगाल से खासी जयन्तिया पहाड़ियों के पूरब कपिली और धनसिरी नदियों की घाटियों में से ब्रह्मपुत्र के दक्खिन जा निकला है। किन्तु ब्रह्मपुत्र ऐसी नदी है जिस पर कहीं भी कोई पुल नहीं है, इसलिए उसके दाहिने और बायें रास्तों के बीच केवल जहाज़ों से ही आना जाना हो सकता है।

पेशावर-पर्वतीपुर (या ठीक ठीक कहें तो खैबर-गीतलदह) वाले उत्तरी राजपथ में से जगह जगह हिमालय की तरफ़ शाखा-मार्ग गये हैं। नौशेरा से मालाकन्द दर्रे के नीचे दर्गई तक,

तक्षशिला से हज़ारा ज़िले की तरफ़ हवेलियाँ तक, स्यालकोट से जम्मू, अमृतसर से पठानकोट और कुल्लू-घाटी, अम्बाला से शिमला, लक्सर से देहरादून, बरेली से काठगोदाम, हाजीपुर से रक्सौल, कटिहार से जोगबानी और गीतलदह से जयन्ती तक के रेलपथ उनके नमूने हैं। दक्खिनी राजपथ में से इसी प्रकार जो रास्ते विन्ध्यमेखला पार कर दक्खिन गये हैं, वे शाखामार्ग नहीं हैं, प्रत्युत प्रधान राजपथ हैं, और उनका उल्लेख हम विन्ध्यमेखला प्रकरण में करेंगे।

किन्तु पंजाब से सिन्ध जाने वाले रास्तों की विवेचना यहीं पर करना आवश्यक है। वे पंजाब की नदियों के आबाद इलाक़े के साथ साथ गये हैं, इसलिए स्वभावतः उनका रुख़ ठीक पंजाब की नदियों के अनुसार है। एक रास्ता देहली-लाहौर वाले दक्खिनी राजपथ में भटिण्डा से फटकर सतलज के किनारे किनारे नीचे चला गया है; एक उसी प्रकार उत्तरी राजपथ में से अटक के पास से फट कर सिन्ध के बायें किनारे के साथ चला गया है; दोनों के बीच पांच वैसे ही रेलपथ और हैं, और वे सब अन्त में पंजाब की नदियों की तरह एक में मिल जाते हैं। वह रास्ता फिर सिन्ध प्रान्त में पहुँच कर सिन्ध नदी के दोनों तरफ़ हो जाता है। दोनों तरफ़ के रास्तों को परस्पर दो विशाल पुल जोड़ते हैं, एक तो रोरी और सक्खर के बीच का आश्चर्यजनक झूलना (बगैर खम्भों का) पुल, और दूसरा हैदराबाद के पास कोटरी का पुल।

सिन्ध के मैदान ने अपने उत्तरपच्छिमी छोर से पहाड़ों के अन्दर मैदान का एक पच्चर सा बढ़ा कर धँसा दिया है, जिसे कछी गन्दाव कहते हैं, और जिसमें सिबी का प्रसिद्ध प्रदेश या सिविस्तान भी है सक्खर से उसी मैदान के बढ़ाव में से होकर बिलोचिस्तान की रेल-लाइन गई है।

पुराने ज़माने में पंजाब और सिन्ध की नदियों में भी गंगा-काँठे की नदियों की तरह यातायात था और जलमार्ग स्थलमार्गों से अधिक महत्त्व के थे। छठी शताब्दी ई० पू० के अन्त या पाँचवीं के आरम्भ में फ़ारिस के सम्राट् दारयवहु[1] का एक जल-सेनापति स्थानीय नावें लेकर काबुल नदी के संगम से समूचे सिन्ध की यात्रा कर समुद्र के किनारे किनारे लाल सागर के उत्तर छोर तक जा पहुँचा था। उसके बाद सिकन्दर जब अपनी चढ़ाई में ब्यास नदी से वापिस लौटा तब उस ने पंजाबी नाविकों से ८०० नावों का एक बेड़ा तैयार करवा के जेहलम नदी से सिन्ध के मुहाने तक सेनासहित उसी बेड़े पर यात्रा की थी। मुस्लिम ऐतिहासिकों ने लिखा है कि महमूद गज़नवी की सेना को सोमनाथ की चढ़ाई से लौटते समय पंजाब की नदियों के काँठों में रहने वाले जाटों ने लूटा-खसोटा और तंग किया था; इसीलिए दूसरे बरस जब उनको दण्ड देने के लिए महमूद ने भारतवर्ष पर अन्तिम चढ़ाई की, तब मुलतान में उसने चौदह सौ नावों का बेड़ा तैयार कराया, जिसका मुकाबला करने को जाटों ने चार हज़ार नावें जमा कीं। मध्यकालीन भारत के इतिहासलेखक लेनपूल मुस्लिम ऐतिहासिकों के इस कथन की मज़ाक़ करते हुए फ़र्माते हैं—"जो भी हुआ हो, हम तसल्ली रख सकते हैं कि सिन्ध की उपरली धारा में कभी पाँच हज़ार नावें जमा न हुईं थीं, और कि पहाड़ी जातियाँ प्रायः नाविक लड़ाइयाँ नहीं लड़ा करतीं[2]।"

---

१. नवीन फ़ारसी रूप दारा, अंग्रेज़ी अपभ्रंश डेरियस, दारयवहुष् का अन्तिम ष् प्रथमा के एकवचन को सूचित करता है, वह नाम का अंश नहीं है।

२. मैडीईवल इंडिया (मध्यकालीन भारत). (स्टोरी आव दि नेशन्स—जातियों की कहानी-सीरीज़), पृ० २८।

इस तसल्ली से लेनपूल ने केवल अपना अज्ञान प्रकट किया है। मुलतान के जाटों को उन्हों ने किस प्रकार पहाड़ी जातियों में गिन लिया सो समझना कठिन है। आजकल पंजाब का जलमार्ग विशेष नहीं चलता, केवल सिन्ध नदी में व्यापारिक नावें आती जाती हैं।

उत्तर भारतीय मैदान के पूरब-पच्छिम छोरों को जोड़ने वाले जिन रास्तों को हमने उसके मुख्य राजपथ कहा है, उनकी परस्पर तुलना अब की जा सकती है। उत्तरी रास्ते में से हिमालय जाने वाली सब शाखायें निकलती हैं, जब कि दक्खिनी में से विन्ध्य-मेखला और दक्खिन जाने वाले रास्ते। हम आगे देखेंगे कि पंजाब से दक्खिन जाने का सुगम रास्ता दिल्ली हो कर है, इसलिए दक्खिनी रास्ते के पंजाब वाले टुकड़े में से कोई अच्छा रास्ता दक्खिन भारत नहीं जाता। दूसरे पंजाब के मैदान के विषय में ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उस से स्पष्ट है कि उत्तरी रास्ता पंजाब के आबाद हिस्से में से गुज़रता है, और दक्खिनी थल बार और बांगर में से। इसी कारण दक्खिनी रास्ते से अभी तक रेल लाइन पूरी नहीं निकली, और उसका व्यापारी महत्त्व भी उत्तरी से बहुत कम है। तो भी बन जाने पर उसका सामरिक महत्त्व बहुत होगा, क्योंकि वह गोमल और गज़नी का मुख्य रास्ता होगा। गोमल पंजाब और अफ़ग़ानिस्तान के बीच मुख्य व्यापारपथ है और उसमें रेल निकालने के लिए पूरी जाँच हो चुकी है; जब वह रेल बन जाएगी, तब दिल्ली-भटिंडा झंग डेरा इस्माईलखाँ-गोमल गज़नी मार्ग व्यापारिक महत्त्व में भी सहारनपुर पेशावर-ख़ैबर-काबुल मार्ग से कम न रहेगा। तो भी अभी तक वह बिलकुल बियाबान है। हम देखेंगे कि उसके लाहौर-देहली वाले टुकड़े में फ़ीरोज़पुर और भटिंडा

---

१. नीचे § ९।

बड़े नाकेबन्दी के स्थान हैं, इस कारण भी उसका विशेष सामरिक गौरव है। महमूद गज़नवी अपनी चढ़ाइयों में हमेशा उसी रास्ते आया करता था।

किन्तु दिल्ली से बनारस तक दोनों रास्ते एक समान महत्त्व के हैं, बल्कि दक्खिनी का महत्त्व उत्तरी से कुछ अधिक ही है, क्योंकि दोनों रास्ते जहाँ एक समान आबाद इलाकों में से गुज़रते हैं, वहाँ दक्खिनी रास्ते का दक्खिन भारत से व्यापार उत्तरी रास्ते के हिमालय वाले व्यापार से अधिक कीमती है। यदि हिमालय या हिमालय पार के प्रदेशों अर्थात् नेपाल तिब्बत आदि में से कोई अपनी सामरिक और राजनैतिक शक्ति बढ़ा ले और जापान या तुर्की की तरह जागरूक हो जाय, तो उत्तरी मार्ग का सामरिक महत्त्व बहुत ही बढ़ जायगा। हिमालय के प्रदेश यदि अपने सफ़ेद कोयले[1] की अनन्त प्रसुप्त शक्ति का प्रयोग करने लगें, तो उत्तरी मार्ग व्यापारिक महत्त्व में भी दक्खिनी को मात कर देगा।

बनारस के बाद उत्तरी राजपथ का महत्त्व दक्खिनी की अपेक्षा बहुत ही कम रह जाता है, क्योंकि दक्खिनी मार्ग जहाँ

---

१. भाप की शक्ति अर्थात् पानी की भाप बनते समय फैलने की शक्ति से जब से मनुष्य काम लेने लगा है तब से ईंधन एक अमूल्य चीज़ हो गई है। बिजली की शक्ति बड़ी मात्रा में पैदा करने को भी ईंधन चाहिए। इन आविष्कारों के युग में पहला मुख्य ईंधन तो पत्थर का कोयला ही था। बाद जलप्रपातों से चक्की चला कर उससे बिजली निकालने की विधि निकली। उसमें एक बार बाँध बना कर प्रपात को नियमित करने और चक्कियाँ (टर्बाइन) लगाने का जो खर्च हो जाता है, उसके बाद लगभग कुछ भी खर्च नहीं पड़ता, और बहुत ही सस्ती बिजली मिलती जाती है। जलप्रपातों का मूल्य इस प्रकार कोयले से कम न रहा, और इसलिए उन्हें अब 'सफ़ेद कोयला' कहा जाता है।

समुद्र और विदेशों का द्वार खोलता है वहाँ उत्तरी आसाम के एकान्त प्रदेश की तरफ़ ले जाता है। किन्तु चीन की राष्ट्रीय जागृति ज्यों ज्यों उसके पूरबी छोर से अन्दर की तरफ़ आसाम के पड़ौसी युइन् नान प्रान्त में पहुँचती जायगी त्यों त्यों आसाम के सीमान्त का गौरव बढ़ता जायगा। भारतवर्ष और बरमा को लोहे की पटरी से परस्पर जोड़ने के लिए सब से सुगम रास्ता आसाम के दक्खिनपूरब छोर से पतकोई और नामकिउ पहाड़ों के बीच से लाँघ कर इरावदी की घाटी में जा निकलने से ही होगा। यदि भारत और बरमा इस प्रकार लोहे की लकीर से कभी जुड़ गये तो आसाम-मार्ग का सब तरह का महत्त्व बढ़ जायगा।

किन्तु विद्यमान अवस्थाओं में उत्तर भारत का मुख्य राजपथ वह है जो पशावर से अम्बाला या सहारनपुर तक पहुँच कर दिल्ली की ओर झुकता और फिर दिल्ली से कलकत्ता जा निकलता है। हम देखेंगे कि उसमें नदियों के पुलों के अतिरिक्त तीन स्थान नाकेबन्दी की दृष्टि से विशेष गौरव के हैं—एक अटक और जेहलम के बीच नमक की पहाड़ियों वाला टुकड़ा, दूसरे कुरुक्षेत्र के बांगर वाला, और तीसरे बिहार और बंगाल के बीच की पहाड़ी मेखला वाला।

उत्तर भारत के खुले मैदान के सब स्थल-मार्गों पर उक्त तीन स्थानों के अतिरिक्त मुख्य रुकावट नदियों की है। प्राचीन काल की सेनाओं और व्यापारियों के लिए तो नदियों की रुकावट बहुत बड़ी थी। हमारे वाङ्मय में उस रुकावट की सब से पुरानी याद राजा सुदास के उपाख्यान में है। सुदास उत्तर पञ्चाल (करीब करीब आधुनिक रुहेलखंड) का राजा था,[1] और उसने रावी (परुष्णी) के किनारे दस राजाओं और

१. प्रा० अ०, पृ० २८०-२८१।

जातियों को, जिनमें आधुनिक पठानों के पूर्वज पक्थ लोग भी थे, इकट्ठे हराया था। किन्तु सतलज (शुतुद्रि) और व्यास (विपाश्) के संगम पर पहुँच कर उसकी सेना को रुक जाना पड़ा था, जब कि विश्वामित्र ऋषि के स्तुति करने से वे दोनों नदियाँ अपने उमड़ते प्रवाह को थाम कर इस प्रकार झुक गईं 'जैसे (बच्चे को दूध) पिलाने के लिए स्त्री झुक जाती है, अथवा पुरुष को आलिंगन करने के लिए कन्या," और सुदास की सेना उनके पार उतर सकी[१]। विश्वामित्र और नदियों की वह मनभावनी बातचीत ऋक् संहिता में सुरक्षित है[२]। बाद के लोगों की कविता में नदियों के देवताओं को रिझाने की वैसी शक्ति नहीं रही, इसलिए उनका रास्ता हमेशा हिमालय की छाँह में चलता हुआ उथले घाटों पर नदियों को पार करना पसन्द करता था। बाल्मीकि रामायण (लगभग ५०० ई० पू०) के वृत्तान्त के अनुसार अयोध्या से जो सन्देशहर भरत के ननिहाल केकय देश (पंजाब के आधुनिक गुजरात, शाहपुर, जेहलम ज़िले) को गये थे, उनके रास्ते पर व्यास नदी के किनारे तक से पहाड़ स्पष्ट दीखते थे। सिकन्दर ने अपनी चढ़ाई में पंजाब की नदियों को हिमालय के निकट ही निकट लाँघा था। अकबर को अपने भाई के विरुद्ध ठीक बरसात के मौसम में काबुल पर चढ़ाई करनी पड़ी थी, इसलिए उस ने अपनी फ़ौज को आगरा से अम्बाला तक ले जा कर लगातार हिमालय के साथ साथ रक्खा था, यहाँ तक कि अमृतसर और लाहौर के मुख्य मार्ग को छोड़ कर गुरदासपुर और स्यालकोट ज़िलों में से गुज़रना उसे पसन्द था।

---

१. निरुक्त २, ७, २-५।
२. मण्डल ३, सूक्त ३३।
३. रामायण २. ६८. १८, दे० परिशिष्ट १ (७ इ)।

नदियों के पत्तनों पर शत्रु की राह छेंकना सदा सुगम होता है, इसी कारण समूचे इतिहास में उन का बड़ा सामरिक महत्त्व रहा है। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जब दो विरोधी सेनायें एक नदी के दोनों तरफ़, कौन पहल करता है इस प्रतीक्षा में एक दूसरे की राह रोके महीनों पड़ी रहीं। पच्छिम तरफ़ से उत्तर भारत के मैदान में आने पर सब से पहले सिन्ध नदी पड़ती है, इसलिए उस के घाटों का विशेष महत्त्व रहा है। प्राचीन काल में उस का मुख्य पत्तन अटक से भी ऊपर उदभाण्डपुर (आधुनिक ओहिन्द, उहन्द या उन्द) था, क्योंकि उन दिनों सिन्ध पार के देशों का रास्ता पेशावर और ख़ैबर हो कर नहीं, प्रत्युत उत्तर तरफ़ दरा मलाकन्द और पुष्करावती हो कर जाता था। नीचे के दूसरे अनेक घाट भी हमेशा काम आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए महमूद गज़नवी गज़नी से सीधे गोमल लाँघ कर डेरा इस्माईलख़ान के ज़रा नीचे भक्खर पर सिन्ध पार करता और उसी रास्ते भारत में जाया करता था जिसे हम ने दक्खिनी राजपथ कहा है। किन्तु शाहजहाँ के समय मुग़लों की कन्दहार जाने वाली सेनायें गोमल या बोलान दरों से जाने के बजाय काबुल होकर ही कन्दहार जाती थीं, अर्थात् उत्तरी रास्ता पकड़ती थीं। आजकल पेशावर जाने के लिए अटक का और कोहाट जाने के लिए खुशालगढ़ का पुल है। उस के नीचे पंजाब में सिन्ध पर कहीं पुल नहीं है। सिन्ध के किनारे किनारे जो रेलपथ गया है, उस में कालाबाग़, दर्याखाँ और ग़ाज़ीघाट पर सर्दियों में नावों के कच्चे पुल बन जाते और गर्मिओं में जहाज़ तथा मोटर लाँच से नदी पार करने का प्रबन्ध रहता है। किन्तु नीचे सिन्ध प्रान्त में सक्खर और कोटरी के दो विशाल पुल हैं जिन पर

सिन्ध के दाहिने तरफ़ का रुक-कराची की रेल का टुकड़ा तथा बिलोचिस्तान की समूची रेल-पद्धति निर्भर है।

अटक और जेहलम के बीच का टुकड़ा उत्तरी राजपथ में एक ख़ास नाकेबन्दी की जगह है। दोनों नदियों के बीच सीधे रास्ते से यहाँ उतना ही अन्तर है जितना फ़िलौर से जगाधरी तक सतलज और जमना में। हिमालय की शृंखला ने यहाँ नमक की पहाड़ियों के रूप में अपनी एक बाँहीं आगे बढ़ा दी है, जिसने जेहलम नदी का रास्ता बाँध दिया है। नमक की पहाड़ियों की यह स्थिति सामरिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। वे पहाड़ियाँ सिन्धसागर दोआब के उपरले आबाद हिस्से को नीचे के ऊजड़ हिस्से या थल से अलग कर देती हैं। उनके ठीक उत्तर तरफ़ हज़ारा ज़िला (प्राचीन उरशा) का और जेहलम के किनारे किनारे कश्मीर-घाटी का भी रास्ता है। हज़ारा ज़िले से दरद-देश की गिलगित-घाटी, उस के पार पामीर और पामीर द्वारा बलख़-बदख़शाँ और चीनी तुर्किस्तान को सीधे रास्ते गये हैं जिनका उल्लेख हिमालय प्रकरण में किया जायगा। प्राचीन काल में पामीर और बदख़शाँ का नाम ही कम्बोज देश था[1] और वह भारतवर्ष की सीमा पर एक शक्तिशाली राष्ट्र था इसी कारण तब उसका सीधा रास्ता देने वाले उरशा का भी बड़ा गौरव था। इस प्रकार पूरबी गान्धार की राजधानी तक्षशिला काबुल कम्बोज और कश्मीर तीनों के रास्तों की जड़ पर थी, और तीनों को काबू करती थी। सिकन्दर को अभिसार देश (कश्मीर की दक्खिन पहाड़ियों में आधुनिक भिम्भर राजौरी पुंच रियासतों) की चिन्ता वहीं करनी पड़ी थी और शेरशाह ने वीर गक्खड़ों के उसी देश में एक तरफ़

१. दे० नीचे, परिशिष्ट १ (?)।

काबुल से हुमायूँ के और दूसरी तरफ़ कश्मीर से मिर्ज़ा हैदर के रास्ते पर नज़र रखने के लिए रोहतासगढ़ की रचना की थी। आज भी भारतवर्ष की सब से बड़ी फ़ौजी छावनी (रावलपिंडी) किसी सम्भावित सिकन्दर के पैरों की आहट को उसी ऐतिहासिक स्थान में सजग सुना करती है। वास्तव में उत्तरपच्छिम के किसी हमले को भारतवर्ष के शासक यदि अफ़गानिस्तान में न रोक सकें तो पहले सिन्ध के घाट पर उसे रोकने की कुछ चेष्टा करेंगे, और यदि वहाँ भी सफल न हों तो पहली बड़ी लड़ाई रावलपिंडी पर ही होगी।

पंजाब की दूसरी नदियों के पत्तनों का गौरव भी कम नहीं है। जेहलम के पत्तन पर ही सिकन्दर और 'पोरस' का जगत्प्रसिद्ध युद्ध हुआ था, और उस युद्ध से पहले दो महीने तक मकदूनिया और केकय देश के राजा एक दूसरे के सामने उस पत्तन पर डेरा डाले पड़े थे। शेरशाह ने दक्खिनपच्छिम पंजाब में कई थानों और किलों की रचना की थी; मुलतान के नीचे चिनाब के ठीक पूरबी तट पर उसके नाम का जो नगर है, यदि वह उसी का किला रहा हो तो उसकी पैनी आँख द्वारा उस स्थान के सामरिक महत्त्व की पहचान भी उतनी ही प्रशंसनीय है जितनी नमक की पहाड़ियों में रोहतास के। रोहतास जैसे उत्तरी राजपथ और वहाँ से सीधे उत्तर जाने वाले कश्मीर-कम्बोज के रास्तों को काबू करता था, शेरशाह थाना वैसे ही गज़नी और कन्दहार से गोमल और बोलान द्वारा आने वाले दक्खिनी राजपथ पर तथा साथ ही साथ सिन्ध के रास्ते पर भी नज़र रखता था। आजकल रोहतास की उत्तराधिकारिणी रावलपिंडी छावनी तथा शेरशाह थाने की मुलतान छावनी है।

पंजाब की आबादी का अन्त सतलज के पूरबी तट पर होता है। ठीक उस जगह दक्खिनी राजपथ पर आज भारतवर्ष का सब से

बड़ा शस्त्रागार फ़ीरोज़पुर में है जहाँ से कुछ दक्खिनपूरब उसी राजपथ पर भटिंडा है। फ़ीरोज़पुर सतलज काँठे के उपरले आबाद हिस्से और निचले बार की ठीक सीमा पर है, दूसरी तरफ़ वह पंजाब की आबादी और भटिंडा कुरुक्षेत्र के बांगर की सीमा पर है। इस प्रकार फ़ीरोज़पुर और भटिंडा एक तरफ़ दिल्ली के राजपथ की और दूसरी तरफ़ सतलज के साथ साथ सिन्ध जाने वाले रास्ते की जड़ पर हैं। इन्हीं केन्द्रों से वे रास्ते भी फटते हैं जो दक्खिनी राजपथ को उत्तरी राजपथ से मध्य पंजाब (लाहौर) द्वाबा[1] (जलंधर) तथा पूरब पंजाब (लुधियाना और राजपुरा) में जोड़ते हैं। भटिंडा राजपूताने की मरुभूमि के भी ठीक सिर पर है। पिछले मुग़ल ज़माने में सिक्ख लोग बादशाही शक्ति के साथ गोरिल्ला-युद्ध करते समय प्रायः उसी के चौगिर्द जंगल को अपना आधार और शरण बनाते और उस में से निकल कर मुख्य रास्तों पर झपटा करते थे।

पंजाब की नदियां पार कर हम कुरुक्षेत्र के बांगर में आ निकलते हैं जो सिन्ध-मैदान और गंगा-मैदान का जलविभाजक है। भारतवर्ष भर में वह शायद सब से प्रसिद्ध नाका है। उस के उत्तर हिमालय है तथा दक्खिन मारवाड़ की मरुभूमि और आड़ावला की उपत्यका के घने जंगल। बीच में मैदान की एक तंग गर्दन सतलज के खादर को जमना के खादर से जोड़ती है। पूरब से पच्छिम या पच्छिम से पूरब जाने वाली सेना के लिए उसी तंग गर्दन में से गुज़रना ज़रूरी है। दक्खिन भारत और पंजाब के बीच भी वही रास्ता देती है। पंजाब और गंगा-काँठे

---

१. पंजाब में केवल 'द्वाबा' कहने से सतलज-ब्यास का दोआब ही समझा जाता है। उसका निचला हिस्सा जलंधर ज़िला है, और उपरला हुशियारपुर ज़िला।

के मैदानों में एकमात्र रुकावट नदियाँ हैं, और नदी के एक घाट से पार न हो सकें तो दूसरे से सही। आगे पीछे ऊपर नीचे बढ़ने और रास्ता बदलने के लिए वहाँ बड़ी गुंजाइश है। पच्छिम से हमला करने वाली शक्ति यदि पूरब की शक्ति को मज़बूत भी पाय तो भी वह सिकन्दर की तरह पंजाब की नदियों के बहाव के साथ साथ दक्खिन तरफ़ झुक सकती है, बशर्ते कि उधर का मार्ग भी वैसा ही रक्षित न हो। किन्तु यदि वह सतलज के पार तक आसानी से उतर आय तो आगे वह किस तरफ़ बढ़ सकती है ? उत्तर तरफ़ हिमालय है। यदि वह सीधे दक्खिन बढ़े तो उसे वही कठिनाइयां झेलनी होंगी जो नागौर-मेड़ता के रास्ते मारवाड़ पर चढ़ाई करते समय शेरशाह को झेलनी पड़ी थीं। शेरशाह जैसा अद्वितीय संगठनकर्त्ता भी तब कह उठा था कि मैं मुट्ठी भर जौ के लिए हिन्दुस्तान का राज गँवाने लगा था ! इस दशा में यदि पूरब की शक्ति बिलकुल नपुंसक नहीं है तो हमला करने वाले के लिए दो ही मार्ग हैं—या तो सिकन्दर की तरह उलटे पाँव पीछे लौट जाय और नहीं तो युद्ध करे। यहाँ जो युद्ध होगा वह उस के और भारत के भाग्य का निर्णय करेगा। यहाँ विजय पाने से उस के लिए गंगा-जमना के खुले मैदान का ही मार्ग न खुल जायगा, विन्ध्यमेखला हो कर दक्खिन जाने वाले मार्गों का पहला दरवाजा भी उसके हाथ आ जायगा।

भारतवर्ष के भाग्य का कितनी बार इस भूमि पर निपटारा हुआ है ! प्रत्येक भारतीय बच्चा भी जानता है कि कौरवों और पाण्डवों का महाभारत-युद्ध कुरुक्षेत्र की इसी भूमि पर हुआ था। किन्तु उस युद्ध में दोनों पक्षों की सेनायें किस किस तरफ़ से बढ़ते हुए यहां एक दूसरे के आमने सामने आ जुटीं सो स्पष्ट करने की कोशिश आज तक नहीं की गई। स्वर्गीय श्रीयुत पार्जीटर ने भारत युद्ध के दोनों पक्षों की भिन्न भिन्न जातियों के स्थान

निश्चित करने का प्रयत्न किया था[१]। वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि कौरवों की तरफ़ प्रायः पंजाब और सिन्ध की सब जातियां और पूरब अर्थात् बिहार बंगाल उड़ीसा की सब जातियां थीं, जब कि पाण्डवों की तरफ़ मुख्यतः उपरले गंगा-काँठे की कुछ जातियां तथा गुजरात-राजपूताना की जातियां थीं। उस शिनाख़्त में पार्जीटर से एक दो ग़लतियाँ भी हो गई हैं। क्षुद्रक और मालव लोग कौरवों की तरफ़ से लड़े थे जिन्हें पार्जीटर ने आधुनिक मालवा का मान लिया था, किन्तु हम पिछले इतिहास से जानते हैं कि क्षुद्रक मालव पंजाब के थे। यदि पार्जीटर की पहचान में यह और ऐसे एक आध और संशोधन कर दिये जाँय तो उनका निकाला हुआ नक़द नतीजा और भी स्पष्ट और पुष्ट हो जाता है। इस प्रकार हम भारत युद्ध की यह व्याख्या करते हैं कि कौरव पक्ष की पूरबी सेनायें और पंजाब की सेनायें पहले परस्पर मिलने के लिए एक दूसरे की तरफ़ बढ़ीं, जब कि पाण्डव सेना ने मत्स्य देश (आधुनिक अलवर) की राजधानी उपप्लव्य से सीधे उत्तर बढ़ कर उन्हें परस्पर मिलने से रोकना चाहा, और इस प्रकार कुरुक्षेत्र में दोनों पक्ष एक दूसरे से जा भिड़े।

ख़ैर, कुरुक्षेत्र के नाके की प्रसिद्धि सुदूर अतीत की उस धुँधली घटना से जितनी है, उतनी ही अर्वाचीन इतिहास के अनेक युद्धों से भी। पृथिवीराज और मुहम्मद ग़ोरी के भाग्य-निर्णायक संग्राम ने तरावड़ी[२] की रक्तरञ्जित भूमि को इतना

---

१. जर्नल औफ़ दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी, १९०८, पृ० ३०९ आदि। आगे इस पत्रिका का निर्देश 'ज० रा० ए० सो०' संकेत से किया जायगा।

२. इतिहास की बहुत सी पुस्तकों में इस स्थान का नाम 'तरैन' लिखा रहता है। तरैन कोई जगह नहीं है, ठीक नाम तरावड़ी है।

प्रसिद्ध कर दिया है कि आज भी कुरुक्षेत्र के जाट किसी पर बहुत ख़फ़ा होते हैं तो उसे तरावड़ी के घाट उतार देने की धमकी देते हैं। बाबर के भाग्य का पहला फ़ैसला हुआ फिर उसी तरावड़ी से तीस मील दक्खिन पानीपत की भूमि में, और दूसरा मथुरा के कुछ ही दक्खिन राजस्थान के पठार के उत्तरी द्वार खानवा में। यदि खानवा में राना सांगा की जीत होती और दोनों पक्षों में लड़ने की शक्ति बची रहती तो पंजाब की तरफ़ भाग निकलने से पहले पानीपत के क़रीब क़रीब कहीं न कहीं हठी बाबर मुँह फेर कर एक बार फिर अपने भाग्य को आजमाता। मराठों और पठानों की लड़ाई ने फिर एक बार उसी पानीपत पर भारतवर्ष के भाग्य का निपटारा किया। उस बार का मुक़ाबला उत्तरपच्छिमी और दक्खिनी शक्तियों में था। मराठों ने अबदाली के पैरों की आहट सुनते ही अटक और लाहौर के किलों से गेरुआ झंडा उतार लिया था, किन्तु वे इतने निर्बल न थे कि पानीपत के दरवाजे को भी बिना लड़े सौंप देते और नर्मदा के घाटों पर शत्रु की प्रतीक्षा करते। उस लड़ाई के फ़ैसले से दोनों पक्षों की शक्ति पर जो प्रभाव हुआ वह शायद देर तक न टिकता, किन्तु उसी समय बंगाल के मैदान से एक नई उठी शक्ति चौकन्नी हो कर उस युद्ध की गति को ताक रही थी, और दोनों पक्षों की क्षीणता में वह वृद्धि का अवसर उसके हाथ लग गया जिससे लाभ उठा कर आज वह भारतवर्ष की मालिक बन चुकी है।

गंगा-काँठे की नदियों के विषय में भी पंजाब की नदियों की तरह समझना चाहिए। दिल्ली, आगरा, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, बनारस, पटना, भागलपुर आदि प्राचीन शहर सब नदियों के किनारे बसे और उनके महत्त्वपूर्ण घाटों को काबू करते हैं। प्राचीन भारतवासी नदियों के संगमों को पवित्र मानते

थे, उनकी उस धारणा की जड़ में शायद सामरिक और व्यापारिक उपयोगिता का ही विचार था। गंगा-जमना-संगम पर प्रयाग, काबुल-स्वात-संगम पर पुष्करावती और सोन-गंगा-संगम पर पटना सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के नाकों को सूचित करते हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र सोन और गंगा के ठीक संगम पर था, आजकल सोन उससे दस मील पच्छिम खसक गया है। अयोध्या और कन्नौज गंगा-मैदान के अन्दर के घाटों पर हैं; कन्नौज कम से कम चार शताब्दियों (सातवीं से दसवीं शताब्दी ई०) तक उत्तर भारत के साम्राज्य का केन्द्र और समूचे भारत का मुख्य नगर था, उसके आधुनिक उत्तराधिकारी कानपुर और फ़र्रुखाबाद हैं। इसी फ़र्रुखाबाद के पास फ़तहगढ़ के किले में सन् १७५० ५१ में मराठों से दबाया जाने पर फ़र्रुखाबाद के नवाब ने शरण ली थी, और १८०४ में लार्ड लेक ने होल्कर का पराभव किया था।

किन्तु गंगा-मैदान के अन्दर के घाटों की अपेक्षा प्रयाग तक जमना और उसकी सहायक धाराओं के तथा नीचे गंगा के उन घाटों का महत्त्व अधिक है जो उसके दक्खिनी छोर पर हैं, और विन्ध्य-मेखला से आने वाले रास्तों को पहले पहल काबू करते हैं, ठीक उस प्रकार जैसे पंजाब के भीतर के घाटों की अपेक्षा सिन्ध नदी के घाटों का विशेष महत्त्व है। आगरा, धौलपुर, कालपी, प्रयाग, चुनार सब इस प्रकार के स्थान हैं। राजपूताना और मालवा दोनों से आने वाले रास्ते आगरा पर जमना पार करते हैं, और कालपी पर उसी प्रकार मालवा और बुन्देलखण्ड के। मुस्लिम युग में कालपी बहुत प्रसिद्ध स्थान रहा है। धौलपुर और चम्बल के दूसरे घाटों पर भी इतिहास की कोई कोई स्मरणीय घटनायें घट चुकी हैं। विद्रोही औरंगज़ेब जसवन्तसिंह को हरा कर जब ग्वालियर तक आ पहुँचा था,

दारा की फ़ौज ने उसके सामने चम्बल के सब घाट रोके हुए थे। एक स्थानीय ज़मींदार से पता पाकर धौलपुर से चालीस मील नीचे एक तुच्छ से घाट पर जहाँ दारा की फ़ौजें न थीं औरंगज़ेब ने नदी को पार किया। उस बीहड़ निर्जल रास्ते से अपनी फ़ौज को ले जा कर औरंगज़ेब ने अपने ५००० सैनिकों का नुकसान कर लिया, किन्तु उतने सैनिकों का नुक़सान उस फल की दृष्टि से महँगा न था जो एक बन्दूक चलाये बिना ही उस ने पा लिया—इसी एक चाल से वह दारा के पीछे आगरा की तरफ़ जा पहुँचा, और दारा को बिना लड़े पीछे भागना पड़ा।

प्राचीन काल में प्रयाग से कुछ ऊपर जमना के बायें आधुनिक कोसम गाँव की जगह कौशाम्बी नगरी थी। पच्छिमी समुद्र के बन्दरगाहों से मालवा होकर आने वाले व्यापारपथ की एक शाखा तब उज्जैन के बाद मथुरा होकर उपरले गंगा-मैदान और पंजाब को तथा दूसरी शाखा कौशाम्बी होकर बिचले गंगा-मैदान को जाती थीं। कौशाम्बी के नीचे जमना गंगा में जलमार्ग भी चलता था। इस प्रकार मथुरा और कौशाम्बी दोनों तब बड़ी समृद्ध नगरियाँ थीं। प्रयाग अब न केवल कौशाम्बी का उत्तराधिकारी, प्रत्युत गंगा मैदान के ठीक केन्द्र की जगह भी है। फ़ीरोज़पुर के बाद भारतवर्ष का दूसरा शस्त्रागार आज वहीं है। किन्तु जलमार्ग का उपरला छोर अब कौशाम्बी के बजाय बक्सर तक रह गया है, जिससे एक अंश में प्रयाग का व्यापारिक गौरव कुछ घट गया है। चुनार बघेलखण्ड के ठीक रास्ते पर है।

बंगाल और उपरले गंगा-मैदान की शक्तियाँ जब एक दूसरे पर लपकती हैं, स्वभावतः बक्सर की भूमि पर उनकी टक्कर लगती है, कारण कि बक्सर के बाद गंगा विशाल रूप धारण कर लेती है, और यदि जल का रास्ता न पकड़ना हो तो वहीं गंगा को पार कर लेना चाहिए—गंगा के बायें बायें भी बंगाल पहुँचा जा

सकता है, किन्तु उसमें चक्कर पड़ना है, और दूसरे, बंगाल की शक्ति जब आगे बढ़ेगी तो दक्खिन तरफ़ से ही बढ़ेगी क्योंकि वह रास्ता पहाड़ों के कारण सुरक्षित और छोटा है। बक्सर के पास कर्मनाशा की तुच्छ धारा के किनारे चौसा पर हुमायूं और शेरखाँ की टक्कर हुई थी और उसी बक्सर पर क्लाइव ने बादशाही फ़ौजों को नीचा दिखाया था।

पटना के विषय में अभी कह चुके हैं। मगध (दक्खिन बिहार) के शैशुनाक राजाओं की राजधानी पहले गंगा के दक्खिन पहाड़ों में राजगृह थी; किन्तु राजा उदयी ने गंगा के किनारे पाटलिपुत्र का किला इसीलिए बनाया था जिससे गंगा के घाट को काबू कर उस पार के वृजियों के देश को वह दबाये रख सके।

पटना के बाद दक्खिन बिहार के पहाड़ों की श्रृङ्खला गंगा के साथ साथ बंगाल के किनारे तक इस प्रकार चली गई है जिससे बिहार बंगाल के बीच के राजपथ को मैदान की एक तंग गर्दन में से गुज़रना पड़ता है, और इस प्रकार वहाँ पंजाब की नमक-पहाड़ियों वाले टुकड़े की तरह एक अच्छी नाकाबन्दी की जगह बन गई है। मुंगेर ज़िले में खड्गपुर की पहाड़ियाँ गंगा के सिर्फ़ छः मील दक्खिन हैं, ६० मील पूरब तेलियागढ़ी पर उनका अन्तर केवल अढ़ाई मील रह गया है। यदि आमने सामने से दो सेनायें इस रास्ते से आती हों तो कोई भी पहाड़ों का चक्कर लगाये बिना या गंगा पार किये बिना दूसरी के पीछे अचानक नहीं पहुँच सकती। खड़गपुर-पहाड़ियों के पास सूरजगढ़ पर शेरख़ां ने थोड़े से सवारों के साथ बंगाल के शाह की फ़ौज को रोका और हराया था, और उसी स्थान पर उसके वंशज अदाली सूर ने अपना राजमुकुट खोया था। किन्तु हुमायूं के साथ लड़ाई होने पर शेरख़ां इन पहाड़ों का चक्कर लगा कर

झाड़खंड के रास्ते गौड़ से रोहतासगढ़ आ निकला था। शुजा का पीछा करते समय मीर जुमला ने भी उसी प्रकार मुंगेर के किले से बचने के लिए खड़गपुर पहाड़ियों का चक्कर लगाया था। आजकल बिहार-बंगाल के बीच की उसी पहाड़ी गर्दन में मुंगेर के पास जमालपुर में ईस्ट इंडियन रेलवे का भारी कारखाना है।

निचले गंगा-काँठे तथा सुरमा और ब्रह्मपुत्र-काँठों के स्थल और जल-मार्गों का उल्लेख कर चुके हैं। वहाँ की नदियां चौमासे में अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लेती हैं। पूर्वी बंगाल और आसाम तो उस समय प्रायः उथला समुद्र सा होता है जिस में गाँव और झोंपड़े द्वीप से दिखाई देते हैं और प्रत्येक किसान के लिए नाव उतनी ही आवश्यक होती है जितना हल। बख्तियार खिलजी ने उतावलेपन में जब भूटान पर चढ़ाई कर दी थी, उसे शिक्षा देने में भूटानियों ने बरसाती नदियों का अच्छा उपयोग किया था। उसका वृत्तान्त आज ठीक ठीक नहीं मिलता, पर औरंगज़ेबी फ़ौजों की आसाम की चढ़ाई की कहानी पूरी मौजूद है। पीछे कह चुके हैं कि बंगाल से आसाम जाने के मैदान के रास्ते केवल दो हैं, या तो उत्तर में कूचबिहार से ब्रह्मपुत्र के उत्तर उत्तर, और या ढाका से ब्रह्मपुत्र के पूरब चलते हुए गारो पहाड़ियों का चक्कर लगा कर। इन पहाड़ियों और नदी का अन्तर बहुत ही थोड़ा होने से पहाड़ियों को पार करने के सिवाय और कोई तीसरा मार्ग नहीं है। उत्तर तरफ़ हिमालय से संकोश, मनास, बड़ नदी, भरेली आदि धाराएँ आकर ब्रह्मपुत्र में मिलती हैं, दक्खिन तरफ़ गारो खसिया और नागा पहाड़ियों में से भी वैसी ही अनेक धाराएँ आती हैं। बरसात में वे सब उग्र रूप धारण कर दोनों स्थल-मार्गों को रोक देती हैं, और ब्रह्मपुत्र के जलमार्ग पर जिस संता

का अधिकार न हो उसके लिए मरने के सिवाय कोई चारा नहीं छोड़तीं। मीर जुमला की फौजें जो दिहिंग नदी के किनारे गढ़-गाँव तक पहुँच चुकी थीं, चौमासा आने पर पानी में इस प्रकार घिर गईं थीं कि उनका प्रत्येक थाना खुले समुद्र में उठा हुआ द्वीप सा दिखाई देता, चारों तरफ़ के खेत झीलें मालूम होते और कभी कभी तो तम्बुओं में घुटनों तक पानी आ जाता जिसमें सैनिकों और घोड़ों को खड़े बितानी पड़ती! उस दुर्दशा से उनको यदि कोई बचा सका तो वह इब्न हुसैन की जलसेना थी।

विज्ञान के सहारे मनुष्य प्रकृति को दिन-ब-दिन अधिक अधिक अपने बस में करता जाता है। इसीलिए आधुनिक विज्ञान की पैदा की हुई अवस्थाओं में प्राकृतिक रुकावटों का उतना प्रभाव नहीं रहा। खास नाकाबन्दी की जगहों पर पुराने ज़माने में किले बना लिए जाते थे, जिनके 'अन्दर का एक तीरन्दाज' मनुस्मृति के शब्दों में बाहर के 'सौ आदमियों का मुकाबला कर सकता था'[1]। आजकल की लम्बी मार की तोपों के सामने किलों की कुछ भी कीमत नहीं रह गई। विन्सेन्ट स्मिथ ने बड़े मनोरंजक शब्दों में इस परिवर्तन का यों वर्णन किया है—"आधुनिक विज्ञान की प्रगति ने केवल पर्वतों, नदियों और जंगलों की प्राकृतिक बाधाओं का ही राजनैतिक और सामरिक मूल्य नष्ट नहीं कर दिया. उसने उन प्राचीन क़िलों को भी निरर्थक बना दिया है जो अभेद्य समझे जाया करते थे और प्रायः आक्रमण की अपेक्षा रिश्वत से अधिक जीते जाते थे। खानदेश में असीरगढ़ ने जो सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों में संसार का एक आश्चर्य समझा जाता था, यहां तक कि उससे 'ज्यादा मज़बूत किले की कल्पना

१. मनुस्मृति ७, ७४।

करना असम्भव' था अकबर की शस्त्रशक्ति का पराभव किया था और केवल उसके रुपये से ही काबू आया था। आज वह ऊजड़ पड़ा है. एक भी सैनिक उसकी रक्षा नहीं करता। लार्ड डफ़रिन ने जब ग्वालियर का किला लौटा दे कर शिन्दे को सम्मानित करने का निश्चय किया, साम्राज्य की रक्षा को उस दान से ज़रा भी ख़तरा न था। दक्खिन की पहाड़ी चोटियों पर के असंख्य गढ़ जिनके सामने औरंगज़ेब ने कितने ही बरस गवाये थे, अब किसी भी तमाशबीन के देखने को खुले पड़े हैं... किलों के घेरे जो आरम्भिक इतिहास में इतना स्थान भरते हैं अब आगे कभी न होंगे[१]।"

क़िलों के विषय में निःसन्देह यह सब बात ठीक है, किन्तु यह सोचना ग़लत होगा कि 'आधुनिक विज्ञान ने पर्वतों, नदियों और जंगलों की प्राकृतिक बाधाओं का राजनैतिक और सामरिक मूल्य' बिलकुल 'नष्ट कर दिया है'। दक्खिन की पहाड़ी चोटियों के गढ़ आज भले ही तमाशबीनों के लिए खुले पड़े हों, फ़ीरोज़पुर इलाहाबाद और रावलपिंडी के किले जिनके तहख़ानों में आधुनिक शस्त्रागार हैं, उसी तरह खुले नहीं रहते। सच बात यह है कि भौतिक अवस्थाओं का प्रभाव आज कुछ परिवर्तित रूप से होता है। स्मिथ खुद ही कहते हैं कि आधुनिक सेनापति एक अत्यन्त दुर्गम गढ़ की अपेक्षा एक रेलवे-संगम (जंक्शन) की बहुत अधिक चिन्ता करते हैं। पर रेलवे के संगमों की स्थिति भौतिक अवस्थाओं पर निर्भर नहीं होती, यह कहने का क्या कोई साहस कर सकता है? रास्ते के संगम या चौराहे वहीं बनते हैं जहां भिन्न भिन्न रास्ते फटते हों, और रास्तों का विभिन्न दिशाओं में

१. ऑक्सफ़र्ड हिस्टरी ऑफ़ इंडिया, दूसरा संस्करण (१९२३), भूमिका, पृ० ६-७।

जाना देश की प्राकृतिक अवस्थाओं और आबादी पर निर्भर होता है।

आजकल की रेलवे-लाइनों की बनावट में भौतिक अवस्थाओं का जो प्रभाव है, उसको हम ऊपर जगह जगह देखते आये हैं। सन् १९२० की पंजाब की रेलवे हड़ताल के समय लाहौर में हड़तालियों को पूरी सफलता हुई, पर उसका विशेष फल न हुआ था। कराची से आने वाली डाक तब रायविंड से कसूर होकर अमृतसर जा सकती थी, और खानेवाल शोरकोट के रास्ते अमृतसर का वज़ीराबाद और पेशावर से सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु उस समय यदि लाहौर के साथ साथ केवल लोधरां और खानेवाल में भी वैसी ही पूरी हड़ताल हो जाती तो उत्तरपच्छिम पंजाब और सीमा-प्रान्त का समूचे भारत से रेलवे-सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता[1]। लुधियाना भटिंडा और समासट्टा अथवा अम्बाला दिल्ली और समासट्टा में पूरी हड़ताल हो जाने से समूचे पंजाब और सीमाप्रान्त की रेलवे-पद्धति बाकी भारतवर्ष से अलग हो जाती है। पच्छिमी सिन्ध और बिलोचिस्तान की समूची रेल-पद्धति सक्खर और कोटरी के दो पुलों पर निर्भर हैं जिनके बिना उनकी दशा बेपेंदी के लोटे की हो सकती है। समासट्टा और लूनी के रुक जाने से उसका दूर का आधार भी टूट सकता है। झोब-घाटी में हाल में हिन्दूबाग़ से फ़ोर्ट संडेमन (अप्पोज़ई) तक रेलवे बन गई है। फ़ोर्ट सन्डेमन के दर्याखां के साथ लोहे की पटरी से जुड़ जाने पर उसका पंजाब से सीधा सम्बन्ध हो जायगा।

पिछले जर्मन युद्ध के समय सन् १९१५ में यतीन्द्र मुखर्जी और अन्य बंगाली क्रान्तिकारियों ने, जिनके लिए जर्मन सरकार

१. आजकल यदि वही बात हो तो लाहौर लोधरां और खानेवाल के साथ नारोवाल को भी गिनना होगा।

ने अमेरिका से अस्त्र-शस्त्र का एक जहाज़ रवाना कर दिया था, लगभग उसी तरह जैसे शेरख़ां ने पौने चार सौ बरस पहले किया था बंगाल को दूसरे प्रान्तों से कुछ समय के लिए अलग कर उसमें बलवे का झंडा उठाने और उस अवसर में अपनी शक्ति संगठित कर लेने की तैयारी कर ही डाली थी। जर्मन जहाज बटाविया [जावा] में पकड़ा गया, और वह योजना भी ठीक समय से कुछ ही पहले पकड़ी गई। किन्तु उस समय बंगाल में सरकारी सेना वास्तव में बहुत कम थी, और यदि वह योजना खुल न जाती तो बृटिश साम्राज्य के लिए एक वास्तविक खतरा उपस्थित हो जाता[१]।

आधुनिक विज्ञान ने जहाँ रचना की बड़ी बड़ी सामग्री उपस्थित की हैं वहाँ संहार की सामग्री भी कुछ कम तैयार नहीं की। आधुनिक युद्ध में देश का समूचा व्यावसायिक और यातायात संगठन—उसकी सड़कों, उसके रेलपथों, उसके वाहनों, उसके कल-कारख़ानों का समूचा आयोजन—काम आता है। वह तमाम आयोजन देश की प्राकृतिक अवस्थाओं पर निर्भर नहीं होता, यह कोई ज़िम्मेदार समाज शास्त्री न कह सकेगा। फलतः भौतिक अवस्थायें आज एक दूसरे ढंग से इतिहास पर प्रभाव करती हैं—देश का समूचा व्यावसायिक संगठन पथ-पद्धति और यातायात उन पर निर्भर रहता है, और ये सब वस्तुएँ भावी इतिहास का रास्ता बनायेंगी। किन्तु उन सब अवस्थाओं का उपयोग करने वाला मनुष्य है, और आज उसका प्रकृति पर अधिकार पहले से बहुत अधिक है, इसमें सन्देह नहीं।

———

१. रौलट कमिटी की रिपोर्ट, अध्याय सातवां।

तीसरा प्रकरण

विन्ध्यमेखला

§७. पर्वत पानी और प्रदेश—भौगोलिक निरूपण

विन्ध्यमेखला की सीमाओं का निर्देश किया जा चुका है। नर्मदा और सोन नदियों की घाटियों ने उसे दो फाँकों में बाँट दिया है। राजपूताना-मालवा के पहाड़ तथा भानरेड़, पन्ना और कैमोर-शृंखलायें उनके उत्तर रह गई हैं, और सातपुड़ा, गवाल-गढ़, महादेव, मेकल, हजारीबाग, राजमहल शृंखलायें दक्खिन।

प्राचीन काल में इस समूची पर्वतमाला का विभाग इस प्रकार किया जाता था कि पार्वती और बनास से लेकर बेतवा तक कुल नदियों का निकास जिस हिस्से से हुआ है उसे पारियात्र पर्वत कहते थे; उसका पूरबी बढ़ाव जिससे कि बेनवा की पूरबी शाखा ढसान (दशार्णा) केन और टोंस आदि नदियों का निकास हुआ है वह विन्ध्यपर्वत कहलाता था; और उन दोनों के दक्खिन तापी और वेणगंगा से लेकर उड़ीसा की वैतरणी नदी तक जिस के चरण धोती हैं वह ऋक्ष पर्वत था[1]। अर्थात् इस दोहरी पर्वत-

---

१. वायुपुराण, प्रथम खंड, ४५, ९७–१०३; विष्णु पु०, द्वितीय खंड, ३, १०–११; मार्कण्डेय पुराण, ५७, १९–२५। इस सन्दर्भ में बहुत पाठभेद और गोलमाल भी है; वायु का पाठ दूसरों से अधिक विस्तृत और शुद्ध है, विष्णु का बहुत संक्षिप्त। किन्तु वायु कूर्म और वराह में पूरबी भाग का नाम ऋक्ष और दक्खिनी का विन्ध्य है, जब कि विष्णु में उससे उलटा है, मार्कण्डेय में पूरबी का नाम स्कन्ध और

माला के उत्तरी हिस्से में पच्छिमी खण्ड पारियात्र और पूर्व विन्ध्य तथा समूचा दक्खिनी हिस्सा ऋक्ष है जिसे पारियात्र से नर्मदा की और विन्ध्य से सोन की घाटी अलग कर देती है। आजकल हम इन तीनों पर्वतों को मिला कर विन्ध्य-मेखला कहते हैं, और जब इस शब्द का प्रयोग भारतवर्ष के बीच के विभाग के अर्थ में करते हैं तब बनास नदी से उत्तर आड़ावला की समूची शृंखला को भी इसी में गिनते हैं। उसके अतिरिक्त गुजरात का रम्य मैदान इसी विन्ध्य-मेखला की बगल में रह जाता है, वह न उत्तर भारत में है, न दक्खिन में, और विन्ध्यमेखला के साथ लगा होने के कारण उसकी गिनती भी हम उसी विभाग में करते हैं।

दक्खिनी का विन्ध्य दिया है। वास्तव में विष्णु का पाठ ठीक है, क्योंकि अब तक 'विन्दाचल' मिर्ज़ापुर के पास है, और नलोपाख्यान में दक्खिनी शृंखला का नाम ऋक्ष है। नामों से अधिक महत्व की बात तीन हिस्सों में बांटने की है; उस अंश में भी थोड़ा गोलमाल है, क्योंकि दसान और टोंस के साथ सोन महानदी और नर्मदा का स्रोत भी पूरबी शृंखला में रक्खा गया है। आजकल जिसे महानदी की मुख्य धारा माना जाता है वह तो कांकेर के पास छत्तीसगढ़ में शुरू होती है, उसका और नर्मदा तथा सोन का स्रोत तो एक कहा ही नहीं जा सकता; इसलिए महानदी से उसकी उत्तरी धारा हस्दो या सोन की एक उस नाम की शाखा समझनी चाहिए। इतनी सफ़ाई करने के बाद भी नर्मदा, सोन और महानदी का स्रोत तथा दसान आदि का स्रोत एक नहीं कहला सकता, क्योंकि उक्त तीन बड़ी नदियां अमरकण्टक के पास से निकली हैं जो आधुनिक दृष्टि से दक्खिनी शृंखला में हैं न कि पूरबी में—अर्थात् ऋक्ष में न कि विन्ध्य में। ऊपर जो लिखा गया है वह प्राचीन विचार की आधुनिक संशोधित व्याख्या है।

समूची विन्ध्यमेखला के पच्छिम से पूरब गुजरात के अतिरिक्त पाँच टुकड़े हैं। पहला राजपूताना, जो चम्बल नदी से पच्छिम का आड़ावला के चौगिर्द का प्रदेश है। थर की मरुभूमि उसका पच्छिमी छोर है जो उसे सिन्ध से अलग करता है। थर सिन्धी शब्द है, राजस्थानी में उसी मरुभूमि को ढाट कहते हैं, और वह ढाट भी पच्छिमी राजपूताने या मारवाड़ का अंग है। लूनी नदी का अकेला काँठा और पूरब तरफ़ बनास (पर्णाशा) का काँठा भी उसी में सम्मिलित हैं। दूसरा मालवा का पठार, अर्थात् चम्बल (चर्मण्वती) से सिन्ध तक प्रदेश, तथा उसके ठीक दक्खिन नर्मदा की बिचली घाटी और सातपुड़ा शृङ्खला का पूरबी भाग बुरहानपुर के ऊपर तक आड़ावला के सिवाय समूची विन्ध्यमेखला का सब से पच्छिमी खण्ड मालवा ही है, जिसमें दसोर[1] (मन्दसोर), उज्जैन, धार, इन्दौर, भूपाल, भिलसा आदि प्रसिद्ध प्राचीन नगर हैं। राजपूताना और मालवा की बगल में गुजरात है। तीसरा प्रदेश बुन्देलखण्ड है जिसमें बेतवा (वेत्रवती) धसान (दशार्णा) और केन (शुक्तिमती) के काँठे, नर्मदा की उपरली घाटी और पचमढ़ी से अमरकण्टक तक ऋक्ष पर्वत का हिस्सा सम्मिलित है। उसकी पूरबी सीमा टोंस (तमसा) नदी है। उसके पूरब सोन नदी का काँठा, जहाँ वह पच्छिम से पूरब बहती है, बघेलखण्ड है। बघेलखण्ड के दक्खिन मेकल शृङ्खला के अमरकण्टक पहाड़ की छाँह में महानदी के उपरले प्रवाह पर छत्तीसगढ़ का नीचा पठार है। बघेलखण्ड-छत्तीसगढ़ को मिला कर हम विन्ध्यमेखला का चौथा प्रदेश कहते हैं। उसके पूरब पारसनाथ पर्वत तक झाड़-

१. प्राचीन दशपुर का स्थानीय नाम आजकल दसोर है, किन्तु फ़ारसी वाले उसे मंदसोर लिखते थे जिससे नक़्शों में वही नाम चल पड़ा है।

खण्ड या छोटा नागपुर है जो उस मेखला का पाँचवाँ प्रदेश है। झाड़खण्ड में ऋक्ष पर्वत का जो अंश है, उसे आजकल हजारीबागशृङ्खला कहते हैं। पूरब तरफ़ जाते हुए उस की भी दो फाँकें हो गई हैं जिनके बीचोंबीच दामोदर नदी बहती है। उत्तर की फाँक से हज़ारीबाग का पठार बना है, और दक्खिन की से राँची का। इन दोनों पठारों के मिलने से झाड़खण्ड या छोटा नागपुर प्रदेश बनता है।

राँची का पठार एक नीची पहाड़ी गर्दन द्वारा मयूरभंज और केंदूझर के पहाड़ों से, जिनमें वैतरणी के स्रोत हैं, जुड़ा हुआ है। प्राचीन परिभाषा के अनुसार वैतरणी भी ऋक्ष पर्वत से निकली गिनी जाती थी, उस हिसाब से मयूरभंज और केंदूझर के पहाड़ों को भी विन्ध्यमेखला में गिनना होगा।

§ ८. पैदावार और धन-सम्पत्ति—आर्थिक दिग्दर्शन

गुजरात के सिवाय समूची विन्ध्यमेखला मुख्यतः पहाड़ और जंगल का प्रदेश है। स्पष्ट है कि खेती की उपज में वह उत्तर भारतीय मैदान का मुकाबला नहीं कर सकती। गुजरात का उपरला भाग, विशेषतः कच्छ, भी राजस्थान की मरुभूमि से मिलता है। काठियावाड़ भी लगभग सूखा है यद्यपि वह अपनी छोटी छोटी धाराओं के लिए प्रसिद्ध है[1]। किन्तु साबरमती, मही, रेवा (नर्मदा) और तापी के काँठों की भूमि गंगा-जमना-दोआब की तरह सुजला, सुफला, शस्यश्यामला है। नर्मदा और तापी के बीच और दक्खिन भरुच-सूरत के मैदान का तंग टुकड़ा

---

१. पंच रत्नानि सौराष्ट्रे नदी नारी तुरङ्गमः।
चतुर्थः सोमनाथश्च पंचमं हरिदर्शनम्।
(रासमाला में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक)

अत्यन्त उपजाऊ काली मट्टी का बना है। पहाड़ों के चरणों में रहने के कारण वह तंग मैदान भी सपाट, खुला और समथर नहीं, प्रत्युत टूटा फूटा, ऊँचा नीचा और ऊबड़खाबड़ है।

उत्तर भारतीय मैदान की तरह विन्ध्यमेखला के भी पच्छिमी भाग में पूरबी भाग से कम पानी पड़ता है और उस से पूर्वोक्त प्रभाव होते हैं। इसलिए पूरबी भाग में बहुत घने जंगल हैं; और जहाँ खेती है वहां धान होता है। पच्छिमी भाग की खेती में थोड़ा बहुत गेहूँ होता है, पर मुख्य उपज जौ, बाजरा, ज्वार, मक्की आदि हैं जिन्हें थोड़े पानी की ज़रूरत होती है। राजपूताना और मालवा के भोजन में भी इन चीजों की प्रधानता है. गुजरात में इनके साथ साथ चावल भी है। विन्ध्यमेखला के जंगलों अथवा "अटवियों" की प्राचीन इतिहास में बड़ी प्रसिद्धि रही है, उन अटवियों के सामरिक और राजनैतिक प्रभावों का हम अलग उल्लेख करेंगे। किन्तु विन्ध्याटवी की उस सब वानस्पतिक और जान्तिवक उपज का जो जंगलों में पायी जाती है उत्तर भारत के आर्थिक जीवन में विशेष महत्त्व रहा है। भागलपुर के पड़ोस के दक्खिन विहार के जंगलों में टसर का कोया बड़ी मात्रा में पैदा होता है। राजपूताना उसी प्रकार अपनी ऊन के लिए प्रसिद्ध है; वहां ब्यावर ऊन की भारी मंडी है।

किन्तु विन्ध्यमेखला की मुख्य सम्पत्ति खनिज रही है। भूगर्भ के विकास में संसार की सब से पुरानी रचनाओं में से होने के कारण उस में अनेक प्रकार के इमारती और कीमती पत्थर तथा अन्य खनिज पदार्थ हमेशा से पाये जाते रहे हैं। अशोक के सब स्तम्भ और स्तूप चुनार के बालू पत्थर के हैं, गुप्त सम्राटों के समय की रचनायें आगरे की तरफ़ के लाल पत्थर की हैं जिससे अकबर के फ़तहपुर सीकरी के महल भी बने हैं। मुग़ल-काल में मकराना की संगमरमर की खानें खुली हुईं

थीं और आगरा के ताजमहल में उन्हीं का पत्थर लगा है। उत्तर भारत की तमाम ऐतिहासिक इमारतों की सामग्री इस प्रकार विन्ध्यमेखला से आई है। उसके कीमती पत्थरों का इतिहास भी पुराना है।

आधुनिक युग में विन्ध्य की खानों से वैसे अनेक पदार्थ निकाले जा रहे हैं जिनका उपयोग पुराने लोग नहीं जानते थे। विन्ध्यमेखला के सब से जंगली भाग झाड़खंड या छोटा नागपुर में कोयले की खानें काफ़ी हैं और आधुनिक बिजली के व्यवसाय की एक अन्य आवश्यक वस्तु-अभ्रक-की सम्पत्ति में तो उसका संसार भर में प्रमुख स्थान है। भारतवर्ष का एक मात्र फौलाद का कारखाना —जमशेदपुर का—झाड़खंड में ही है।

साँभर का नमक प्राचीन काल से प्रसिद्ध है, यद्यपि वह सेंधा नमक जितना अच्छा नहीं होता।

२६. पथपद्धति और ऐतिहासिक पर्यालोचन

विन्ध्यमेखला की भूगर्भ रचना और खनिज सम्पत्ति के कारण जहां उसका व्यावसायिक महत्त्व है, वहां उसकी भौगालिक स्थिति के कारण उसका व्यापारिक महत्त्व भी बड़ा है। एक तरफ़ पच्छिमी समुद्र और दक्खिन भारत तथा दूसरी तरफ़ गंगा सिन्धु काँठों के वह ठीक बीच पड़ता है, उनका समूचा पारस्परिक वाणिज्य व्यापार विन्ध्यमेखला में से होकर ही गुज़रता है। इसी कारण प्राचीन काल से उसके रास्तों का बड़ा सामरिक और व्यापारिक गौरव रहा है। उसके मुख्य रास्तों का रुख उसकी चौड़ाई के आर पार, उत्तर भारतीय राजपथों से उलटा, उत्तर दक्खिन है। पच्छिम से पूरब उस प्रकार के चार पांच प्रसिद्ध राजपथ हैं जिनका दिग्दर्शन अब हमें करना है।

सिन्ध और गुजरात के बीच मारवाड़ का थर और कच्छ का रन पड़ता है। रन 'अरण्य' का अपभ्रंश है, और गुजराती में वह अरण्य अर्थात् जंगल का समानार्थक है। कच्छ का रन पानी बढ़ने पर उथला समुद्र हो जाता है, अन्यथा वह दलदल और उथले पानी में उगा हुआ झाड़ियों का जंगल है। इस प्रकार सिन्ध और गुजरात के बीच का सीधा स्थल-मार्ग बड़ा बीहड़ है। पंजाब से गुजरात आने को सिन्ध के बजाय देहली और राजपूताना या मालवा में से हो कर ही ठीक रास्ता है। तो भी सिन्ध और गुजरात के बीच सेनाओं का आना जाना होता रहा है। पहली शताब्दी ई० पू० में गुजरात और मालवा पर शकों का आक्रमण सिन्ध से ही हुआ था; दूसरी शताब्दी ई० में फिर रुद्रदामा शक के राज्य में सिन्धु-सौवीर सुराष्ट्र काठियावाड़) और अवन्ति-आकर (मालवा) के साथ सम्मिलित था। उज्जैन के उन शकों के राज्य के उत्तराधिकारी चौथी शताब्दी ई० में गुप्त सम्राट् हो गये; उनके शासन में सुराष्ट्र निश्चय से था, और राजपूताना भी बीकानेर के करीब तक था, किन्तु सिन्धु सौवीर के उनकी सत्ता में रहने का कोई प्रमाण नहीं मिला। छठी शताब्दी के शुरू में उज्जैन में गुप्तों का उत्तराधिकारी यशोधर्मा था, और उस की सत्ता सिन्ध मे भी थी ऐसा मानने के लिए कुछ प्रमाण हैं[1]। उसके बाद प्रभाकरवर्धन और हर्षवर्धन ने यदि सिन्ध जीता भी होगा[2] तो पंजाब की तरफ़ से। अरब लोगों के सिन्ध

---

१. जर्नल औफ़ दि बिहार ऐण्ड उडीसा रिसर्च सासाइटी (आगे संकेत—ज० बि० ओ० रि० सो०) १९२०, पृ० ३२७–३२८।

२. हर्षचरित, पृ० १२०, प्रभाकरवर्धन 'सिन्धुराजज्वरः' पृ० ९०–९१, हर्षवर्धन के विषय में—अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीया कृता। इस मध्यकाल में भी सिन्धु का अर्थ डेराजात था या सिन्ध सो कहना कठिन है, शायद डेराजात ही था।

जीतने (७१२ ई०) से ठीक पहले सिन्ध और चित्तौड़ में एक ही वंश की शाखायें राज्य करती थीं, जिससे थर के बीहड़ रास्ते दोनों प्रदेशों का परस्पर सम्बन्ध दीख पड़ता है। अरब लोगों ने सिन्ध की तरफ़ से गुजरात और दक्खिन पर चढ़ाई करने की अनेक विफल चेष्टायें कीं, किन्तु उनकी विफलता का कारण रास्ते की कठिनाइयों के बजाय भिन्नमाल (पच्छिमी राजपूताने में) का मज़बूत राज्य था। महमूद गज़नवी ने फिर सिन्ध और मारवाड़ के रास्ते ही सोमनाथ पर चढ़ाई की। किन्तु वह एक असाधारण सेनापति था, और उसकी नकल करते हुए जब शहाबुद्दीन ग़ोरी ने भी सन् ११७८ में देहली-राजपूताना लिये बिना सिन्ध की तरफ़ से गुजरात पर उतावलेपन में हमला किया, तब उसे नाबालिग राजा मूलराज दूसरे की माँ की अधिनायकता में गुजराती सेना ने बुरी तरह हराया, और उस की बहुत सी फ़ौज को क़ैद कर लिया था।

समूचे मध्यकालीन इतिहास में हम राजपूतों की अनेक जातियों को सिन्ध से काठियावाड़ और काठियावाड़ से सिन्ध जाता पाते हैं[1]। काठियावाड़ के सम्मा और चूड़ासमा राजपूत तथा सिन्ध के जाम वास्तव में एक ही वंश के थे। सिन्ध, कच्छ और काठियावाड़ की इस अनेक अंशों की जातिगत समानता से सिद्ध होता है कि थर और रन मनुष्यों के प्रवास के रास्ते में असाध्य कठिनाइयाँ नहीं उपस्थित कर पाते। किन्तु सिन्ध और सुराष्ट्र के उक्त सम्बन्ध का एक बड़ा अंश समुद्र द्वारा रहा हो सकता है। अर्वाचीन इतिहास में हुमायूं ने सिन्ध के रास्ते गुजरात आ कर अपना राज्य वापिस लेने का इरादा बाँधा, किन्तु वह कभी सफल नहीं हुआ।

---

१. दे० मेरा लेख 'मण्डलीक काव्य', ना० प्र० पत्रिका, ३, पृ० ३६५-३६९।

उक्त सब दिग्दर्शन का नकद नतीजा यह निकलता है कि सिन्ध की तरफ़ से गुजरात पर चढ़ाई करना असाध्य न होते हुए भी बहुत कठिन है। राजपूताना और मालवा को भली प्रकार हथियाये बिना उत्तर भारत की कोई शक्ति गुजरात पर हाथ नहीं बढ़ा सकती। उत्तर भारत के विस्तार और उपजाऊपन के कारण उस में साम्राज्य सदा स्थापित होते रहे हैं, उन साम्राज्यों को अपने दक्खिनी छोर की रक्षा के लिए विन्ध्यमेखला के बड़े अंश पर सदा अधिकार करना पड़ता रहा है, और जब जब उन के हाथ में राजपूताना या मालवा आ जाता रहा तब तब अपने सामुद्रिक व्यापार और उपजाऊ भूमि के कारण धनी गुजरात को दखल करने का प्रलोभन रोकना उनके लिए असम्भव होता रहा। किन्तु तो भी गुजरात उनके लिए सदा दूर का प्रान्त होता था। वह उत्तर भारत के साम्राज्य में सब से पीछे सम्मिलित होने और साम्राज्य के टूटने के समय सब से पहले अलग होने वाला प्रान्त होता था। मौर्य, गुप्त और वर्धन साम्राज्यों के विनाश की कहानी पूर्ण नहीं है, पर इतनी बात उनमें स्पष्ट दीख पड़ती है। दसवीं शताब्दी में कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य से सब से पहले अलग होने वाला प्रान्त गुजरात ही था। ९१६ ई० में राष्ट्रकूट राजा इन्द्र ने कन्नौज के महीपाल को हराया, और उसके २५-२६ साल बाद हम गुजरात के शासक मूलराज सोलंकी को स्वतंत्र हुआ पाते हैं। वही कहानी फिर 'पठान' और मुग़ल साम्राज्यों के इतिहास में दोहराई गई।

किन्तु उत्तर की तरह दक्खिन के विजेताओं के लिए भी गुजरात खुला रहा है। सातवीं शताब्दी से सोलंकियों[1], फिर

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १, पृ० २०७ आदि। श्रद्धेय ओझा जी ने इतिहास के ये जो छोटे छोटे टुकड़े इकट्ठे किये हैं, उनमें सोलंकियों के दक्खिन से गुजरात जाने की सामान्य घटना स्पष्टतः सिद्ध होती है।

राष्ट्रकूटों और अठारहवीं सदी में मराठों के दक्खिन से बढ़े प्रवाह उसके उदाहरण हैं।

सिन्ध से गुजरात के रास्ते की चर्चा करते हुए हम ने राजपूताना और मालवा के रास्तों का भी उल्लेख कर दिया है। दिल्ली से अजमेर और वहाँ से आगे आड़ावला के पच्छिमी चरणों के साथ साथ अहमदाबाद तक जो रास्ता गया है, वह आड़ावला की तरह राजपूताना को बीचोंबीच काटता है। अजमेर राजस्थान के ठीक केन्द्र में है, उसके उत्तरपच्छिम बीकानेर, दक्खिनपच्छिम मारवाड़, उत्तरपूरब जयपुर तथा दक्खिनपूरब मेवाड़ और मालवा हैं। वह राजपूताना की कुंजी है, जो दिल्ली से गुजरात के रास्ते को भी खोल या बन्द कर सकती है। एक इसे हथिया लेने से राजस्थान की रियासतों का परस्पर सम्बन्ध तोड़ा और उनके बढ़ने और फैलने का स्वाभाविक मार्ग रोका जा सकता है। दिल्ली की शक्ति जब राजस्थान में दखल करने का इरादा बाँधेगी, अजमेर की चाबी को हथियाना उसके लिए भी आवश्यक होगा। अद्वितीय रणनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ शेरशाह ने मालदेव को हराने के बाद केवल अजमेर को अपने सीधे अधिकार में रखना आवश्यक समझा था, अकबर के ज़माने से फिर राजपूताना का वही भाग सीधा शाही अधिकार में था, और आजकल भी राजस्थान की पिलाहट में वही भाग बृटिश लालिमा से रंगा रहता है। अकबर ने गुजरात पर अजमेर और सिरोही के रास्ते ही चढ़ाई की थी, उसी चढ़ाई में उसने वह त्तिप्रगामिता दिखाई थी जिसका मुक़ाबला संसार के लिखित इतिहास में कभी और कहीं नहीं हुआ।

दुर्गादास और राजसिंह की नायकता में जब मारवाड़ और मेवाड़ दोनों औरंगज़ेब के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे तब अजमेर

ही का रास्ता मुग़लों के हाथ में था, और मारवाड़ तथा मेवाड़ के विरुद्ध लड़ने वाली शाही सेनाओं में उसी के द्वारा सम्बन्ध रहता था। दोनों राजपूत राज्यों का परस्पर सम्बन्ध अजमेर के दक्खिन आड़ावला की अनेक जंगली घाटियों पर आश्रित था। चित्तौड़ की अपेक्षा उदयपुर अधिक पहाड़ों के अन्दर हैं। गांवूँदा और अन्दर को है, तथा राणा कुम्भा का बसाया कुम्भलमेर बिलकुल आड़ावला के पच्छिमी छोर में। राणा प्रताप के समय पूरब से ज्यों ज्यों शत्रु का दबाव पड़ता वे पच्छिम हटते जाते थे। इस बार पूरब तरफ़ उदयपुर तक दुश्मन ने आसानी से ले लिया था, और उसके आगे शाहज़ादा आज़म को पच्छिम के पहाड़ों में बढ़ने का आदेश था तथा मारवाड़ की तरफ़ से युवराज अकबर को देवसुरी घाटे से कुम्भलमेर तक पहुँचने का। राजपूत शेर की उस अन्तिम गुफ़ा पर हमला करते मुग़ल डरते थे, फिर भी जब अकबर और तहव्वरख़ाँ को औरंगजेब ने विवश करके आगे धकेला तब राजपूतों को दण्ड के स्थान में भेदनीति का अवलम्बन करना पड़ा।

दिल्ली-अजमेर-अहमदाबाद मार्ग को दक्खिन जाने का राजपूताना मार्ग कहना चाहिए। मथुरा, आगरा से चम्बल घाटी के ऊपर की तरफ़ उज्जैन होते हुए नर्मदा-घाटी में जो रास्ता जा निकला है, वह मालवा-मार्ग दक्खिन जाने का सब से प्राचीन प्रसिद्ध और प्रमुख रास्ता है। उज्जैन और खंडवा के बीच आजकल जहाँ रेलपथ नर्मदा को लाँघता है, उसके सिर्फ़ आठ मील ऊपर नर्मदा में मान्धाता नाम का दियारा आर्यों की दक्खिन की तरफ़ सब से पहली बस्ती माहिष्मती[1] को सूचित करता है। वहाँ से एक तरफ़ नर्मदा-घाटी के साथ साथ भरूच (भृगुकच्छ

---

१. प्र॰ अ॰, पृ॰ २६२।

या भरुकच्छ) के प्राचीन बन्दरगाह (पट्टन या 'तीर्थ') तक रास्ता है, दूसरी तरफ़ सीधे दक्खिन सातपुड़ा लाँघ कर तापी का पुराना घाट बुरहानपुर है जो फ़िर एक भारी चौराहा है। बुरहानपुर से तापी घाटी में खानदेश होते हुए अथवा सीधे पच्छिमी घाट लाँघ कर समुद्रतट को भी रास्ते गये हैं, और तापी की दूसरी धारा पूर्णा की घाटी के ऊपर से वर्धा के काँठे अर्थात् बराड़ और गोदावरी-काँठे को भी। माहिष्मती और भरुकच्छ के बाद दक्खिन में आर्यों की दूसरी प्रसिद्ध बस्ती विदर्भ[1] ही थी, और वैसा होना बहुत स्वाभाविक भी था।

उज्जैन या उज्जयिनी प्राचीन अवन्ति देश की राजधानी थी; अवन्ति के पूरब लगा हुआ आकर देश था जिसकी राजधानी विदिशा (भिलसा) थी। बाद में अवन्ति और आकर का नाम पच्छिमी और पूरबी मालवा हो गया। पच्छिमी समुद्र के बन्दरगाहों सोपारा या भरुच से जो व्यापारपथ उज्जैन पहुँचता था उसकी एक शाखा उज्जैन से मथुरा चली जाती, और दूसरी विदिशा होकर वहाँ से बेतवा की घाटी के साथ कौशाम्बी जा निकलती थी। आजकल भी जो रेलपथ भिलसा से बेतवा घाटी के साथ झाँसी और वहाँ से कालपी जाता है, उसे पूरबी मालवा का मार्ग या मालवा-बुन्देलखंड-सीमान्त मार्ग कहना चाहिए। उक्त दोनों मार्गों को काबू करने के कारण उज्जैन-प्रदेश अर्थात् मालवा का प्राचीन काल से बड़ा गौरव रहा है। आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पू० में सोलह महाजनपदों के समय अवन्ति एक प्रसिद्ध जनपद था, और उसके उत्तरी अंश (अवन्ति-मध्यदेश) की राजधानी माहिष्मती थी। उज्जैन के राजा चण्ड प्रद्योत ने छठी शताब्दी ई० पू० में मथुरा और कौशाम्बी की तरफ़ अपने राज्य को बढ़ा लिया था। पांचवीं शताब्दी ई० पू० के बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात

---

१ प्रा० अ० पृ० २६९।

में दक्खिन से तिरहुत-मगह जाने का जो रास्ता दिया है वह गोदावरी-तट के पैठन से माहिष्मती, उज्जैन, गोनर्द और विदिशा होकर कौशाम्बी पहुँचता था[1]। मौर्य सम्राटों के समय फिर उज्जैन पच्छिमी प्रान्तों की राजधानी थी। उसके बाद शुंग सम्राटों के समय तो पाटलिपुत्र और विदिशा दोनों साम्राज्य की राजधानियाँ थीं, और शुंग राजाओं के पास गान्धार के यूनानी राज्यों के दूत विदिशा में ही आते थे। ईसा की पहली शताब्दी में (लगभग ८० ई०) जिस अज्ञातनामा सूक्ष्मदर्शी रोमन व्यापारी ने 'एरुथ् सागर की परिक्रमा'[2] नाम से भारत के पच्छिमी समुद्र-तट के समूचे व्यापार का विस्तृत वृत्तान्त लिखा है, उसके समय में भी सोपारा[3] और भरुकच्छ से व्यापार की धारा उज्जैन होकर ही उत्तर भारत तक पहुँचती थी। और तो और, कालिदास अपने बादल को भी विरही यक्ष का सन्देश ले जाने के लिए दशार्ण देश (आधुनिक धसान, पूर्वी मालवा), वेत्रवती (बेतवा) नदी, उज्जयिनी और दशपुर (दसोर, मन्दसोर) का ही रास्ता बतलाते हैं।

मुस्लिम ज़माने में तो मालवा का रास्ता प्रायः उत्तर-दक्खिन के बीच एकमात्र रास्ता रहा है। बुन्देलखण्ड—निचली उपत्यका को छोड़ कर—मुसलमानों के हाथ में बहुत कम रहा और पच्छिम तरफ़ राजपूताना केवल अलाउद्दीन खिलजी के समय "पठान" बादशाहों तथा जहाँगीर-शाहजहाँ के समय मुग़लों के पूरी तरह अधीन हुआ। "पठान" बादशाहों के हाथ उड़ीसा का तट वाला रास्ता भी न था। फलतः राजपूताना और बुन्देलखण्ड के बीच

---

१. सुत्तनिपात, गाथा १०१०—१०१३।

२. 'पेरिप्लस औफ दि एरिथ्रियन सी' नाम से स्कौफ़ ने उसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया है।

३. अथवा शूर्पारक, कोंकण का एक पुराना बन्दरगाह, आजकल ठाना ज़िले के बसई ताल्लुका में।

मालवा का ही राजपथ था जो मुसलमान बादशाहों की फौजों के लिए अलाउद्दीन खिलजी के जमाने से दक्खिन जाने का पहले एकमात्र और फिर मुग़लों के समय में भी मुख्य मार्ग रहा। उसी रास्ते उन्होंने गोदावरी-काठे से आन्ध्र प्रदेश तक और कर्णाटक तक के अपने जीते प्रान्तों के साथ सम्बन्ध रक्खा इस प्रकार खिलजी-तुग़लकों के समय तो मालवा मुसलमानों के दक्खिनी साम्राज्य की मानो गर्दन ही था। बाबर ने जब उत्तर भारत में फिर साम्राज्य स्थापित करना चाहा तब पानीपत की विजय के बाद उसने भी सबसे पहले मालवा की ओर ध्यान दिया, और उसके उत्तरी दरवाजे पर खानवा में उसकी राणा सांगा से अविस्मरणीय लड़ाई हुई। बाबर के बेटे से बहादुरशाह मालवा छीन लिया चाहता था, पर वह भी उसे छोड़ने को कभी तयार न था। शेरशाह ने उत्तर भारत से हुमायूं को खदेड़ दिया तब उसे भी सब से पहले मालवा की चिन्ता करनी पड़ी। अकबर ने बंगाल जीतने से पहले अर्थात् उत्तर भारतीय मैदान को पूरी तरह लेने के पहले ही मालवा ले लिया था। औरंगज़ेब ने दक्खिन से अपने बाप के विरुद्ध उसी रास्ते प्रयाण किया, और नर्मदा पार कर उज्जैन के पास ही धर्मट में उसे जसवन्तसिंह से मुकाबला करना पड़ा था। आजकल मध्य भारत की रियासतों की पिलाहट में ब्रिटिश रक्तिमा से रंजित मऊ छावनी मालवा मार्ग को पहाड़ी नाके पर काबू करती है। अजमेर और उज्जैन के बीच नसीराबाद और नीमच में भी अंग्रेज़ी छावनियाँ हैं।

ध्यान रहे कि कुरुक्षेत्र पानीपत प्रदेश का जैसा महत्त्व पंजाब और गंगा-काँठे के बीच होने से है, वैसा ही पंजाब और दक्खिन के इन दो मार्गों के बीच होने से भी

जमना-गंगा-काँठे में मथुरा-आगरा से और नीचे कानपुर-प्रयाग के करीब तक उतर कर दक्खिन की तरफ देखें तो बेतवा

टोंस और केन की धारायें एक और रास्ते का संकेत करती हैं। कानपुर-कालपी से बेतवा घाटी के ऊपर तरफ़ झांसी होकर भिलसा जाने वाले रास्ते का हम पहले ही उल्लेख कर चुके और उसे मालवा-बुन्देलखंड-सीमान्त का मार्ग कह चुके हैं केन और टोंस के बीच विन्ध्यसंखला की पन्ना शृङ्खला की चौड़ाई कुछ अधिक नहीं हैं, और वहाँ उसे पार कर सीधे नर्मदा और सोन के जल विभाजक पर तथा नर्मदा घाटी के उपरले छोर में जबलपुर पर पहुँचा जा सकता है नर्मदा, सोन, महानदी और वेणगंगा के स्रोत एक दूसरे के बहुत निकट हैं, और विन्ध्य-शृंखला तथा ऋक्ष-शृंखला के जोड़ को सूचित करते हैं। इसी कारण वह जलविभाजक एक बड़े महत्त्व का नाका है। जबलपुर के पास ही तेवर गाँव मध्यकालीन चेदि-राज्य की राजधानी त्रिपुरी को सूचित करता है। प्रयाग-जबलपुर वाला रास्ता ठेठ बुन्देलखण्ड-मार्ग है। उस में से जबलपुर छावनी के कुछ उत्तर कटनी से आजकल के रेलपथ की एक शाखा मेकल-शृंखला का उत्तरपूरब घेरा कर उपरले महानद-काँठे या छत्तीसगढ़ में जा उतरती और बिलासपुर पर उत्तर-दक्खिन-भारत की विभाजक रेखा को काटती है। जबलपुर से वेणगंगा की दिशा में सीधे दक्खिन महादेव और मेकल शृंखलाओं के बीच से गोदावरी काँठे को रास्ता है, और जबलपुर से ही नर्मदा-घाटी के साथ साथ सीधे पच्छिम जाने वाला रास्ता इटारसी पर भिलसा-भूपाल वाले पूर्वी मालवा-मार्ग को तथा और नीचे खंडवा पर उज्जैन माहिष्मती बुरहानपुर वाले पच्छिमी मालवा मार्ग को काटता है। इस प्रकार बुन्देलखण्ड से दक्खिनपूरब, सीधे दक्खिन और दक्खिनपच्छिम जाने वाले रास्तों का सिर उक्त जलविभाजक में है जिसपर आज जबलपुर की छावनी नज़र रखती है। उसके रास्ते की उत्तरी जड़ पर इलाहाबाद और नौगाँव की छावनियाँ काबू रखती हैं।

राजपूताना, मालवा और बुन्देलखण्ड के उक्त उत्तर-दक्खिन मुख रास्तों को परस्पर जोड़ने वाले रास्ते भी हैं। अजमेर को रतलाम और रतलाम को खँडवा से, कोटा को बीना और बीना को कटनी से, तथा जबलपुर को इटारसी और इटारसी को खंडवा से मिलाने वाले आजकल के रेलपथ उनके उदाहरण हैं। अजमेर और उज्जैन के बीच वाले रास्ते पर चित्तौड़गढ़ और दशपुर (दासोर) से प्राचीन स्थान तथा आजकल नसीराबाद और नीमच की छावनियाँ हैं। यशोधर्मा के लेख दासोर में मिले हैं, और उसके विस्तृत राज्य का केन्द्र वहीं रहा हो सो सम्भव है। हुमायूँ और बहादुरशाह गुजराती की मुठभेड़ फिर उसी दासोर पर हुई थी।

बुन्देलखंड-मार्ग प्राचीन आर्य काल में बहुत अधिक चलता था। भगवान रामचन्द्र शायद उसी रास्ते दण्डकारण्य गये थे। पौराणिक इतिहास के अनुसार जब विदर्भ पर आर्यों ने अधिकार किया, लगभग उसी समय मेकल पर भी अधिकार कर लिया था[१]। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि आर्यों का 'मध्यदेश' गंगा-काँठे में था जिसके ठीक दक्खिन बुन्देलखण्ड है। छठी पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से फिर मगध भारतवर्ष का गुरुताकेन्द्र बना रहा। मध्यदेश से दक्खिन का और मगध से भी पच्छिमी दक्खिन का रास्ता बुन्देलखण्ड में से ही है। गुप्त साम्राज्य के उदय से ठीक पहले बुन्देलखण्ड महाराष्ट्र के साथ वाकाटकों के राज्य में था, समुद्रगुप्त ने जब उसे अपने अधीन कर लिया तब महाराष्ट्र के वाकाटक-राज्य और गुप्त साम्राज्य की सीमायें बुन्देलखण्ड में ही मिलतीं थीं। फिर सातवीं से दसवीं शताब्दी तक उत्तर भारत का केन्द्र कन्नौज रहा। कन्नौज के दक्खिन बुन्देलखण्ड के उत्तरी भाग अर्थात् प्राचीन चेदि देश में जो तब

१. [illegible] पृ० [illegible]।

जेजाकभुक्ति या जझौटी कहलाता था चन्देलों का राज्य था, और उसके दक्खिन तीवर या दक्खिन बुन्देलखण्ड में – जिसे तब चेदि कहने लग गये थे —कलचुरियों का। उन राज्यों के नाम कन्नौज की लड़ाइयों और मैत्रियों के इतिहास में लगातार सुनाई देते हैं। उन के इतने घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध और लड़ाइयों को निबाहने के लिए बुन्देलखण्ड का मार्ग लगातार काम देता रहा होगा।

किन्तु मुसलमान बादशाह बुन्देलखण्ड के उत्तरी छोर पर ही मँडराते रहे। अकबर की जो सेना आसफ़ख़ाँ की नायकता में रानी दुर्गावती से गढ़-मण्डल पर लड़ी थी, और फिर उसके पुत्र के ख़िलाफ़ जिसने चौरागढ़ को घेरा था, वह शायद पहली मुस्लिम सेना थी जिसने बुन्देलखण्ड के रास्ते विन्ध्यमेखला को एक छोर से दूसरे छोर तक पार किया था। किन्तु उसके बाद भी शाहजहाँ के समय तक उस प्रदेश पर मुस्लिम अधिकार स्थिर नहीं हुआ। शाहजहाँ के ज़माने में जब मुग़ल सेनायें जुझारसिंह का पीछा करते हुए ओड़छा, धामुनी और चौरागढ़ ले कर चांदा के गोंड राज्य की सीमाओं तक जा निकलीं, तब यह कहना चाहिए कि बुन्देलखण्ड का दक्खिनगामी मार्ग पूरी तरह मुग़लों के हाथ आया। अकबर से पहले यदि किन्हीं मुसलमान बादशाहों ने बुन्देलखण्ड के उत्तरी तट पर महोबा, कालिंजर आदि को अपने अधिकार में किया था तो केवल अपने उत्तर भारतीय साम्राज्य के दक्खिनी तट को सुरक्षित करने के लिए, न कि बुन्देलखण्ड के रास्ते दक्खिन में प्रवेश करने के लिए।

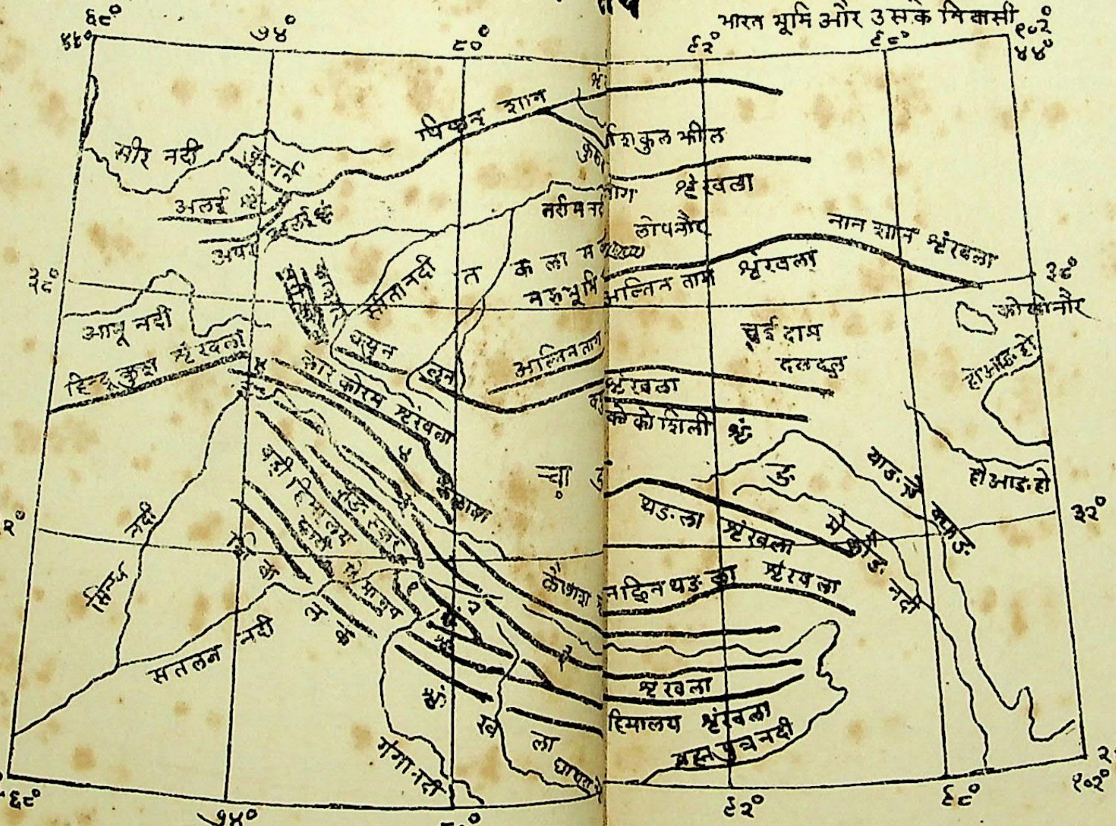
सोन की पूरब-वाहिनी धारा की घाटी या बघेलखण्ड का सबसे पुराना नाम कारुष था। पौराणिक इतिहास के अनुसार कारुष जाति का अवध या उत्तर कोशल से सम्बन्ध था[1], और

१. प्रा०अ०, पृ० २५५-२५६।

कारुष के दक्खिन महानदी की उपरली घाटी का नाम दक्षिण कोशल तो उत्तर कोशल से सम्बन्ध सूचित करता ही है। अयोध्या से छत्तीसगढ़ तक अब एक ही भाषा--पूरबी हिन्दी-का क्षेत्र है इससे सिद्ध होता है कि पौराणिक इतिहास के उक्त कथन में वास्तव में एक गहरी सचाई है। उस भाषा-सम्बन्ध से इन प्रदेशों का भौगोलिक सम्बन्ध भी निश्चित होता है।

गंगा-काँठे के पूरबी भाग में विन्ध्यमेखला के चरण गंगा के नज़दीक नज़दीक आते गये, और राजमहल पर ठीक गंगा के ऊपर जा पहुँचे हैं इस प्रकार उनकी जो नोक उत्तर भारतीय मैदान में चली आई है, उसकी विवेचना पिछले प्रकरण में हो चुकी है किन्तु वह तो केवल विन्ध्यमेखला का आँचल है। उसके दक्खिन विन्ध्यमेखला का पूरबी भाग पच्छिमी भाग की अपेक्षा बहुत दुर्गम है। कारण एक तो नर्मदा और सोन के कारण विन्ध्यमेखला पच्छिमी अंश में दो फाँक हो गई हैं, पर यहाँ वह बात नहीं है, यहां ऋक्ष पर्वत एक ही है। दूसरे, पच्छिमी अंश की अपेक्षा इस अंश में वर्षा की अधिकता के कारण जंगल अधिक हैं। तीसरे,—और मुख्य कारण यही है कि—बिहार से दक्खिन जाना हो तो पूरब की तरफ़ ज़रा चक्कर लगा कर उड़ीसा-तट के रास्ते मैदान मैदान सुगमता से जा सकते हैं, इन पहाड़ों को सीधा लांघने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। इस प्रकार यह प्रदेश सेनाओं, विजय, वाणिज्य और सभ्यता के प्रवाहों से सदा बचता रहा है। यही कारण है कि भारतवर्ष की प्राचीनतम जंगली जातियाँ इतिहास के प्रवाह से छिड़े बिना झाड़खंड में अपनी प्रागैतिहासिक काल की भी जीवनचर्या अब तक निभाती आती हैं।

हिमालय और उसाय की पर्वत-श्रेणियें



१- बड़ी हिमालय श्रृंखला

२- ज़ास्कर ,,

३- लदाख ,,

४- कैलाश ,,

(सर्वे आफ़ इन्डिया के "हिमालय-प्रदेश" नक्शे की चाबी, वहीं से उद्धृत)

स्वर्गीय
छानबीन क
एक बड़ा ह
है। उस वृत्त
में था. औ
विदर्भ औ
अंग देश य
(दक्खिनशि
और कलिंग
ऐसा होना
सुम्ह और
उनका दख
की है कि क
में आर्यों क
में नहीं है[3]
के पक्ष में ए
छोटा नागपु
बचा रहा है
गुज़री हो स
आरम्भ में
सेनाओं को

---

१. अनु
इस अर्थ का
में परिमित हो

२. प्रा.

३. प्रा.

स्वर्गीय विद्वान् पार्जीटर ने पौराणिक अनुश्रुति[1] की जो छानबीन की है, भारतवर्ष में आर्य जाति के फैलने का उससे एक बड़ा ही युक्तिसंगत और शृंखलाबद्ध वृत्तान्त पाया गया है। उस वृत्तान्त के अनुसार आर्यों का मूल केन्द्र उपरले गंगा-काँठे में था, और वहाँ से दक्खिन तरफ़ फैलते हुए जब उन्हों ने विदर्भ और मेकल को दखल किया, उसके कुछ ही समय पीछे अंग देश या भागलपुर से बढ़ते हुए पुण्ड्र (उत्तर बंगाल) सुम्ह (दक्खिनपच्छिम बंगाल, हुगली-मेदिनीपुर) वंग (पूरब बंगाल) और कलिंग (उड़ीसा-तट) तक भी उनकी बस्तियाँ जा बसीं[2]। ऐसा होना बहुत ही स्वाभाविक और युक्तिसंगत है। हमें यहाँ सुम्ह और कलिंग से मतलब है। मेकल के कुछ समय बाद उनका दखल होना सर्वथा युक्तियुक्त है, और यह बात बड़े मार्के की है कि कारुष मेकल तथा सुम्ह-कलिंग के बीच झाड़खंड प्रदेश में आर्यों का कोई भी प्रवाह जाने का उल्लेख पौराणिक अनुश्रुति में नहीं है[3]। वैसा उल्लेख न होना पौराणिक अनुश्रुति की सचाई के पक्ष में एक बड़ा सबूत है। बाद के इतिहास में भी झाड़खंड या छोटा नागपुर प्रदेश प्रायः उसी तरह चलते रास्तों के एक तरफ़ बचा रहा है। किन्तु कभी भी कोई प्रसिद्ध सेना उसमें से न गुज़री हो सो नहीं कहा जा सकता। दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में कलिंग का राजा खारवेल अपनी मगध जीतने वाली सेनाओं को शायद झाड़खंड के बीच से ही ले गया था। गुप्त

---

१. अनुश्रुति = tradition; 'इत्येवमनुशुश्रुम' के वज़न पर। इस अर्थ का पुराना शब्द श्रुति है, पर अब वह वैदिक श्रुति के अर्थ में परिमित हो गया है।

२. प्रा. अ., पृ. २७२।

३. प्रा. अ., अध्याय २४।

सम्राटों के समय सोन की धारा से गोदावरी की घाटी तक 'अष्टादश अटवी-राज्य' बिखरे हुए थे।

मुसलमान विजेता तो बुन्देलखण्ड में ही बहुत पीछे पहुँच पाये, झाड़खण्ड में कब पहुँचते? उसके बाहरी आँचल पर शेरखां ने रोहतासगढ़ को ही लिया तब मुस्लिम जगत् के लिए एक बिलकुल नई अनोखी बात हो गई थी। अकबर की सेनायें मानसिंह की नायकता में बंगाल के रास्ते ही उड़ीसा को जीतने गईं थीं। औरंगज़ेब की फ़ौजें पलामू के पहाड़ी गोरखधन्धे को ही पार न कर पाती थीं।

आधुनिक उत्तर भारत का मुख्य रेलपथ काशी और कलकत्ते के बीच गया हो कर किस प्रकार इस पर्वतमेखला के आँचल को काटता है सो ऊपर कह चुके हैं। अभी हाल में छोटा नागपुर के कोयले की खातिर एक रेलपथ उस के बीचोंबीच बनाया जा रहा है, किन्तु हाल तक उसके बड़े हिस्सों को आधुनिक युग के रेलपथों ने भी न काटा था।

बंगाल से उड़ीसा के तट हो कर दक्खिन जाने का रास्ता बहुत ही सीधा और सुगम है। उसकी मिट्टी भी विजयिनी सेनाओं के घोड़ों के सुमों से अनेक बार उखाड़ी जा चुकी है। पूर्वोक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त हम राजपूत काल में दक्खिनी सेनाओं को उसी रास्ते जाकर बंगाल का विजय करता पाते हैं। आधुनिक युग में क्लाइव और डूप्ले के दिनों में फिर उसी राजपथ से गुज़रने वाली सेनाओं ने भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय किया है।

चौथा प्रकरण

दक्खिन

---

§ १०. पर्वत पानी और प्रदेश—भौगोलिक निरूपण

विन्ध्यमेखला और दक्खिन भारत को अलग करने वाली रेखा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उस के दक्खिन का तिकोना देश दक्खिन या दक्खिन भारत है। वह त्रिभुज एक पहाड़ी पठार है, जिस का आधार विन्ध्यमेखला का ऋक्ष पर्वत है, और दो भुजायें पूरबी तथा पच्छिमी घाट। पच्छिमी घाट का पुराना नाम सह्याद्रि है। उस की दीवार पच्छिमी समुद्र के साथ साथ लगातार चली गई, और उसके तट से एकाएक ऊपर उठी है। उस की अधित्यका को उत्तरी हिस्से में डांग, मध्य में मावल और दक्खिनी हिस्से में मल्लाड कहते हैं। वह अधित्यका पूरब तरफ़ धीरे धीरे ढली है, और ढलते हुए उसने अपनी कई बाहें आगे बढ़ा दी हैं जो पूरब जाते हुए लगातार ढलतीं खुलतीं तथा अन्त में नदियों की घाटियों में मिलती गई हैं। सह्याद्रि के इस धीरे धीरे पूरब तरफ़ ढलने से दक्खिन भारत का पठार बना है, और इसी कारण उस पठार की सब नदियों का बहाव पूरबी समुद्र की तरफ़ है। उस ढाल वाले खुले पहाड़ी मैदान को महाराष्ट्र लोग "देश" कहते हैं। पूरबी घाट की परम्परा जो उस पठार को पूरब तरफ़ थामे हुए है, बीच बीच में टूटी है, नदियों ने अपनी घाटियां उस के बीचों बीच काट कर बना रक्खी हैं। सह्याद्रि के पच्छिम जो छोटी छोटी नदियां एकदम ऊँचे से गिरती हैं उन के खादर से

मैदान की वह तंग मखमली किनारी बनी है जो सह्याद्रि के पच्छिम लगातार चली गई है। किन्तु पूरबी घाट और समुद्र के बीच मैदान का एक अच्छा चौड़ा फ़ीता है, कारण उसे पूरबी घाट से पूरब उतरने वाली छोटी नदियों के अतिरिक्त पच्छिमी घाट से आने वाली बड़ी नदियों ने भी बनाया है। पच्छिमी किनारी का उत्तरी हिस्सा–दमन से गोआ तक–कोंकण, बीच में कर्णाटक-तट और दक्खिनी हिस्सा केरल कहलाता है। पूरबी किनारी का उत्तरी हिस्सा कलिंग, बीच में आन्ध्र-तट और वड (उत्तरी) पैण्णार[1] नदी के दक्खिन चोल-मण्डल[2] है।

पच्छिमी घाट की शृंखला पहले पहल तापी-घाटी में नन्दरबार के दक्खिन सिर उठाती है। उसके आरम्भ का प्रदेश बागलान (बागुल्ल देश) कहलाता है, उसी में शिवाजी की पहाड़ी दुर्गमाला के सबसे उत्तरी किले साल्हेर, मुल्हेर और रामसेज की चोटियों पर हुआ करते थे। मुल्हेर के ज़रा उत्तर से उस शृंखला

---

१. पैण्णार में ऐ का उच्चारण संस्कृत ऐ का है जैसे 'कैवल्य' में, न कि हिन्दी ऐ का जैसे 'जैसे' में।

२. चोलमंडल का बिगाड़ा हुआ रूप कारोमंडल है। अंग्रेज़ी नक्शों और पुस्तकों में तट की रेखा का तो वही नाम होता है, पर तट के मैदान को 'कर्नाटिक' लिखते हैं। किसी समय वह समूचा मैदान कर्णाटक या विजयनगर-साम्राज्य के अधीन था, तब उत्तर के मुस्लिम लेखक उसे कर्णाटक में शामिल करने लगे, और मुसलमानों से जब उसे अंग्रेज़ों ने लिया तो उन्हों ने मुख्य कर्णाटक के बजाय केवल इसी मैदान का नाम 'कर्नाटिक' रख दिया। किन्तु अब जब कि कर्णाटक का साम्राज्य नहीं रहा, और असल कर्णाटक के लिए उस शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी पुस्तकों में नहीं होता, तब उसे 'कर्नाटिक' कहना लगव और बेहूदा है।

की एक बाँह सीधे पूरब धूलिया के दक्खिन तक चली गई है; वही गालना पहाड़ियाँ हैं। मुल्हेर के और दक्खिन सप्तशृङ्ग पहाड़ है, जहाँ से फिर एक और बाँह पूरब तरफ़ बढ़ी है। वे चान्दोर की पहाड़ियाँ या सातमाल[1] पहाड़ियाँ हैं। कुछ दूर पूरब जाकर वे ढल गई हैं, किन्तु थोड़े व्यवधान के बाद फिर उठी हैं और वह उठाव सह्याद्रि की एक अत्यन्त प्रसिद्ध बाँहीं—अजिंठा शृंखला—के आरम्भ को सूचित करता है। अजिंठा पहाड़ियों की मुख्य शृंखला तापी की धारा पूर्णा के पानी को गोदावरी की धाराओं पूर्णा पेणगंगा, पूस आदि के पानी से बाँटती हुई वर्धा नदी के सामने यवतमाल तक चली गई है। उसने फिर कई बाँहियाँ दक्खिनपूरब बढ़ा दी हैं। एक वह है जो वेरूल[2] से दौलताबाद (देवगिरि) औरंगाबाद और जालना के उत्तर उत्तर गोदावरी-दूधना और पूर्णा के बीच उसके दक्खिन मुड़ने तक चली गई है। दूसरी पूर्णा और पेणगंगा के बीच से दक्खिनपूरब बढ़ी और नान्देड़ के उत्तर से होते हुए निर्मल तक चली गई है; यही निर्मल शृंङ्खला कहलाती है। तीसरी और पूरब पेणगंगा और पूस के बीच शुरू हो कर पेणगंगा के उत्तरी मोड़ के बाद उसके पार गोदावरी और वेणगंगा के संगम तक पहुँच गई है। उसका अन्तिम हिस्सा—पेणगंगा और गोदावरी के बीच का—भी सातमाल कहलाता है, और वह अजिंठा शृंखला का सब से पूरबी अंश है। अजिंठा शृंखला इस प्रकार गोदावरी के उत्तर उत्तर वर्धा और वेणगंगा के काँठों तक पहुँचती है।

गोदावरी के दाहिने नासिक और थलघाट के दक्खिन त्रिम्बक पहाड़ से सह्याद्रि की एक और प्रसिद्ध बाँहीं गोदावरी और भीमा के बीचोंबीच दक्खिनपूरब बढ़ी है। अहमदनगर के बाद वह

---

१. मराठी माल = कश्मीरी उडर = बंगला मालभूमि = पठार।

२. बिगाड़ा हुआ अंगरेज़ी रूप—एलोरा!

दो शाखाओं में फट गई है, जिनमें से एक मंजीरा के बाँयें और दूसरी दाहिने चली गई है। मंजीरा के उत्तर वाली बालाघाट[1] शृंखला कहलाती है, और वह आगे जा कर फिर दो शाखाओं में फट गई है, जो दोनों नान्देड़ के दक्खिन सीध में पहुँच कर समाप्त हो गई हैं। मंजीरा के दाहिने जो बाँह चली गई है, वह तुलजापुर और कल्याणी होते हुए गुलबर्गा और बिदर के बीच हैदराबाद-गोलकुण्डा के पठार से जा जुड़ी है। मूसी नदी की घाटी का यह प्रसिद्ध पठार गोदावरी और कृष्णा के तथा पूरबी और पच्छिमी घाट के ठीक बीच पड़ता है। उसे पच्छिमी घाट की उक्त बाँहीं का बढ़ाव माना जाय या पूरबी घाट की शृंखला का एक अंश, या दोनों से स्वतन्त्र एक केन्द्रस्थ पठार, सो कहना कठिन है। उसके उत्तरपूरबी छोर पर वारांगल है।

पूना के दक्खिन भीमा और कृष्णा के बीच सह्याद्रि की जो बाँहीं गई है, वह भी देवगिरि-अजिंटा शृंखला और अहमदनगर-कल्याणी शृंखला की तरह प्रसिद्ध है। उसकी रेखा आरम्भ में नीरा के दोनों बाज़ू दोहरी चली गई है, दक्खिन वाली महादेव पहाड़ियां कहलाती हैं। उनकी मुख्य शृंखला बीजापुर के दक्खिन होते हुए कृष्णा घाटी के बायें बायें भीमा-कृष्णा-संगम तक चली गई है। यह स्पष्ट है कि अजिंठा-शृंखला ने सह्याद्रि के साथ जैसा कोण बनाया है, अहमदनगर वाली बाँहीं का कोण उस से अधिक नुकीला, और कृष्णा घाटी को बन्द करने वाली इस बाँही का और भी नुकीला है। इसी कारण उपरली कृष्णा-घाटी एक तरह से बिलकुल बन्द सी है, और वह गोदावरी और भीमा-घाटियों की तरह खुल और फैल नहीं

१. विन्ध्यमेखला में महादेव और मेकल पर्वतों के बीच की पहाड़ी भूमि भी, जो नर्मदा और वेणगंगा के स्रोतों को छाँटती है, बालाघाट कहलाती है।

पाई। इसीलिए उसका झुकाव अधिक उत्तर दक्खिन है। नीचे जा कर वह खुल भी पाती, यदि सह्याद्रि से पच्छिम बढ़ी हुई और बाँहियां उसे दाहिनी तरफ़ से भी न दबाये हुए होतीं। इस प्रकार की एक बाँहीं सावन्तवाडी के उत्तरपूरब से घटप्रभा के बाँयें बाँयें गढ़ हिंगलाज होते हुए बागलकोट के सामने तक चली गई है। दूसरी फिर घटप्रभा और मलप्रभा के बीच बेलगाम से गोकाक होते हुए बदामी गई है। और तीसरी मलप्रभा और वरदा-तुंगभद्रा के बीच धारवाड और हुगली से गदग तक पहुँच कर तीन शाखाओं में फट गई है, जिन में से एक उत्तरपूरब मुद्गल रायचूर होकर कृष्णा-तट तक, दूसरी दक्खिन-पूरब विजयनगर के सामने गगावली तक और तीसरी सीधे दक्खिन तुंगभद्रा के तट तक चली गई है।

वरदा के दक्खिन पच्छिमी और पूरबी घाट एक दूसरे के नज़दीक आते और अन्त में नीलगिरि पर मिल कर एक हो गये हैं। उन दोनों के नज़दीक होने से दोनों के बीच मैसूर का ऊँचा अन्तःप्रवण पठार बन गया है, जिस के पानी को तुंगभद्रा और वेदवती की अनेक धारायें उत्तर तरफ़ ले जाती हैं, और कावेरी पूरबी भीत को काट कर पूरब तरफ़।

पूरबी घाट-शृंखला का उत्तरी छोर आधुनिक परिभाषा के अनुसार सुवर्णरेखा और वैतरणी के बीच मयूरभंज के पहाड़ तथा वैतरणी-ब्राह्मणी के बीच केंदूझर के पहाड़ हैं। प्राचीन परिभाषा में वैतरणी का स्रोत ऋक्ष पर्वत में गिना जाता था, जिसका यह अर्थ है कि मयूरभंज-केंदूझर की पहाड़ियाँ ऋक्ष पर्वत का अंश मानी जाती थीं। राँची के पठार के साथ उन्हें एक पहाड़ी गर्दन जोड़ती भी है। आजकल उन्हें विन्ध्यमेखला की अपेक्षा दक्खिन भारत में गिनना अधिक ठीक दीखता है।

महानदी, गोदावरी और वेणगंगा के बीच का पूरवी घाट का बड़ा अंश प्राचीन काल में महेन्द्रगिरि कहलाता था, और अब भी उस में उस नाम का पर्वत है। महेन्द्र से पैदा होने वाली नदियों में ऋषिकुल्या, लांगूलिनी और वंशधरा की गिनती की जाती थी[1]। गंजाम ज़िले में से होकर चिलिका ह्रद के दक्खिन जो नदी समुद्र में गिरती है, उस का नाम अब भी ऋषिकुल्या है; कलिंगपट्टम जिस के मुहाने पर है वह अब भी वंशधरा कहलाती है, और शिकाकोल जिस के मुहाने पर है वह लंगलिया। महानदी और गोदावरी के पानी को बाँटने में महेन्द्र पर्वत की सहायता छत्तीसगढ़-पठार करता है। उस पठार का दक्खिनी किनारा, जिसे काँकेर के पहाड़ सूचित करते हैं, इन्द्रावती और शबरी के पानी को महानदी की मुख्य धारा के पानी से अलग करता है और पच्छिमी किनारा उसकी दूसरी धारा शिवनाथ के स्रोतों तथा वेणगंगा के स्रोतों के बीच पड़ता है। आगे जा कर वह मेकल पर्वत से जुड़ गया है, और वेणगंगा के उत्तरी स्रोतों तथा नर्मदा के स्रोतों को शिवनाथ के उत्तरी स्रोतों से मेकल पर्वत ही बाँटता है। छत्तीसगढ़ पठार इस प्रकार मेकल और महेन्द्र पर्वत को अर्थात् विन्ध्यमेखला और पूरवी घाट को परस्पर जोड़ता है।

महेन्द्र पर्वत के बाद पूरवी घाट की परम्परा फिर कृष्णा के दक्खिन उठी है। वहां उसका मुख्य पर्वत नालमलई है, जिसके समानान्तर पूरब वेल्लिकोंडा-शृङ्खला उत्तरी पैण्णार के दक्खिन नगरी पहाड़ियों तक चली गई है। नालमलई का पैण्णार के दक्खिन बढ़ाव पालकोंडा पहाड़ियां हैं। नालमलई-पालकोंडा को यदि धनुष की ज्या मानें तो उसके साथ पच्छिम तरफ़ एर्रमाला

१. मार्कण्डेय पुराण, ५७, २८–२९।

और शेषाचलम् मिल कर एक धनुष की शकल बनाते हैं । एर्र-माला के एक छोर पर गूटी की चट्टान है । वह वड (उत्तरी) पैण्णार के उत्तर है और शेषाचलम् दक्खिन । पालकोंडा और नगरी के बीच तामिल देश का पवित्रतम पर्वत तिरुपति है ।

नालमलई का दूसरा नाम श्रीशैल या श्री-पर्वत भी है । कृष्णा के उपरले रास्ते को सह्याद्रि और उसकी पूरबी बाँहों ने बाँधा है, तुंगभद्रा के रास्ते को उसी प्रकार मैसूर-पठार की उत्तरी ढाल ने । दोनों का संगम होने के बाद अब कृष्णा के रास्ते को बाँयें गोल-कुण्डा का पठार और दाहिने श्री-पर्वत दबाये हुए हैं । श्रीशैल के चरण तो बिलकुल उसकी घाटी के ऊपर आ गये हैं, और वह उन्हें स्पष्ट धोते हुए गई है । वहाँ पहाड़ की ढांग के नदी की घाटी पर सीधे खड़े होने से वह घाटी बड़ी गहरी हो गई है और इसी कारण उसमें कृष्णा को पातालगंगा कहते हैं । पाताल-गंगा के ऊपर श्रीशैल की चोटी पर एक शिव-लिंग स्थापित है जो सम्राट् चन्द्रगुप्त दूसरे की पुत्री महाराष्ट्र की रानी प्रभावती के समय से, जो प्रतिदिन उस पर मल्लिका के फूलों की एक माला चढ़ाया करती थी मल्लिकार्जुन कहलाता है, और पुराणों में हिमालय के केदारनाथ और सुराष्ट्र के सोमनाथ की तरह पवित्र माना गया है । मल्लिकार्जुन मन्दिर और पातालगंगा तीर्थ की रमणीकता ने शिवाजी को इतना मुग्ध कर लिया था कि उन्होंने अपना जीवन उस पर अर्पित करने की इच्छा प्रकट की थी ।

श्रीशैल के आगे वड पैण्णार नदी के दक्खिन पूरबी घाट की शृंखला मैसूर-पठार का पूरबी परकोटा बनाते हुए नीलगिरि पर सह्याद्रि से जा मिली है । बेंगलूर शहर तथा कोलहार की सोने की खानें उसी में हैं । कावेरी ने उसके बीच जो रास्ता काटा है, उसके आरम्भ और अन्त में शिवसमुद्रम् और होगेनकल पर वह भारी प्रपातों में उतरी है । पूरबी घाट को पूरब तरफ़ थामने

वाली[1] वडपैगणार और पालार नदियों के बीच की पालकोंडा, वेलिगकोंडा, तिरुपति और नगरी पहाड़ियों का उल्लेख कर चुके हैं। पालार और तेन (दक्खिनी) पैरणार के बीच नगरी के सिलसिले में जावडी पहाड़ियाँ हैं, उसके और वसिष्ठनदी (वेल्लार) के बीच शिवराय और कालरायन पहाड़ियाँ और फिर उसके तथा कावेरी के बीच पच्चइमलई पहाड़ियाँ।

नीलगिरि के दक्खिन घाटों के तांते में एक बड़ा व्यवधान है जिसे पालघाट कहते हैं। पालघाट के बाद फिर आनमलई पर्वत है जिसके दक्खिन एलामलई भी शृङ्खला कन्याकुमारी तक चली गई है। पल्लनी, आंडिपट्टी और वरुषनाड पहाड़ियाँ उन्हें पूरब तरफ़ थामे हुए हैं। आनमलई और एलामलई ही प्राचीन भारत का सुप्रसिद्ध मलय पर्वत है। वैगइ वैप्पर और ताम्रपर्णी (चित्तार) नदियां उससे पूरब तरफ़ उतरी हैं, अमरावती (कावेरी की धारा) उत्तर तरफ़ और मणिमाला पेरियार और पुन्नाणी आदि पूरब तरफ़।

मलय पर्वत की गिनती सात कुल पर्वतों में की जाती थी, जिन सब की परिगणना इस प्रकार थी —

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

(मार्कण्डेय पुराण ५७, १०-११)।

महेन्द्र का उल्लेख अभी हो चुका है। 'मलई' पर्वत का वाची तामिल शब्द है, किन्तु संस्कृत में वह एक विशेष पर्वत का नाम हो गया है। मेरा विचार है कि इस परिगणन में नाल- मलई से एलामलई तक सभी पर्वत मलय में शामिल हैं। महेन्द्र

1. इस अर्थ में प्राचीन पारिभाषिक शब्द है विष्कम्भ-पर्वत या अवष्टम्भगिरि; दे० मार्कण्डेय पुराण, ५४, १९-२१; श्रीमद्भागवत, ५ १६, ११

से मलय होते हुए हम सह्य की तरफ़ घूम जाते हैं। चौथे पर्वत शुक्तिमान् की निश्चित शिनाख्त आज तक नहीं हुई, किन्तु मेरे विचार में वह गोलकुण्डा का पठार है[1] क्योंकि इन सातों पर्वतों के नाम एक परिक्रमा के क्रम में हैं। सह्याद्रि के उत्तरी छोर से पूरब लगातार ऋक्ष पर्वत है, उसके पूरबी छोर से फिर उत्तर घूम कर क्रम से विन्ध्य और पारियात्र। ये सातों पर्वत इस प्रकार भारतवर्ष के अन्दर के "कुल-पर्वत" हैं, और हिमालय और अन्य "मर्यादा-पर्वतों" से भिन्न हैं[2]।

चोलमंडल तट की तीन स्पष्ट नोकें दक्खिन-समुद्र में बढ़ी हुई हैं। उनमें से बीच की रामेश्वरम् और धनुष्कोटि की है, जो आगे सेतुबन्ध की चट्टानों द्वारा सिंहलद्वीप या लंका से बहुत कुछ जुड़ी हुई है। सिंहल द्वीप भी भारतवर्ष में सम्मिलित है। उसका उत्तरी आधे से कुछ कम हिस्सा मैदान है, और दक्खिनी आधे में बीच में समनलकन्द[3] (समन्तकूट) और पिदुरु तलागल[3] पहाड़ तथा उनके चारों तरफ़ ढाल के बाद मैदान है। उन पहाड़ों से जो नदियां उतरती हैं उनमें से उत्तर जाने वाली महावेलिगंग (कुरुगलगंग) मुख्य है, क्योंकि उत्तर की तरफ़ ही खुला मैदान है।

दक्खिन भारत के पर्वतों और पानियों की स्थिति समझने के बाद अब हम उसका प्रदेश विभाग कर सकते हैं। बिलकुल भौगोलिक और भौतिक दृष्टि से उस के निम्नलिखित विभाग अलग अलग दीख पड़ते हैं—(१) कोंकण-केरल-तट, (२) कलिंग-

---

१. दे० परिशिष्ट १ (१०)।

२. कुलगिरि और मर्यादा-गिरि का अन्तर श्रीमद्भागवत ५, १६, ९-१० में स्पष्ट है।

३. कन्द माने पहाड़, गल माने भी पहाड़।

चोलमण्डल-तट जिस में महानदी का मुहाना और गोदावरी-कृष्णा का मुहाना भी सम्मिलित है, (३) सिंहल के तट का मैदान, (४) सिंहल की अधित्यका, (५) मलय अधित्यका अर्थात् एलामलई आनमलई पर्वतों की अधित्यका, (६) मैसूर-पठार, (७) श्रीशैल अधित्यका और गोलकुण्डा-पठार, (८) सह्याद्रि की अधित्यका, जिस में गोदावरी भीमा कृष्णा की उपरली घाटियां सम्मिलित हैं, (९) महेन्द्रगिरि की अधित्यका जिस में इन्द्रावती शबरी के बीच का दोआब बस्तर भी सम्मिलित है, (१०) कृष्णा-तुंगभद्रा का बिचला काँठा, जो मैसूर-अधित्यका श्रीशैल-गोलकुण्डा-अधित्यका और सह्याद्रि-अधित्यका के बीच घिरा हुआ है, (११) पेणगंगा-वर्धा-वेणगंगा-काँठे, गोदावरी के बिचले काँठे सहित, (१२) तापी का बिचला काँठा अथवा खानदेश, (१३) महानदी का उपरला काँठा। इन में से तीन समुद्र-तट के मैदान, छः अधित्यकायें और चार उनके बीच घिरे 'देश' या मैदान हैं।

भौगोलिक और जाति-विषयक स्थिति को देखते हुए फिर इन्हीं प्रदेशों का छः प्रान्तों में बँटवारा होता है। कृष्णा-तुंगभद्रा का बिचला काँठा दक्खिन भारत के दो स्पष्ट हिस्से करता है। उस के उत्तर के हिस्से में सह्याद्रि की अधित्यका पच्छिम तरफ़, गोलकुण्डा की अधित्यका बीच में तथा महेन्द्रगिरि की अधित्यका उत्तरपूरब छोर पर है। सह्याद्रि की अधित्यका के पूरबी ढाल का बढ़ाव ही पेणगंगा वेणगंगा और मध्य गोदावरी के काँठे हैं, और उस अधित्यका का उत्तर तरफ़ ढाल वर्धा, पूर्णा और तापी के काँठे अर्थात् बराड खानदेश हैं। कोंकण भी उस की पच्छिमी किनारी है। वह अधित्यका अपनी ढाल के इन प्रदेशों सहित महाराष्ट्र है, जिस की पूरबी सीमा गोदावरी और महानदी का जलविभाजक है। महाराष्ट्र वाले अपने

महाराष्ट्र के तीन हिस्से करते हैं—कोंकण, घाटमाथा और देश। घाटमाथा यानी घाट की अधित्यका और देश उस का ढाल।

फिर लंगलिया के मुहाने (शिकाकोल) से सुवर्णरेखा के मुहाने तक कलिंग-तट और उसके ऊपर महानदी का बिचला काँठा तथा महेन्द्रगिरि की अधित्यका मिला कर उड़ीसा या उत्कल प्रान्त बनता है। महानदी का बिलकुल उपरला काँठा जो मेकल पर्वत के साथ लगा है, उस से अलग है। वह छत्तीसगढ़ है, जिसे हम दक्खिन के बजाय विन्ध्यमेखला के प्रदेशों में गिन चुके हैं। उड़ीसा के दक्खिनपच्छिम और महाराष्ट्र के पूरब जो टुकड़ा बचा वह तेलंगण या आन्ध्र है। उस में लंगलिया से वडपैण्णार अर्थात् शिकाकोल से नेल्लूर तक का समुद्रतट, उस के ऊपर महेन्द्र-अधित्यका का दक्खिनी अंश तथा गोलकुण्डा श्रीशैल-अधित्यका, उन के बीच गोदावरी-कृष्णा की घाटियां, तथा कृष्णा-तुंगभद्रा की केन्द्रस्थ घाटी का पूरबी अंश सम्मिलित है।

उस घाटी और वडपैण्णार नदी के दक्खिन वाले हिस्से में फिर दो प्रान्त हैं। मैसूर-पठार, और उस का उत्तरी ढाल जिस में तुंगभद्रा कृष्णा की केन्द्रस्थ घाटी का पच्छिमी अंश आ जाता है, उस घाटी के पच्छिम मलप्रभा से वरदा तक सह्याद्रि के पूरबी ढाल, और उनके तथा मैसूर-पठार के पच्छिम का समुद्र-तट मिलाकर कर्णाटक प्रान्त बनता है। बाकी पूरबी और पच्छिमी तट अर्थात् चोलमण्डल और केरल, उन के बीच की मलयाद्रि की अधित्यका और मैसूर पठार के पूरबी ढाल सहित द्रविड देश है। सिंहल स्पष्ट एक अलग प्रान्त है।

इस प्रकार दक्खिन भारत के निम्नलिखित छः टुकड़े होते हैं—महाराष्ट्र, उड़ीसा, तेलंगण, कर्णाटक, द्रविड और सिंहल।

§ ११. पैदावार और धन-सम्पत्ति — आर्थिक दिग्दर्शन

दक्खिन के भिन्न भिन्न प्रदेशों की आर्थिक उपज भिन्न भिन्न प्रकार की है। अधित्यकाओं की कृषि की उपज विशेष नहीं हो सकती, किन्तु कोंकण केरल और चोलमण्डल उस अंश में गंगा-गोमती-काँठों की बराबरी करते हैं। केरल के मैदान में आबादी की घनता अवध और तिरहुत के बराबर है, वह भारतवर्ष के सब से उपजाऊ और घने आबाद इलाकों में से है। नदियों के मुहानों की भिन्न भिन्न धाराओं के बीच नहरें निकालने का तरीका चोल देश का खास ईजाद है, जिसे दुनिया भर ने उसी से सीखा है। धान आदि की साधारण उपज के अतिरिक्त समूचे समुद्र तट पर नारियल और केले की विशेष उपज है। सिंहल-द्वीप तो चारों तरफ़ से नारियल के बगीचों से ढका है, और वही उसकी प्रधान उपज है। केरल-तट में समुद्र के बीच बीच घुस आने से अनेक झीलें बन गई हैं, जिनको घेरने वाले नारियल और केले के बगीचे मलयगिरि की चन्दन से लदी उपत्यकाओं से बहुत दूर नहीं हैं। उनके किनारे जो किसानों की झोंपड़ियां हैं, वे सब नारियल की ही लकड़ी से बनतीं; और उसीके पत्तों की चटाइयों से छायी जातीं हैं। उसीके रस्से नावों और जहाजों को खेंचने के काम आते हैं। उसके ताज़े फल के गूदे का दूध निकाल कर सिंहली लोग अपनी प्रत्येक तरकारी में घी के बजाय डालते हैं। उसके पत्तों की मशाल जलायी जातीं हैं। उसकी लकड़ी से लाठियां भी तैयार होती हैं। उसके और बीसियों उपयोग हैं। सचमुच सिंहल और केरल वालों के जीवन में नारियल एक ऐसी ज़रूरी वस्तु है कि उसके बिना भी दूसरे देशों के लोग अपनी ज़िन्दगी बसर कर सकते हैं, यह समझना उनके लिए कठिन होता है।

नारियल उन अनेक वस्तुओं में से एक है जो दक्खिन भारत और भारतीय महासागर के अन्य द्वीपों और देशों में ही उप-

जनी हैं. और जिनके व्यापार के इतिहास का संसार के आर्थिक इतिहास में आरम्भ से आज तक प्रमुख स्थान रहा है, यहां तक कि अनेक जातियों के इतिहास की प्रगति का रास्ता कई बार उसी व्यापार ने निश्चित किया है। चन्दन की उपज के लिए मलयाद्रि सदा से प्रसिद्ध रहा है। काली मिरच, पिप्पली, लौंग, इलायची आदि मसाले उसके पड़ोस में और भारतीय महासागर के द्वीपों और प्रदेशों में सदा से उपजते हैं। ये वस्तुएँ उन्हीं देशों में उपज सकती हैं जो भूमध्यरेखा के निकट और समुद्र से घिरे हों, और इस प्रकार जिनमें सर्दी गर्मी का विशेष अन्तर न होता हो। अत्यन्त प्राचीन काल से इन वस्तुओं की ख़ातिर संसार के सभी सभ्य देशों के साथ दक्खिन भारत का व्यापार-सम्बन्ध बना रहा है। आजकल सभ्य संसार के जीवन की एक और आवश्यक वस्तु भी है जिसका भारतीय महासागर के प्रदेशों की विशेष उपज में उल्लेख करना चाहिए। वह है रबर। रबर और फ़ौलाद पर आधुनिक जगत का तमाम यातायात निर्भर है। और फ़ौलाद के पहिये जहाँ फ़ौलाद की जमाई हुई पटड़ियों पर ही लुढ़क सकते हैं, वहां रबर के पहिये साधारण रास्तों पर जहां तहां दौड़ सकते हैं, इसी कारण आधुनिक युद्ध में उनका महत्त्व फ़ौलाद से भी अधिक है, क्योंकि लोहे की पटरियों को दुश्मन उखाड़ फेंके तो फिर उन्हें जमाने में समय लगता है। रबर के अन्य सैकड़ों उपयोग भी हैं। जिस पेड़ के दूध को जमा कर वह तैयार होता है वह बड़ पीपल गूलर और अंजीर की श्रेणी का है। पहले पहल वह दक्खिन अमरीका के ब्राज़ील देश में ही उपजता था. और वहां की सरकार ने उसका बीज या पौद बाहर ले जाना बिलकुल बन्द कर रक्खा था। पिछली शताब्दी ई० के पिछले हिस्से में एक चतुर अंग्रेज़ माली ने जिसे लंदन के शाही वनस्पतिशास्त्रीय बगीचे की तरफ़ से भेजा गया था, चोरी चोरी उसकी पौद इकट्ठी

की, और जब वह काफ़ी पौद जमा कर चुका तब एक ब्रिटिश जहाज जो ख़ास तौर से उसे ले जाने के लिए तैयार मौजूद था उसे उन पौदों के साथ लंदन ले भागा। वहां गर्म हवा वाले कांच के बन्द कमरों में उन पौदों को पाला-पोसा गया, और उनमें से जो कुछ एक बचे उन्हें फिर ब्रिटेन के पूरबी साम्राज्य में भेजा गया। अब सिंहल मलायु[1] प्रायद्वीप, तथा भारतीय महासागर के द्वीपों में उसकी इतनी उपज है जितनी ब्राज़ील में भी नहीं है भारतवर्ष में वह केवल सिंहल में मुख्यतया उपजता है।

भारतीय महासागर के तट प्रदेशों की इस विशेष कीमती उपज के अतिरिक्त दक्खिन की नदियों के तंग काँठों की दूसरी कृषि की उपज भी काफ़ी अच्छी है। खानदेश और बराड की काली मिट्टी में भारतवर्ष की सब से अच्छी कपास पैदा होती है। किन्तु उस प्रकार के उपजाऊ इलाकों का दक्खिन में विशेष विस्तार नहीं है। पहाड़ी "देश" की मुख्य उपज मकई, बाजरा, ज्वार आदि कु-धान्य हैं। विन्ध्यमेखला और दक्खिन की पहाड़ी दूनों[2] में सिंचाई का एक विशेष तरीका प्राचीन काल से चला आता है, जिसकी आधुनिक सिंचाई-विशारदों ने भरपूर प्रशंसा की है। जहां कहीं पहाड़ों या ऊँची ढांगों से घिरी हुई दून में एक तरफ़ बाँध बना कर उसके बरसाती पानी को रोका जा सके, वहां इस तरीके से कृत्रिम झीलें बना ली गई हैं। अजमेर का प्रसिद्ध आना-सागर उनका एक नमूना है, बुन्देलखंड में वैसी झीलों की भरमार है। वे दक्खिन और विन्ध्यमेखला के पहाड़ी प्रदेशों में सिंचाई का मुख्य साधन हैं। किन्तु उनके बावजूद भी वे पहाड़ी प्रदेश कृषि की उपज में मैदान का मुकाबला कर सकें, सो असम्भव है। किन्तु जंगल की उपज उनकी काफ़ी है, और खानों की उपज में तो

---

१. अंग्रेज़ी रूप 'मलय' प्रायद्वीप; दे० नीचे § ४१।

२. दून=घाटी, दे० नीचे, परिशिष्ट ३।

उत्तर भारतीय मैदान उनके सामने बिलकुल कंगाल है। दक्खिन का पठार खनिज पदार्थों में विशेष धनी है। प्राचीन काल से इस बात में उसकी प्रसिद्धि रही है। गोलकुण्डा की हीरे की खानें किसी ज़माने में संसार भर में प्रसिद्ध थीं। बेंगलूर के पास कोल्हार की सोने की खानें आजकल भी काम आरही हैं। दक्खिन के पहाड़ों की भूगर्भ-रचना बहुत ही प्राचीन होने के कारण अन्य अनेक प्रकार के खनिज उनमें हैं जो हिमालय में भी नहीं हैं। उनकी 'सफ़ेद कोयले' की सम्पत्ति भी कम नहीं है। पूना और बम्बई के बीच कार्ले की गुफ़ाओं के पास के प्रपातों से बम्बई के पड़ोस की रेलगाड़ियों के लिए बिजली निकाली जाती है, और शिवसमुद्रम् के प्रपातों की बिजली से ही कोल्हार की खानों के सब कारखाने चलते तथा मैसूर और बेंगलूर को बिजली मिलती है। भारतवर्ष के प्राचीन अर्थशास्त्री कौटिल्य ने स्थल की खानों के साथ जल की खानों की भी गिनती की है[१]। उसके समय के (३२५ ई० पू०) पहले से पाण्ड्य देश (द्रविड देश की अन्तिम दक्खिनी नोक, मदुरा तिरुनेवली ज़िले) और लंका के समुद्र से शंख, मोती और मूंगे निकाले जाते थे, और आज तक भी निकाले जाते हैं।

भारतवर्ष की भावी व्यावसायिक उन्नति में विन्ध्यमेखला और दक्खिन-पठार की खनिज सम्पत्ति विशेष सहायक होगी।

§ १२. पथपद्धति और ऐतिहासिक पर्यालोचन।

विन्ध्यमेखला के जिन मार्गों का हम पीछे उल्लेख कर आये हैं वे उत्तर भारत को दक्खिन से जोड़ते हैं, इसीलिए उनका दक्खिनी छोर दक्खिन भारत में आकर समाप्त होता है। दक्खिन के अपने

१ अर्थशास्त्र २, ६—'खनि' का लक्षण।

अन्दर के मुख्य रास्तों पर विचार करने से पहले उनकी चर्चा को निपटा लेना सुविधाजनक होगा।

दिल्ली से जो रास्ता राजपूताना या मालवा लांघ कर गुजरात के समुद्रतट पर निकलता है वह बड़ोदा के दक्खिन सीधा पच्छिमी समुद्र तट के साथ साथ चला जा सकता है। किन्तु पच्छिमी तट का विशेष महत्त्व केवल उसके बन्दरगाहों के कारण है, अन्यथा वह तट सह्याद्रि की ऊँची दीवार के कारण दक्खिन की खुली दूनों से बिलकुल कटा हुआ है। इसीलिए बन्दरगाहों से सम्पर्क होने तक तो वह रास्ता खूब चलता है, आगे वह बहुत कुछ सुनसान हो जाता है। मुस्लिम काल के इतिहास में इसी कारण कोंकण प्रायः विजयिनी सेनाओं की पहुँच से दूर और स्वतन्त्र बना रहता था, उसको रास्ता देने वाले घाटों तक भी दक्खिन के मुख्य शासकों की सत्ता मुश्किल से पहुँचती थी। आजकल भी बड़ोदा से बम्बई तक के रेलपथ का जहां बहुत ही अधिक महत्त्व है, वहां उसके दक्खिन के तट में केवल मंगलूर से कालीकट होते हुए कोचि[1] तक और कोल्लम[2] से त्रिवेन्द्रम् तक स्थानीय रेलपथ हैं।

मालवा वाला रास्ता तापी के साथ जाने के बजाय उस के बिचले कांठे से दक्खिनपच्छिम सातमाल शृंखला के पूरबी और अजिंठा-शृंखला के पच्छिमी छोर के बीच से निकल कर सह्याद्रि को नासिक के पास किसी घाट से लांघ कर भी पच्छिमी

---

१ पुर्तगाली लोग हरेक शब्द को नाक में बोलते हैं, इसीलिए उन्होंने दक्खिन के 'बसई' और 'कोचि' को अपनी भाषा में Bassein और Cochin—बसईं और कोचिं—लिखा, मक्खी पर मक्खी मारने वाले हिंदी लेखकों ने उन्हीं को बसीन और कोचीन बना डाला है।

२. बिगड़ा हुआ अंग्रेज़ी रूप—क्विलोन।

तट पहुँच सकता है। इसमें उसे चक्कर बच जाता है। प्राचीन काल से दक्खिन भारत के उत्तर-पच्छिमी छोर को व्यापार का रास्ता इसी प्रकार काटता रहा है। सोपारा या शूर्पारक प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध 'तीर्थ'[1] (बन्दरगाह) रहा है, उससे उज्जैन तक व्यापारियों के सार्थ (काफ़िले) इसी रास्ते आते जाते थे। नासिक के पड़ोस में सह्याद्रि के नानाघाट में सातवाहन और क्षत्रप राजाओं के अभिलेख मिले हैं, जिस से प्रकट होता है कि नानाघाट उस समय चलते रास्ते पर था; शायद प्राचीन रास्ता वहीं सह्याद्रि को लांघता था। शिवाजी और सम्भाजी के समय बादशाही फ़ौजें उस के पड़ोस के थलघाट से जाया करतीं थीं, और आजकल जलगाँव से बम्बई तक रेल का भी ठीक वही रास्ता है। किन्तु बड़ोदा-बम्बई वाले टुकड़े की तरह वह भी दक्खिन भारत के केवल एक छोर में से गुजरता है।

प्रयाग से बुन्देलखण्ड के आरपार नर्मदा की उपरली घाटी (जबलपुर) हो कर वेणगंगा के उपरले काँठे (नागपुर) में जो विन्ध्य-मार्ग उतरता है, वह आगे गोदावरी-काँठे के साथ पूर्वी तट पर निकलते हुए दक्खिन के एक बड़े किनारे को काट लेता है। गोदावरी-कृष्णा-काँठों के आंध्र प्रदेश में दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० के इक्ष्वाकु क्षत्रियों के अभिलेख पाये गये हैं। निश्चय से वे इक्ष्वाकु उपनिवेश स्थापक उत्तरी कोशल से उसी रास्ते आन्ध्र देश तक आये होंगे। किन्तु उस रास्ते के किनारे पर मेकल और बस्तर के जंगल से घिरे प्रदेश हैं, इसी कारण वह सदा उतना चलता नहीं रहा।

---

१. पालि वाङ्मय में बन्दरगाह के अर्थ में प्रायः तीर्थ शब्द का प्रयोग होता है।

पूर्वी तट के साथ साथ आने वाले जिस रास्ते का हम विन्ध्य-मार्गों के प्रसंग में उल्लेख कर आये हैं, वह एक बड़ा राजपथ है, और उसे विन्ध्य-मार्गों के बजाय दक्खिन भारत के मार्गों में ही गिनना चाहिए। वह भारतवर्ष के सब से अधिक चलते राजपथों में से एक है। उस रास्ते जाने वाली सेनाओं ने जो कई बार भारतवर्ष का इतिहास बनाया है, उसका उल्लेख पीछे कर चुके हैं। आजकल उस रास्ते के साथ साथ तट पर एक लम्बी नहर भी चली गई है, जिसके अनेक अंशों में स्टीमर चल सकते हैं।

पूर्वी तट के उस रास्ते की तरह दक्खिन भारत के उत्तरी 'तट' के रास्ते का भी पहले उल्लेख कर चुके हैं। यह वह रास्ता है जो विन्ध्यमेखला और दक्खिन की विभाजक रेखा में से सूरत से कलकत्ता तक गया है।

अब हम दक्खिन भारत के ख़ास अपने, उसके अन्दर के, उन मार्गों की ओर ध्यान दे सकते हैं जिनमें सेनाओं, व्यापारियों, उपनिवेश-स्थापकों और सभ्यता के प्रवाह बहते रहे हैं। वे रास्ते उसकी चौड़ाई के आरपार उसकी नदियों की दिशा में हैं। सबसे पहला वह जिसे मनमाड से मसुलीपट्टम तक का आजकल का रेलपथ सूचित करता है। दूसरा, उसी प्रकार, पूना से कांजीवरम्; तीसरा गोआ से तंजोर-नागपटणम्[१]; चौथा, कालीकट से रामेश्वरम्; और पाँचवां कोल्लम से तुतकुडि[२]। इनमें से पाँचवाँ तो एक छोटा सा स्थानीय मार्ग है, हमने उसकी गिनती बाकी चार के साथ केवल इस कारण की है कि वह भी उन्हीं की दिशा में है। चौथा जो पालघाट होकर गुज़रता है, [illegible]

१. बिगाड़ा अंग्रेज़ी रूप—नेगापटम्।

२. पुर्तगाली रूप—[illegible]।

से चोलमंडल और केरल के बीच का मुख्य मार्ग रहा है; तामिल तट से मलबार (केरल) जाने वाली सेनायें सदा उसी रास्ते जाती रही हैं। तो भी उसका केवल स्थानीय महत्त्व है; समूचे दक्खिन के लिए पहले तीन विशेष महत्त्व के हैं, उनमें से भी दूसरे का गौरव सब से अधिक है।

मनमाड से जो रास्ता दक्खिनपूरब बढ़ता है वह अजिंठा-शृंखला और बालाघाट शृंखला के बीचोंबीच गोदावरी के काँठे में से जाता है। दौलताबाद, औरंगाबाद, जालना होते हुए वह नान्देड़ पर गोदावरी को आ छूता है और कुछ दूर और उसके बायें जाने के बाद गोदावरी को लांघ लेता है। यहाँ से आजकल का रेलपथ दक्खिन झुकता है हैदराबाद की राजधानी को छूने के लिए, और वहाँ से उत्तर वारांगल तक आ कर वह फिर अपनी दिशा ठीक कर लेता और बेजवाड़ा होते हुए समुद्रतट पर जा निकलता है। मुस्लिम युग से ठीक पहले के महाराष्ट्र की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) और उसी युग की तेलंगण की राजधानी वारांगल दोनों इसी रास्ते पर पड़ती हैं। इस बात का प्रमाण है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में और उससे पहले भी यह रास्ता खूब चला हुआ था। प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में जो उसी शताब्दी का है, गोदावरी के बिचले काँठे के अस्सक (अश्मक) देश से बावरी नामक एक ब्राह्मण और उसके शिष्यों के बुद्ध के पास राजगृह जाने का वर्णन है[1]। वे लोग अपने देश से चल कर पहले मूलक देश की राजधानी प्रतिष्ठान अर्थात् आधुनिक पैठन पर जो औरंगाबाद के लगभग ठीक दक्खिन गोदावरी तट पर है, आये; वहां से उत्तर माहिष्मती से उज्जयिनी

---

१. गाथा ९७७, १०१०—१०१३।

तक जाकर फिर[1] विदिशा की तरफ़ पूरब फिरे, और कौशाम्बी, साकेत, कपिलवास्तु, वैशाली होते हुए अन्त में राजगृह पहुँचे। विदर्भ या बराड के बाद दक्खिन में आर्यों के उपनिवेश मूलक और अश्मक ही थे। प्राचीन अनुश्रुति में उनके नाम नहीं सुन पड़ते, पहले पहल उन का उल्लेख भारत-युद्ध के बाद के राज्यों में[2] और फिर सोलह महाजनपदों की सूची में ही पाया जाता है। इससे अन्दाज़ होता है कि वे अन्दाज़न नौवीं शताब्दी ई० पू० से पहले स्थापित हो चुके थे। अश्मक की सीमा सोलह महाजनपद-युग में एक तरफ़ अवन्ति (मालवा) और दूसरी तरफ़ कलिंग से लगती थी[3] और मूलक राष्ट्र तब उसी में सम्मिलित था। उपनिवेशों के इस भौगोलिक और ऐतिहासिक क्रम से प्रकट है कि आर्यों का प्रवाह उत्तर भारत से राजपूताना मालवा और बुन्देलखण्ड के रास्ते भरुकच्छ, माहिष्मती और विदर्भ पहुँच कर वहां से गोदावरी के साथ साथ दक्खिनपूरब बहा। इस प्रकार मनमाड-मसुलीपट्टम-मार्ग को सभ्यता की यात्रा का एक प्रधान राजपथ कहना सर्वथा संगत है।

पूना से शुरू होने वाला रास्ता सह्याद्रि की अहमदनगर वाली बांही के बीचोंबीच जाता है, और आगे गोलकुण्डा-पठार के उसी तरह दक्खिन जाता है जैसे पहला रास्ता उसके उत्तर। पहला रास्ता गोदावरी का था, यह भीमा का है। यह ध्यान देने की बात है कि बिदर-गोलकुण्डा का पठार दोनों के बीच पड़ता,

---

१. उज्जैन और विदिशा के बीच गोनर्द का नाम है जिसकी जगह अभी ठीक निश्चित नहीं हुई; इसी कारण उज्जैन से ही रास्ता पूरब फिरता था या कुछ और उत्तर जाकर सो नहीं कहा जा सकता।

२. प्रा० अ०, पृ० १८०, १८१, २८६।

३. चुल्लकलिंग जातक (३०१)।

और दोनों को काबू करता है। इस प्रकार मुस्लिम काल में बहमनी रियासत के जो टुकड़े हुए थे—अहमदनगर गोलकुंडा, बीजापुर—उनके बीच बिदर कुछ समय तक स्वतन्त्र बना रहा था। भीमा के कृष्णा में मिलने के बाद यह रास्ता कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब को पूरबी छोर पर काट कर नानसलई परिवार के पच्छिम निकल आता है, और फिर वडपैण्णार के साथ पूरबी घाट की शृंखला पार कर पूरबी तट पर। दक्खिन भारत के इतिहास में प्रायः मध्य कृष्णा-कंठे के उत्तरपच्छिम और दक्खिनपूरब दो बड़ी राजशक्तियां बनी रही हैं। चोलमण्डल की शक्ति का केन्द्र प्रायः काञ्ची रहा है, और उसके तथा महाराष्ट्र की शक्ति के बीच प्रायः हमेशा लड़ाई भी रही है। यह रास्ता उनकी सेनाओं के जाने आने की स्वाभाविक दिशा को सूचित करता है।

तीसरा रास्ता भी एक तरह से दूसरे की आवृत्ति है। वह महाराष्ट्र के दक्खिनी छोर से कृष्णा (मलप्रभा) और तुंगभद्रा (वरदा) के बीच वाली सह्याद्रि की बाँहों से चल कर या तो पूरब जाते हुए विजयनगर पर तुंगभद्रा लाँघ कर पैण्णार के उपरले स्रोत पर दूसरे रास्ते को पकड़ लेता, और इस प्रकार मैसूर पठार के उत्तार उत्तार निकल जाता है, और या शुरू से दक्खिनपूरब झुक कर हरिहर पर तुंगभद्रा पार कर मैसूर पठार के अन्दर घुसता और कावेरी के साथ उसके बाहर निकलता है। आजकल का रेलपथ मैसूर से बेंगलूर कोल्हार हो कर पूरबी घाट पार करता है, किन्तु यदि वह मैसूर के दक्खिन चामराज-नगर से कावेरी तट पर इरूड से जोड़ दिया जाय, तो वह ठीक इस रास्ते को सूचित करेगा। महाराष्ट्र के चालुक्यों की राजधानी वातापी (बदामी) थी, और चोलमंडल के पल्लवों की काञ्ची;

तब उसी रास्ते प्रायः सेनाओं का जाना आना होता था जिसे हम ने तीसरे रास्ते का पहला खण्ड कहा है।

यह ध्यान देने की बात है कि कृष्णा-तुंगभद्रा का उपजाऊ दोआब दक्खिन के उक्त दोनों बड़े रास्तों पर ठीक बीच में पड़ता है; और वह दक्खिन भारत के चार बड़े प्रान्तों—महाराष्ट्र, कर्णाटक, तेलंगण और द्रविडदेश—के ठीक मध्य में इस प्रकार है कि उस पर उनकी परस्पर छीनझपट होते रहना बिलकुल स्वाभाविक है। दक्खिन भारत के इतिहास में प्रायः उसके उत्तर और दक्खिन दो बड़ी शक्तियां रहीं हैं और वे दोनों प्रायः उसी में अपनी तलवारें भिड़ाती रहीं है। उसका पच्छिमी छोर अर्थात् घटप्रभा से वरदा तक की सह्याद्रि की बाँहियों की अधित्यका कर्णाटक-पठार का उत्तारी ढाल भी माना जा सकता है। इसीलिए वह कभी महाराष्ट्र में रहा है तो कभी कर्णाटक में, और कभी उसमें रहने वाली शक्ति महाराष्ट्र और कर्णाटक दोनों पर काबू करती रही है। वह 'दक्खिनी मराठा देश' भी है और 'उत्तारी कनाडा देश' भी। उसकी जनता महाराष्ट्र है, और भाषा कनाडी; बहुत सी जनता दुभाषिया है। वातापी के पहले महाराष्ट्र चालुक्य राज्य (लगभग ५५०—७५३ ई०) का केन्द्र उसी 'उत्तारी कनाडा देश' में था, और उसकी काञ्ची के पल्लवों के साथ सदा की लड़ाई थी। उन चालुक्यों की एक शाखा वेंगि अर्थात् आन्ध्र देश में भी स्थापित थी। फिर जब महाराष्ट्र में राष्ट्रकूटों का राज्य रहा (७५३—९७३ ई०), तब भी काञ्ची के साथ पहले की सी लड़ाई बनी रही। पल्लवों के स्थान में चोलों (लगभग ६००-१३०० ई०) और राष्ट्रकूटों के स्थान में फिर कल्याणी के चालुक्यों (९७३—११९० ई०) का राज्य स्थापित होने पर भी कृष्णा के उत्तर और दक्खिन के राज्यों का वह स्वाभाविक वैर शान्त नहीं हुआ। मुस्लिम काल में बहमनी रियासत और विजयनगर के राज्यों ने

उस सनातन प्रथा को बनाये रक्खा, और रायचूर-मुद्गल का दोआब उनमें से कभी एक और कभी दूसरे के पास रहता। अन्त में उसी दोआब में तालीकोटा की रक्तरंजित भूमि पर विजयनगर के सम्राटों ने अपना मुकुट खोया (१६६५ ई०)। इस प्रकार हम कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब को दक्खिन का कुरुक्षेत्र कह सकते हैं। शिवाजी की महाराष्ट्र से चोलमण्डल पर चढ़ाई फिर उसी कुरुक्षेत्र के रास्ते हुई थी।

दक्खिन भारत के उक्त प्रधान रास्तों को परस्पर जोड़ने वाले कई रास्ते भी हैं. और उनमें से कुछ एक विशेष महत्त्व के हैं। मनमाड से अहमदनगर होकर धोंड, वाडी से वारांगल और गुन्तकल से बेजवाड़ा वाले आधुनिक रेलपथ पहले और दूसरे रास्ते को परस्पर जोड़ते हैं। उसी प्रकार पूना-बेलगाम-लोंढा, शोलापुर-बाजापुर-बदामी-गदग और इरूड-सेलम-मोसुर वाले टुकड़े दूसरे और तीसरे को; और यदि हुबली से मैसूर-इरूड जाने वाले को ही मुख्य तीसरा रास्ता कहें तो हुबली-गदग-बल्लारि-गुन्तकल वाले टुकड़े को भी तीसरे और दूसरे के बीच वाले रास्तों में गिनना चाहिए। इनमें से पच्छिमी रास्ते महाराष्ट्र के उत्तरी और दक्खिनी हिस्सों के बीच सेनाओं, उपनिवेश-स्थापकों और व्यापार के यातायात की दिशा सूचित करते हैं।

पूना से बेलगाम वाला रास्ता ठेठ महाराष्ट्र की कृष्णा की उपरली तंग दून के अन्दर का और उस दून से दक्खिन भारत के उस केन्द्रस्थ प्रदेश—भीमा-कृष्णा-तुंगभद्रा-काँठे—तक, जिसके महत्त्व को हम देख चुके हैं, जाने का एकमात्र रास्ता है। उस केन्द्र प्रदेश में दक्खिन के साम्राज्यों की राजधानियां अनेक बार रही हैं। प्रकट है कि यदि उन साम्राज्यों के शासक अपने सिर के ऊपर की उस तंग पहाड़ी दून को काबू न रख सकें तो न केवल उनका पच्छिमी तट के बन्दरगाहों से सम्बन्ध टूट जाय, प्रत्युत उनकी

अपनी सत्ता भी ख़तरे में रहे। बीजापुर की आदिलशाही की राजधानी उसी केन्द्र प्रदेश में थी, और शिवाजी का आधार कोंकण और मावलों के गढ़ों में। बीजापुर की तरफ़ से महाराष्ट्र पर आक्रमण करने के लिए बीजापुर वालों का सब से पच्छिमी थाना कृष्णा-दून के मुँह पर मिरज में था। उसके पच्छिम-दक्खिन उसी दून में कोल्हापुर और ठीक पच्छिम मराठा इतिहास के सुप्रसिद्ध किले पन्हाला और पवनगढ़ थे। उसी दून के उत्तरी छोर पर महाबलेश्वर के जंगलों में शिवाजी ने अफ़ज़लखाँ की और हम्बीरराव मोहिते ने सरजाखां की सेनाओं को पाठ पढ़ाया था। यदि विन्ध्यमेखला की तुलना हिन्दूकुश से की जाय, और कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब (या तालीकोटा दोआब) की कुरुक्षेत्र से, तो इस उपरली कृष्णा-दून को दक्खिन का खैबर और रावलपिंडी कह सकते हैं। महाराष्ट्र को उस दशा में दक्खिन का अफ़गानिस्तान और चोलमंडल को गंगा-गोमती-कांठा कहना होगा। विचार करने पर यह रूपक अनेक पहलुओं पर पूरा उतरता दीखेगा।

इस प्रसंग में सह्याद्रि के घाटों के विषय में दो शब्द कहना उचित है। मराठा इतिहास में उनका विशेष गौरव है। उनमें से कुछ एक बड़े और खुले हैं, अनेक ऐसे तंग हैं कि उनमें या उन पर से छकड़े नहीं गुज़र सकते। कोंकण से 'देश' जाने वाले रास्ते उन घाटों पर आसानी से काबू किये जा सकते हैं। शिवाजी ने उनको काबू करने वाली सह्याद्रि की प्रत्येक चोटी पर किलाबन्दी कर दी थी। पच्छिम से सह्याद्रि की सीधी भीत के खड़ी होने के कारण ये किले बिलकुल सुरक्षित होते थे, यदि उन पर आक्रमण हो सकता था तो पूरब से किन्तु मावलों के पेचीदा पहाड़ी मार्गों में न तो खुले मैदानों में पले हुए बादशाही घोड़े मराठे टट्टुओं का पीछा कर सकते थे और न बादशाही सैनिक

गठीले मावलियों का। युद्ध में सामने लड़ने का मराठा सेना को कभी मतलब नहीं रहा, छापे मार कर वे पहाड़ी क़िलों की शरण ले सकते थे। सह्याद्रि और कोंकण शिवाजी जैसे क्रान्तिकारी के लिए बहुत बढ़िया आधार थे।

समूचे दक्खिन की भारतवर्ष के इतिहास में क्या हैसियत है यह प्रश्न बाक़ी है। दक्खिन में न बड़ी नदियां हैं, न खुले विस्तृत मैदान। उसका अधिकांश भाग पहाड़ी और ऊसर है। धरती की उपज में वह उत्तर भारत का मुक़ाबला नहीं कर सकता। इन बातों ने इतिहास में एक बड़ा महत्वपूर्ण परिणाम पैदा किया है। भारतवर्ष के इतिहास का गुरुता-केन्द्र प्रायः उत्तर में ही रहा है। किन्तु इसका कारण केवल भौगोलिक स्थिति—दक्खिन भारत में बड़ी नदियों का न होना—ही नहीं है, प्रतिभाशाली आर्य जाति के आरम्भ में उत्तर से आने का इस अवस्था को पैदा करने में बड़ा प्रभाव रहा। डा० विन्सेन्ट स्मिथ का यह कथन कि 'कोई दक्खिनी शक्ति उत्तर भारत को काबू करने का कभी जतन ही न कर सकती थी,'[1] जल्दबाजी में और सब साक्षियों को तोले बिना किया हुआ फ़ैसला है। हम देख चुके हैं कि दक्खिन की खेती की उपज की कमी को खनिज उपज पूरा कर देती है, और विदेशी व्यापार से उसे सदा बड़ी आमदनी होती रही है। फिर गुजरात पर अधिकार करना दक्खिनी शक्तियों के लिए प्रायः सुगम रहा है, और गुजरात तथा चोलमंडल इन दो उपजाऊ प्रान्तों की आमदनी किसी साम्राज्यकामी शक्ति के लिए अच्छा सहारा हो सकती है। भौगोलिक कारणों से ही दक्खिन में कोई अखिल-भारतीय साम्राज्य स्थापित होना असम्भव हो, पिछले इतिहास का तजुरबा भी वैसा नहीं है। सातवाहन राजाओं ने पहली शताब्दी ई० पू० में किन दशाओं में मगध-साम्राज्य को जीता, कितनी देर वह

1. औक्सफ़र्ड हिस्टरी, भूमिका, पृ० ३।

उनके कब्ज़े में रहा, और वे उत्तर भारत में अधिक समय त
क्यों न टिके, इन प्रश्नों पर इतिहास के किसी विद्वान ने आ
तक कुछ प्रकाश डालने का जतन नहीं किया। "भारतीय इतिहा
की रूपरेखा" में मैंने यह मत प्रकट किया है कि मगध-साम्रा
में सातवाहनों के पैर न टिकने का कारण यह था कि सिन्ध
उसी समय शकों के आ जाने से उनके उत्तरी फैलाव के आधा
भूत उज्जैन प्रान्त को स्वयं पिछली तरफ़ से ख़तरा हो गया था
यदि वह बात न होती तो अपनी आर्थिक दुर्बलता के कारण
सातवाहन राज्य उत्तर भारत में न जम पाता, सो नहीं कहा
सकता। किन्तु इतनी बात ध्यान देने की है कि पहली शता
ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक भूतपूर्व मगध-साम्रा
की अपेक्षा दक्खिन में अधिक स्थायी और व्यवस्थित शासन
रहा। उसी प्रकार चोलमण्डल में सात सौ बरस तक (लगभ
२२५—९०० ई०) पल्लवों का राज्य बना रहना इतिहास
असाधारण घटनाओं में से एक है। यह स्थिरता क्या स्वयं समृ
का कारण नहीं हुई ?

फिर दक्खिन भारत से भी उत्तर की तरफ़ अनेक विजय
प्रवाह जाते रहे हैं। सातवीं शताब्दी में और उसके बाद चालुक
का महाराष्ट्र से गुजरात की तरफ़ फैलना निश्चित है; उसी प्र
उत्तर भारत के राठौर श्रद्धेय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
मत में दक्खिन से आये हुए राष्ट्रकूट हैं; बंगाल के सेन राजा
"दक्षिणात्य क्षोणीन्द्र"[1] थे। वे सब पुरानी बातें छोड़ भी दें,
मराठा इतिहास का अन्तिम प्रकरण ही स्मिथ की बात को गल
सिद्ध करने को बस है।

---

१ देवपाड़ा का अभिलेख, एपिग्राफिया इंडिका, १, पृ० ३०५ से

प्रकरण पाँचवाँ

सीमान्त की पर्वतमालायें

§ १३. हिमालय की पर्वतशृङ्खलायें और तिब्बत

भारतवर्ष की आधी परिक्रमा जिन पर्वतमालाओं ने की है, उनमें से मुख्य हिमालय है। उन पर्वतों की सीमाओं की विवेचना से ही भारतवर्ष की उत्तरी सीमा भी स्पष्ट होगी।

सिन्ध-गंगा-मैदान के उत्तर लगातार हिमालय चला गया है। सिन्ध और ब्रह्मपुत्र दोनों नदियाँ हिमालय के उत्तर तरफ़ पीठ पीछे एक दूसरे के बहुत नज़दीक निकल कर एक पच्छिम और दूसरी पूरब रुख़ करके उसका उत्तरी घेरा करते हुए अन्त में दक्खिन फिर कर भारतवर्ष के मैदान में उतरी हैं। जहाँ उन्होंने दक्खिन मुँह फेरा है, वहाँ उनकी धारायें ही आधुनिक भूगोल-शास्त्रियों की परिभाषा में हिमालय की पच्छिमी और पूरबी सीमायें हैं। अर्थात् सिन्ध-ब्रह्मपुत्र ने हिमालय की तीन तरफ़ परिक्रमा की है। काञ्चनजंघा, गौरीशंकर, धौलगिरि, नन्दादेवी, नंगा पर्वत आदि अनेक प्रसिद्ध पहाड़ हिमालय की शृङ्खला में सम्मिलित हैं। मुख्य रूप से 'हिमालय' शब्द का प्रयोग उन्हीं संसार में सबसे ऊँचे पहाड़ों की शृंखला के लिए किया जाता है। किन्तु उस शृंखला के नीचे जो छोटे पहाड़ों की परम्परायें फैली हुई हैं और जिन्हें हिमालय की निचली सीढ़ियाँ कहना चाहिए, वे भी हिमालय के परिवार में सम्मिलित हैं। बड़ी चोटियों की उस रेखा से हिमालय के चरणों अर्थात् मैदान के सिरे तक की चौड़ाई विभिन्न स्थानों पर १५० से २०० मील तक है। इस चौड़ाई में फैले पहाड़-पहाड़ियाँ नीचे से ऊपर तीन दर्जों में बाँटे जाते हैं, जिन्हें क्रम से बाहरी शृंखला, भीतरी शृंखला और गर्भ-शृङ्खला, अथवा

उपत्यका, छोटा हिमालय और बड़ा हिमालय कहते हैं। अन्यत्र मैंने दिखलाया है कि हमारे पुरखा भी इस भेद को पहचानते थे और इन श्रृंखलाओं को क्रम से उपगिरि, बहिर्गिरि और अन्तर्गिरि कहते थे[2]।

सिन्ध-गंगा मैदान का उत्तरी छोर समुद्र की सतह से १०००-१२०० फुट ऊँचा है। उसके ऊपर एक छोर से दूसरे छोर तक लगातार २५ से ५० मील तक पहले छोटी पहाड़ियों का एक हाशिया चला गया है। वही उपत्यका, बाहरी श्रृंखला या उपगिरि-श्रृंखला है, जिसके उत्तरी छोर पर हम प्रायः ३००० फुट की ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। हरद्वार से देहरादून तक की पहाड़ियाँ बाहरी श्रृंखला का एक अच्छा नमूना हैं। ब्यास और सतलज के बीच सोलासिंगी श्रृंखला, ब्यास से राप्ती तक की सुप्रसिद्ध शिवालक श्रृंखला, राप्ती-घाटी की दुँदवा श्रृंखला और नेपाल तराई की चूड़िया-चौकी श्रृंखला सब उपगिरि या बाहरी श्रृंखला के ही अंश हैं। इस श्रृंखला के नीचे और बीच का मैदान नैनीताल जिले में भाभर और नेपाल में तराई कहलाता है। देहरादून प्रदेश में उसे ही दून कहते हैं। वास्तव में दून शब्द संस्कृत 'द्रोणी'[3] से बना है, जिसका अर्थ है घाटी। पहाड़ियों के

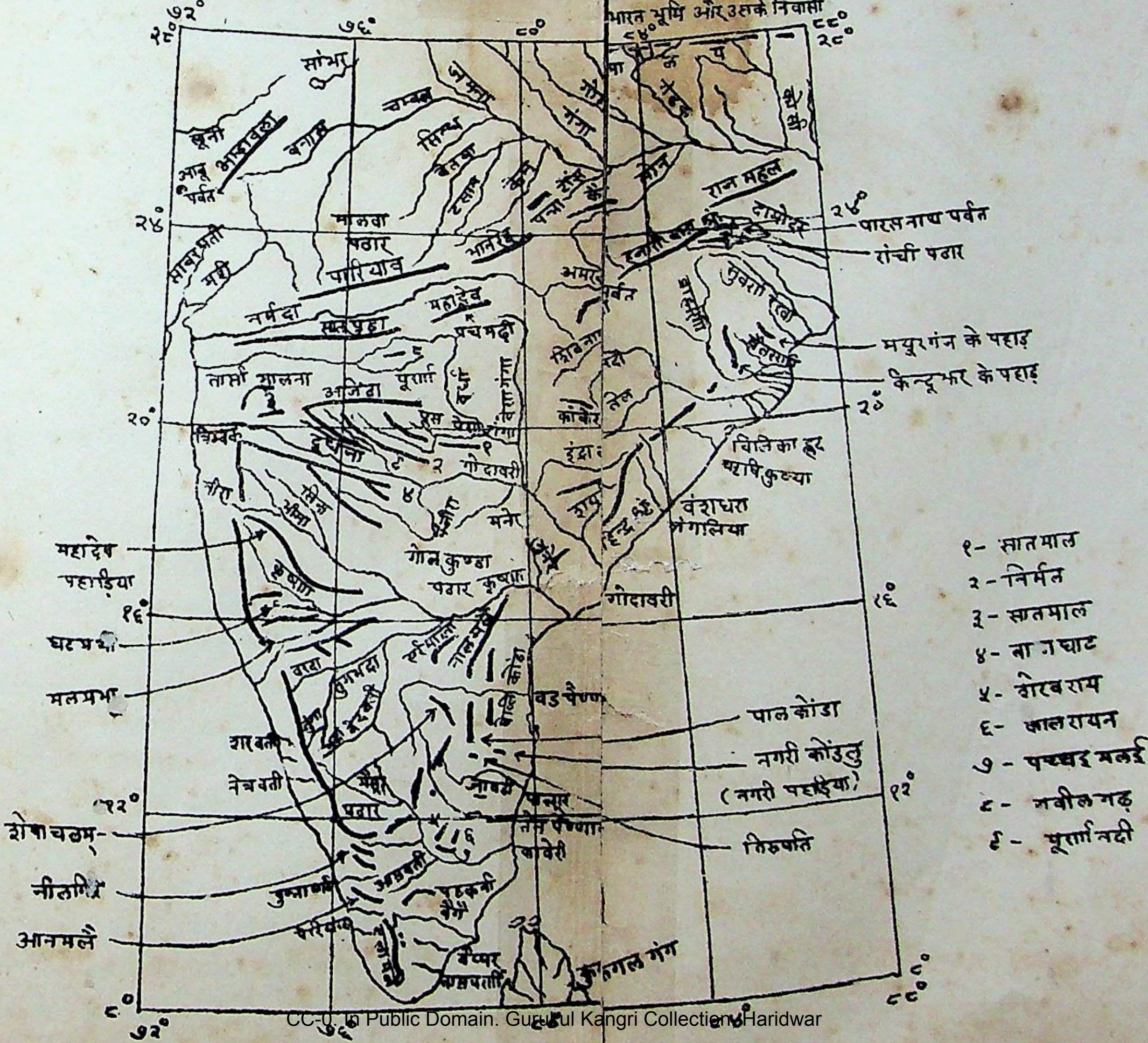
---

१. 'रघुज लाइन ऑफ़ कॉन्क्वेस्ट एलौंग इण्डियाज़ नौर्दन बोर्डर' (भारतवर्ष के उत्तरी सीमान्त पर रघु की विजययात्रा) शीर्षक लेख में जो छठी ओरियण्टल कान्फ़रेन्स (प्राच्य विद्या सम्मेलन) पटना (१९३०) की कार्रवाई में सम्मिलित किया गया है। आगे इस लेख का निर्देश 'रघु० दि०' (रघु-दिग्विजय) संकेत से किया जायगा।

२. दे. नीचे, परिशिष्ट १ (७ इ)।

३. मार्कण्डेय पुराण ५५, १४; वायु पु. १म खण्ड, ३६, ३३, जहाँ द्रोणी के मुकाबले में 'स्थली' शब्द कश्मीरी उडर (पठार) का समानार्थक दीखता है; ३७, १-३; और ३८, १। ३८ वें अध्याय के ६३, ६५, ६७, ६९, ७५, ७६ श्लोकों में फिर 'स्थली' शब्द आया है।

विन्ध्य मरवला औरवन के पर्वत और पानी



बीच का मैदान होने से उसे दून कहना ठीक ही है। बंगाल और आसाम में वही दूनें दुआर कहलाती हैं। वास्तव में तराई की उन पहाड़ियों के बीच बीच गई हुई दूनें या घाटियां असल हिमालय का 'दुआर' या द्वार हैं। कई बार शिवालक शब्द जाति-वाचक अर्थ में समूची बाहरी शृंखला के लिए बर्त्ता जाता है। शिवालक की दूनों में पहाड़ और मैदान का संगम होता है. इसी कारण पहाड़ और मैदान दोनों के अधिकांश वृक्ष-वनस्पति और जीव-जन्तु शिवालक में पाये जाते हैं। वानस्पतिक और जान्तविक जीवन की विविधता में संसार का कोई हिस्सा शिवालक और उसकी दूनों का मुकाबला नहीं कर सकता। उसके पहाड़ी जंगल ठेठ हिमालय के जंगलों में अधिक घने और शिकार में धनी हैं। उसकी खेती सब खुली दूनों में ही होती है, ठेठ हिमालय की तरह पहाड़ की पीठ पर नहीं। उन्हीं दूनों में अनेक सुन्दर आबाद बस्तियां भी हैं।

उनके सिर पर भीतरी शृंखला के पहाड़ एकाएक उठ खड़े दीखते हैं। जहां बाहरी और भीतरी शृंखला का संगम होता है, वहां दोनों का अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है। देहरादून में डालन-वाला के बंगलों से मनसूरी की दीपमाला दीखती है, किन्तु उस तक पहुँचने के लिए ४००० फुट की चढ़ाई चढ़नी पड़ती है। भीतरी शृंखला के पहाड़ हिमालय की गर्भ शृंखला से फूट कर उत्तर से दक्खिन कहीं पूरब और कहीं पच्छिम झुकते हुए दूर दूर तक फैले हुए हैं. बहुत बार उनकी दिशा गर्भ शृंखला के लगभग समानान्तर हो जाती है। कश्मीर की पीरपंचाल शृंखला कांगड़ा-कुल्लू-कनौर की धौला धार, जौनसार और गढ़वाल की नाग टिब्बा शृंखला, नेपाल की महाभारत शृंखला सब भीतरी शृंखला के पहाड़ों के नमूने हैं। उत्तर से दक्खिन वह शृंखला और उसकी बस्तियाँ ५० से ७० मील तक फैली हैं। हजारा,

कश्मीर, चम्बा, काँगड़ा, शिमला, गढ़वाल, कुमाऊँ, नेपाल, सिकिम आदि हिमालय की सब प्रसिद्ध और मुख्य बस्तियाँ और घाटियाँ उसी में हैं। वे ४॥, ५ हज़ार फ़ुट से ८-९ हज़ार फ़ुट तक की ऊँचाइयों पर बसी हैं। उनका पूरा विवरण आगे दिया जायगा।

उनके सिर पर फिर एकाएक गर्भ शृंखला के पहाड़ उठ खड़े दीखते हैं जिन पर सनातन हिमरेखा जमी रहती है। उस शृंखला में नंगा पर्वत, बन्दरपूँछ, केदारनाथ, नन्दादेवी, धौलगिरि, गोसांईंथान, गौरीशंकर, काञ्चनजंघा आदि पहाड़ हैं। उन पहाड़ों की शृंखला बीच बीच में लगातार टूटी हुई है, और उन व्यवधानों में से कई नदियों की घाटियों ने रास्ते बना रक्खे हैं। भारतवर्ष की मुख्य नदियों में से केवल चिनाब, जमना और तिस्ता हिमालय की गर्भ-शृंखला में से निकली हैं; सतलज, गंगा, घाघरा, गंडक, कोसी सब ऊपर से उस शृंखला को बीचोंबीच काट कर उतरी हैं। गर्भ शृंखला के पहाड़ों पर बस्तियाँ नहीं हैं, पर इन नदियों ने उस शृंखला के आरपार जो घाटियाँ बनाई हैं वे सब दूर तक आबाद हैं. उनकी ऊँचाई ६-१० से १२-१३ हज़ार फ़ुट तक है। सिन्ध-कोहिस्तान, कनौर, मीलम, दार्मा, हुमला, मंगूभोट, और मुक्तिनाथ की घाटी उन बस्तियों के नमूने हैं। उनका ब्यौरा भी आगे दिया जायगा।

आधुनिक भूगोलवेत्ता हिमालय की तुलना एक कृपाण से करते हैं जिसकी मूँठ नंगा पर्वत तथा नोक पूरबी छोर है। कृपाण की तरह वह नंगा पर्वत के पूरब लहरा कर दक्खिन झुक गया है और कांचनजंघा के पूरब उसका पूरबी छोर फिर उत्तर को मुड़ गया है।

आधुनिक भूगोलशास्त्रियों की परिभाषा के अनुसार हिमालय की पीठ पीछे उसके नज़दीक नज़दीक कई और पर्वत-

शृंखलायें हैं। नदियों की स्थिति से हम उनकी स्थिति को समझ सकेंगे। सिन्ध नदी जहां अन्तिम बार दक्खिन फिरी है, वहां उसके मोड़ के अन्दर से हिमालय की गर्भ-शृंखला शुरू हुई है। नंगा पर्वत से ज़ोजी-ला[1] अर्थात् ज़ोजी घाटे[1] तक किशनगंगा, सिन्ध (छोटी) या उत्तरगंगा आदि जेहलम की शाखाओं और द्रास आदि सिन्ध की शाखाओं के बीच वही जलविभाजक है। ज़ोजी ला से नुनकुन चोटी होते हुए बारा लचा जोत[1] तक उस के दक्खिन चिनाब का पानी और उत्तर ज़ङ्स्कर आदि नदियों द्वारा सिन्ध में जाने वाला पानी है। चिनाब पहाड़ में चन्द्रभागा ही कहलाती है, वह भागा और चन्द्रा दो धाराओं से बनी है। बारा लचा से हिमालय की गर्भ-शृंखला चन्द्रा के पूरब छोर के साथ लगभग सीधे दक्खिन फिर गई है, जहां उसके एक तरफ़ पहले चन्द्रा और फिर व्यास की शाखा परबती का पानी है, और दूसरी तरफ़ स्पिती नदी जो दक्खिनपूरब बह कर सतलज में मिली है। सतलज के बाँयें से जमनोत्री के ऊपर बन्दरपूंछ चोटी तक दक्खिनपूरब जा कर फिर वह शृंखला अधिक पूरब फिर गई है। केदारनाथ, बदरीनाथ, त्रिशूल, नन्दादेवी, धौलगिरि, गोसांईंथान, गौरीशंकर, कांचनजंघा और चुमलारी चोटियां उसकी अगली दिशा

---

१. पहाड़ की किसी शृंखला को लांघने को दो तरह का रास्ता हो सकता है, एक आरपार, दूसरा ऊपर से। आरपार वह जहाँ नदी की घाटी से या अन्य किसी प्रकार से पहाड़ कटा सा मालूम हो; उसे ही दर्रा कहते हैं, जैसे बोलान दर्रा या शिपकी दर्रा। ऊपर से वह जहां रास्ता पहाड़ की रीढ़ पर किसी नीची गर्दन की सी जगह पर एक तरफ़ चढ़ कर दूसरी तरफ उतर जाता है, अफ़गानिस्तान में वैसे स्थान को कोतल या गर्दन कहते हैं, जैसे लंडी कोतल (ख़ैबर) शुतुर गर्दन, पैवार कोतल। कोतल या गर्दन को ही कांगड़ा-कुल्लू में जोत कहते हैं, उस शब्द में भी वही भाव है क्योंकि जोत किसी जानवर की गर्दन पर ही रक्खी

को सूचित करती हैं। गंगा, घाघरा, गंडक और कोसी, सब उस शृंखला को बीच में काट कर उतरी हैं, किन्तु तिस्ता और अन्य कई छोटी धारायें उसी के चरणों का धोवन ब्रह्मपुत्र में ले गई हैं। चुमलारी के बाद उस की रेखा फिर उत्तरपूरब लहरा कर, सुबनसिरी नदी के दायें दो ऊँची चोटियों के बाद एकदम ढल गई है।

हिमालय की बड़ी शृंखला सिन्ध नदी के अन्तिम दक्खिन मोड़ के अन्दर अर्थात् बायें तरफ़ से शुरू हुई थी; एक दूसरी ऊँची शृङ्खला उस मोड़ की बगल में सिन्ध और गिलगित दोनों नदियों के बीच तथा दोनों के दाहिने से उठी है। गिलगित-संगम के नीचे सिन्ध को पार कर उस के बायें होती हुई द्रास के संगम पर वह फिर सिन्ध के दाहिने निकल आई है और शिओक-सिन्ध का पानी बाँटते हुए लेह के उत्तर से सिन्ध-घाटी

जाती है। जोत को ही कुमाऊँ-गढ़वाल में घाटा, तथा तिब्बती में 'ला' कहते हैं। गढ़वाल में भीतरी शृंखला के पहाड़ों में मैंने उसी अर्थ में खाल शब्द सुना है, यद्यपि बंगाल में वह शब्द नाले के अर्थ में बर्ता जाता है, और यदि उन दोनों शब्दों में सम्बंध हो तो खाल दर्रे के अर्थ में अधिक उपयुक्त होता। अजमेर और पुष्कर के बीच नाग पहाड़ की चढ़ाई और उतार को राजस्थानी लोग घाटी कहते हैं, अर्थात् राजस्थानी बोली की 'घाटी'=घाटा या जोत। महाराष्ट्र के घाट भी शायद वही चीज़ हैं। अंग्रेज़ी में दोनों अर्थों में पास (Pass) शब्द का प्रयोग होने से, और सब अच्छे नक़्शे अंग्रेजी में छपने से बहुत बार यह जानना कठिन होता है कि कोई 'पास' दर्रा है या जोत। किन्तु जो 'पास' जलविभाजक हो उसे जोत ही समझना चाहिए। संस्कृत में 'पास' के लिए द्वार और संकट शब्दों का प्रयोग राजतरंगिणी में प्रायः हुआ है, पर उन दोनों में दर्रा और घाटा वाला भेद है कि नहीं मैं नहीं कह सकता क्योंकि अभी तक मैंने उस बात की पड़ताल नहीं की।

के दाहिने छोर के साथ सटी हुई दक्खिनपूरब चली गई है। लेह के चौगिर्द प्रदेश लदाख कहलाता है, इसलिए इस शृङ्खला का नाम भी आजकल के भूगोलवेत्ताओं ने लदाख-शृंखला रक्खा है। हानले के उत्तर जहाँ सिन्ध नदी ज़रा दूर पच्छिम-दक्खिन बही है वहाँ उसे पार कर वह फिर सिन्ध के बायें चली आई है, और आगे गारतंग के बाँये बाँये सतलज घाटी तक जा पहुँची है। सतलज को रास्ता देकर राखस ताल के दक्खिन फिर उस की एक दो छोटी चोटियां उठी हैं, और मान सरोवर के दक्खिन गुरला मान्धाता भी उसी के ताँते में है। उसके आगे वही शृंखला ब्रह्मपुत्र के बायें बायें कांचनजंघा के उत्तर तक लगातार चली आकर चुमलारी चोटी पर हिमालय में आ मिली है। उसके एक तरफ़ ब्रह्मपुत्र है, और दूसरी तरफ़ घाघरा गंडक और कोसी के मूल स्रोत जो सब उसी में हैं।

हिमालय की गर्भ-शृंखला और लदाख-शृंखला के बीचोंबीच ज़ङ्स्कर नदी से कर्णाली नदी (घाघरा की उपरली धारा) तक चोटियों की एक और परम्परा भी हिमालय की पीठ पीछे चली गई है, जिसे ज़ङ्स्कर शृंखला कहते हैं। गुरला मान्धाता के ठीक दक्खिन कर्णाली के दाहिने हिमालय की पीठ से फट कर काली की तीनों धाराओं --काली, धौली गंगा और गौरी गंगा—के स्रोतों को कर्णाली और सतलज के स्रोतों से, तथा अलखनन्दा की दो मूल धाराओं--धौलीगंगा और विष्णुगंगा—और भागीरथी की उपरली धारा जाह्नवी के पानी को सतलज के पानी से बाँटती हुई शिपकी दरे पर वह सतलज घाटी के ऊपर जा पहुँची है। विष्णुगंगा के पूरब सुप्रसिद्ध कामेत पहाड़ उसी में है। सतलज के पच्छिम स्पिती नदी और सिन्ध में जाने वाली हानले नदी के बीच वही जलविभाजक है। स्पिती की पूरबी धारा परे के बायें

बायें जाते हुए मुरारी झील के पूरब से उत्तर घूम सीधे उत्तर-पच्छिम ज़ङ्स्कर नदी तक जा कर वह समाप्त हो गई है।

लदाख शृंखला के भी उत्तर बराबर कैलाश-शृंखला है, जिसका नाम सुप्रसिद्ध कैलाश पर्वत के नाम पर पड़ा है। ग़िल्गित नदी की उत्तरपूरबी धारा हुंज़ा है जिसकी एक धारा पर नगर नाम की बस्ती है। उस धारा के मोड़ के भीतर से, अर्थात् उसके बायें तरफ़, कैलाश-शृंखला पहले पहल उठी है। सिन्ध और शिओक नदियों के दाहिने जाते हुए नुबरा नदी के, जो शिओक के दक्खिनी प्रवाह के समानान्तर उसके पच्छिम बह कर उसमें मिली है, दाहिने (पच्छिम तरफ़) पहुँच कर वह ढल गई है। नुबरा और शिओक दोनों के स्रोत कारकोरम में हैं, और दोनों कैलाश-शृंखला को काट कर आई हैं। शिओक के बड़े मोड़ के दक्खिन-पूरब फिर उठ कर पंगोङ झील के पच्छिम और दक्खिन घूमने और कुछ दूर सीधे पूरब जाने के बाद एकदम दक्खिन झुक कर वह सिन्ध की घाटी पर आ लगी है। वहाँ उस घाटी के बाँयें लदाख और दाहिने कैलाश-शृंखला है। सिन्ध-गारतंग-संगम के बाद कैलाश-शृंखला सिन्ध के बायें और गारतंग के दाहिने निकल आई है, वहाँ भी उसके बराबर गारतंग के बायें लदाख-शृंखला है। गारतंग के उद्गम के दक्खिनपूरब कैलाश पर्वत है। वहाँ से पूरब तरफ़ ब्रह्मपुत्र घाटी के बायें बायें काठमांडू के ठीक उत्तर से तीस मील पच्छिम तक आ कर वह शृंखला समाप्त हुई है। किन्तु तीस मील के व्यवधान के बाद ञेन्-छिन-थङ ला[1] नाम की एक दूसरी शृंखला शुरू होकर उत्तरपूरब रुख किये ल्हासा के उत्तर से ब्रह्मपुत्र-

---

१. तिब्बती में लिखते हैं ञेन्, पर बोलते हैं न्येन्। ञेन् = कान, छिन् = लम्बा, थङ = पहाड़ी मैदान या पठार, ला = घाटा;—लम्बकर्ण पठार का घाटा।

घाटी के उत्तर बराबर चली गई है। उसे कैलाश शृंखला का ही पूरवी बढ़ाव कहना चाहिए।

कैलाश-शृंखला के भी उत्तर, किन्तु केवल उसके पच्छिमी अंश के बराबर, कारकोरम-शृंखला है, जिसमें संसार के सब से भारी गल[1] रहते हैं। हुंज़ा नदी के उपरले प्रवाह के दाहिने तरफ़ शुरू होकर उसे बीच में रास्ता देते हुए हुंज़ा के दाहिने से वह थोड़े दक्खिन झुकाव के साथ पूरब बढ़ कर कैलाश-शृंखला को जा लगी है। वहीं उसका सब से बड़ा तथा संसार भर में दूसरे दर्जे का पहाड़ चगेरी (गौडविन ऑस्टेन) है। चगेरी के आगे वह एक लहर में, पहले दक्खिन और फिर उत्तर झुकती, नुबरा और शियोक का रस्कम दरिया से पानी बाँटती हुई पूरव गई है। शिओक घाटी के पूरबी छोर से पंगोङ के पूरब की न्यक झील की सीध में कुछ दक्खिन झुक कर फिर वह लगातार लगभग पूरव चली गई, और अन्त में ब्रह्मपुत्र के स्रोत के करीब दो सौ मील उत्तर तिब्बत के चाङ-थङ की सोने की खानों के पड़ौस में ढल गई है।

थङ माने मैदान; और क्योंकि तिब्बत का मैदान पहाड़ के ऊपर ही है, इसलिए थङ का ठीक अर्थ है पठार। चाङ-थङ तिब्बत का मुख्य भाग है, और वह एक सपाट वृक्षहीन, ऊजड़ पठार है। ब्रह्मपुत्र-घाटी के उत्तरी छोर अर्थात कैलाश और बेनछिनथङला-शृंखलाओं के उत्तर और क्युनलुन-शृंखला के दक्खिन, सिन्ध के स्रोत की सीध से शुरू कर आसाम के पूरबी छोर की सीध के काफ़ी आगे पूरव कोकोनौर[2] के करीब तक वह चला गया है। उसी के पूरबी छोर में चीन की मुख्य नदी याङ्चे, और कम्बुज और बरमा की नदियों मेकौङ और साल्वीन के स्रोत हैं।

१. गल = ग्लेशियर; कुमाउँनी शब्द।

२. चीन और तिब्बत के सीमान्त पर नौर शब्द झील का वाची है।

तिब्बत के उस विस्तृत पठार की ऊँचाई कहीं भी समुद्र-सतह से १२००० फ़ुट से कम नहीं है। उस की बनावट के विषय में यह बात ध्यान देने की है कि जहाँ समूचे तिब्बत की समुद्र-सतह से ऊँचाई बहुत अधिक है, और वह देश एक तरफ़ हिमालय और दूसरी तरफ़ क्यूनलून की ऊँची दीवारों के बीच मानो थमा हुआ है, वहाँ स्वयं तिब्बत में जो पहाड़ हैं वे अपने आधार से बहुत ऊँचे नहीं उठते। यहाँ तक कि तिब्बत वालों को अपने देश में यदि कोई ऊँचा पहाड़ दीखता है तो वे उसे आदरपूर्वक 'ग्यगर-री'—भारतवर्ष का पर्वत—बतलाते हैं! इस प्रकार तिब्बत के पहाड़ों और हिमालय का अन्तर स्पष्ट है। हिमालय की पहाड़ी बस्तियों और तिब्बत के पठार में दूसरा स्पष्ट अन्तर यह है कि हिमालय में जहाँ चीड़, देवदार, बांफ, अखरोट आदि पेड़ों के सघन और सुन्दर बन हैं, वहाँ समूचे तिब्बत में और विशेषतः चाङ्थङ में केवल घास फैली हुई है। तीसरा स्पष्ट अन्तर उन दोनों में यह है कि जहाँ हिमालय की गोद में अनेक नदियाँ कलोल करती हैं, वहाँ तिब्बत में ब्रह्मपुत्र के सिवा कोई खुला प्रवाह नहीं है, उसका सब पानी नमकीन दलदलों या बन्द झीलों में सड़ता है।

किन्तु भारतवर्ष और तिब्बत की ठीक सीमा कहाँ है? पहले पहल हिमालय की गर्भ-शृंखला ही वह सीमा प्रतीत होती है, किन्तु उस शृंखला के भी उत्तर अनेक भारतीय बस्तियाँ जैसे मुक्तिनाथ, बदरीनाथ आदि हैं। साधारण रूप से जब हिमालय को भारत की उत्तरी सीमा कहा जाता है, तब गर्भ-शृंखला के पीठ पीछे की शृंखलाओं के कम से कम कुछ अंशों को भी हिमालय में गिन लिया जाता है। हिमालय की प्राचीन परिभाषा ठीक ठीक क्या थी सो हम अभी तक नहीं कह सकते; कालिदास ने सतलज के पच्छिम अंश में कारकोरम से हिमालय की गर्भ-

श्रृंखला तक सभी पर्वतों को हिमालय में गिना है[1]। किन्तु दूसरी तरफ़ कैलाश पर्वत हिमालय से अलग गिना जाता था, जिससे यह भी निश्चित है कि आधुनिक परिभाषा की लदाख और कैलाश-श्रृंखलायें समूची हिमालय में सम्मिलित न थीं। ध्यान रहे कि भारतवर्ष और तिब्बत के पानियों की मुख्य जलविभाजक लदाख-श्रृंखला है, जिसके एक तरफ़ ब्रह्मपुत्र और दूसरी तरफ़ घाघरा गंडक और कोसी के स्रोत हैं। तो भी लदाख-श्रृंखला तक के समूचे प्रदेश को न तो प्राचीन काल में भारतवर्ष में गिनने का कोई स्पष्ट प्रमाण है और न आजकल वैसा गिनना उचित है। किन्तु हमारे पुरखा भारतवर्ष की उत्तरी सीमा गंगा के उद्भव को मानते थे[2]। हम अभी देख चुके हैं कि गंगा की मुख्य धारा अलखनन्दा[3] और गौण धारा भागीरथी के सभी मुख्य स्रोत आधुनिक परिभाषा के अनुसार ज़ङ्स्कर-श्रृंखला में हैं; प्राचीन परिभाषा में कम से कम वह श्रृंखला तो निश्चय से हिमालय का ही अंश प्रतीत होती है। इस प्रकार ज़ङ्स्कर-

१. रघुवंश ४, ७१—८०; दे० परिशिष्ट १ (२—४)।

२. वायु पु० १, ४५, ८१।

३. हमारे पुरखा भी अलखनन्दा को ही गंगा की मुख्य धारा मानते थे, इसका प्रमाण है। सब प्रयाग-तीर्थ गंगा के संगमों पर ही हैं; गंगा और जमना के संगम पर प्रयागराज है, तथा रिखीकेश के ऊपर भागीरथी और अलखनन्दा के संगम पर देवप्रयाग है। उसके ऊपर जितने प्रयाग हैं सब भागीरथी के नहीं प्रत्युत अलखनंदा के संगमों पर ही हैं— मन्दाकिनी के सङ्गम पर रुद्रप्रयाग, पिंडर के संगम पर कर्णप्रयाग और नन्दाकिनी के संगम पर नन्दप्रयाग। बदरीनाथ के यात्री इन सब प्रयागों में स्नान करने के बाद जोशीमठ, जहाँ अलखनन्दा की दो मूल धारायें—विष्णुगंगा और धौलीगंगा—परस्पर मिलती हैं, पहुँचते हैं, और वहाँ से विष्णुगंगा की घाटी चढ़ कर बदरीनाथ जाते हैं।

शृंखला को हिमालय की गर्भ-शृंखला की केवल आवृत्ति मानते हुए हम हिमालय की हिमरेखा को ही भारतवर्ष की ठीक उत्तरी सीमा कहते हैं।

§ १४. उत्तरपूरबी सीमान्त

उक्त हिमरेखाके पूरबी सीमान्त पर हमें दिहंग नदी मिलती है जो ऊपर तिब्बत में चाङ्पो और भारतवर्ष में आकर ब्रह्मपुत्र कहलाती है। पूरब तरफ़ से दिहोंग में दिबोंग और लोहित (लौहित्य) नदियां सदिया के पास ब्रह्मकुण्ड में मिलती हैं जहाँ संसार भर में अत्यन्त सुन्दर नदी-दृश्यों में से एक बनता है। हिमालय की बड़ी शृंखला पूरबी छोर पर आ कर टूट गई है, किन्तु दिहंग तक तो स्पष्ट ही उसी का बढ़ाव चला गया है और आगे लोहित तक भी माना जा सकता है। प्राचीन भारतवासी लौहित्य को भारतवर्ष का पूरबी छोर मानते थे, और वैसा मानना ठीक भी है। लौहित्य के पूरब से हिमालय के पूरबी बढ़ाव ने अपनी एक बाँह नागकिउ पर्वत के रूप में दक्खिनपच्छिम बढ़ा दी है। पतकोई और नागा पहाड़ उसी का आगे बढ़ाव सूचित करते हैं। भारतवर्ष की सीमान्त-रेखा उनका दामन पकड़े हुए मणिपुर की पहाड़ियों के पूरब तक पहुँचती, और वहाँ से लुशेई पहाड़ियों और चटगाँव की पहाड़ियों की रेखा के साथ समुद्र में जा उतरती है।

नागा पहाड़ ने खासी-जयन्तिया और गारो पहाड़ों के रूप में अपनी एक बाँह उत्तर भारतीय मैदान के अन्दर बढ़ा दी है जो सुरमा के काँठे को ब्रह्मपुत्र के काँठे अर्थात् आसाम से अलग करती है। यही पहाड़ों की बाँहीं ब्रह्मपुत्र को बंगाल के मैदान में पहुँचाती है। अढ़ाई सौ मील तक इसने ब्रह्मपुत्र के दक्खिनी छोर को उसी प्रकार रोका हुआ है जैसे दक्खिन बिहार की पहाड़ियों ने गंगा के। आसाम और बंगाल के रास्तों पर इस

स्थिति का जो प्रभाव होता है उस पर पीछे विचार कर चुके हैं। किन्तु नागा और जयन्तिया पहाड़ों के बीच उतार है जहाँ कपिली और धनसिरी नदियों ने अपनी घाटियाँ काटी हैं जिनके द्वारा सुरमा-काँठे से आसाम तक रास्ता बनता है। इन्हीं घाटियों के कारण गारो और खासी पहाड़ सीमान्त के पहाड़ों से अलग हैं, और हम उन्हें आसाम के अन्दर के पहाड़ों में गिन सकते हैं।

पूरबी सीमा के कम ऊँचाई के पहाड़ों का ताँता भारतवर्ष को बरमा से अलग करता है, और चटगाँव के तट से अराकान के तट तक वह तुच्छ बाधा भी नहीं है। चिंदविन और इरावदी नदियों के उपजाऊ सुगम और तंग काँठे बरमा के उत्तरी छोर तक चले गये हैं, जिनके और सुरमा-ब्रह्मपुत्र-काँठों के बीच बड़ा व्यवधान नहीं है। बहुत ही अधिक बरसात के कारण इस सीमान्त के रास्ते किस प्रकार दुर्गम हैं, और लोहित के काँठे से चिंदविन या इरावदी के काँठे तक जाने का रास्ता किस प्रकार है, उसका उल्लेख भी पीछे कर चुके हैं।

आसाम से चीन का दक्खिन-पच्छिमी युइन-नान प्रान्त दूर नहीं है, और मणिपुर से सीधे पूरब और आगे नदियों के काँठों के साथ दक्खिन स्थलमार्ग से भी भारतीय प्रवासियों और उपनिवेश[1]-स्थापकों का प्रवाह स्याम, कम्बुज, चम्पा (आनाम) आदि तक जाता रहा है।

§ १५. दरदिस्तान और बोलौर

हमने गंगा के स्रोत वाली हिमालय की हिमरेखा को भारतवर्ष की उत्तरी सीमा कहा है। किन्तु पच्छिम तरफ़ भारतवर्ष की सीमान्त रेखा नंगा पर्वत तक उस हिमरेखा के साथ नहीं जाती, प्रत्युत चिनाब की अन्तिम पच्छिमी धाराओं के स्रोत लाँघने के ठीक बाद अमरनाथ के सामने ज़ोजी-ला पर हिमालय

१. 'उपनिवेश' शब्द पुराना है। दे० मार्कण्डेय पु० ५७, ३८।

को पार कर सिन्ध-घाटी की तरफ़ उत्तरपूरब बढ़ती है—कारण यहां तिब्बत का पच्छिमी छोर आ गया, और उसके पच्छिम कश्मीर के उत्तर उपरली सिन्ध-घाटी में जो दरद प्रदेश है वह भारतवर्ष का भाग है। ध्यान रहे कि हम भारतवर्ष की स्वाभाविक और ऐतिहासिक सीमा को आँक रहे हैं, न कि आजकल अंग्रेज़ों के भारतवर्ष में जो प्रदेश आ जुड़े हैं उन की। कृष्णगंगा (जेहलम की उत्तरी शाखा) की घाटी से सिन्ध की घाटी तक दरद लोग रहते हैं, और सिन्ध पार गिल्गित और हुंज़ा नदियों की घाटियाँ भी उन्हीं की हैं। दरद देश की पूरबी सीमा आजकल ज़ोजी-ला से उत्तरपूरब खलचे तक जाकर वहाँ से सिन्ध-शिओक की जलविभाजक लदाख श्रृंखला के साथ पच्छिम घूमती और उसी श्रृंखला के साथ शिओक-संगम से पहले फिर सिन्ध को पार कर उस के बायें निकल आती है। वहाँ उस के उत्तर लदाख और कैलाश श्रृंखलाओं के बीच बोलौर (बाल्तिस्तान) या छोटा तिब्बत है जो तिब्बत की पच्छिमी नोक को सूचित करता है। बोलौर के दक्खिन से पच्छिम घेरा करते हुए वह सीमान्त रेखा बुंजी किले के सामने उत्तरमुख हो लदाख-श्रृंखला को पार कर और तीसरी बार सिन्ध को लाँघ, कैलाश-श्रृंखला के पच्छिमी छोर से हुंज़ा घाटी के ऊपर चढ़ते हुए कारकोरम श्रृंखला का पच्छिमी आँचल काट कर तागदुम्बाश पामीर को जा छूती है।

बोलौर में तिब्बती लोग आठवीं शताब्दी ई० के शुरू में—जब कि अरब लोगों ने सिन्ध को दखल किया—आये थे; बोलौर के उत्तर पामीरों और चीनी तुर्किस्तान का प्रदेश भी जैसा कि हम अभी देखेंगे, तब भारतीय था; इसलिए वह तिब्बत की पच्छिमी नोक तब एक पच्चर की तरह भारतीय प्रदेश में घुसी थी। वह पच्चर चीन साम्राज्य के लिए भी ख़तरनाक था क्योंकि उसके ठीक

उत्तर चीनी तुर्किस्तान के प्रदेश पर तब भी चीन का आधिपत्य था, और चीन का भारतवर्ष तथा पच्छिमी देशों के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाले रास्ते उसी में से होकर थे। बोलौर एक शत्रु के हाथ में रहने से चीन के उन रास्तों को स्पष्ट ख़तरा था—उस समय तिब्बत और चीन में लड़ाई थी। इन कारणों से चीन और भारतवर्ष के राजाओं ने तिब्बतियों को बोलौर से निकालने के कुछ जतन भी किये, किन्तु उस प्रदेश पर उनका आधिपत्य भले ही स्थापित हो गया, वहाँ की जनता अभी तक तिब्बती है। बोलौर में तिब्बतियों के आने से पहले भारतवर्ष की सीमान्त रेखा शायद ज़ोजी-ला से सिन्ध-घाटी तक जा कर आगे आजकल सा पेचीदा रास्ता न बनाती, प्रत्युत सीधे उत्तर शिओक की घाटी के साथ कारकोरम घाटा पार कर रस्कम या यारकन्द दरिया की घाटी होती हुई तागदुम्बाश पामीर को जा छूती थी[1]।

दरद-देश और भारतवर्ष की सीमा इस प्रकार कारकोरम और हिन्दूकुश के ठीक अन्दर तक जा पहुँचती है। कारकोरम का दूसरा नाम मुज़्ताग़ भी है। 'ताग़' तुर्की शब्द है जिसका अर्थ है पर्वत; मुज़्ताग़ के उत्तर लगा हुआ चीनी तुर्किस्तान है। शिओक नदी जहां कारकोरम के दक्खिन उतरी है, ठीक उसके सामने उत्तर तरफ़ रस्कम दरिया उसी पहाड़ से उतरा है। रस्कम या यारकन्द नदी जिसका नाम ज़रफ़्शां भी है, और जिसे चीनी लोग उसके प्राचीन संस्कृत नाम सीता के अनुसार अब तक सी-तो कहते हैं, कारकोरम के उत्तर तरफ़ उसके चरणों के बराबर चली गई, और उसे क्यूनलुन शृंखला से बाँट देती है। सीता के स्रोत के पूरब तिब्बत और पच्छिम पामीर हैं। हुंज़ा के कुछ पच्छिम मुज़्ताग़ की पच्छिमी जड़ है, और उसके ज़रा उत्तर हिन्दूकुश की पूरबी जड़ भी है। उसके करीब से ही सरीकोल

1. दे. परिशिष्ट १ (१–५)।

शृंखला और उसके समान्तर कन्दर या काशगर शृंखला उ... कर उत्तर की तरफ़ चली गई हैं।

§ १६. सरीकोल और पामीर

मुज़ताग़, हिन्दूकुश और सरीकोल की जड़ें ताग़दुम्बाश पामीर पर मिली हैं, और वहाँ से वे तीनों पर्वत क्रमशः पूरब पच्छिम और उत्तर को चले गये हैं। सरीकोल के दोनों तरफ़ पामीर फैले हुए हैं, जिनका प्रदेश–पामीरों का पठार–बामे दुनियां या दुनियां की छत कहलाता है। सरीकोल पामीरों की धुरी है। चीनी बौद्ध यात्री उसका जो नाम लिखते हैं वह संस्कृत 'कबन्ध'[1] का रूपान्तर जान पड़ता है। उसके पच्छिम आमू नदी की और पूरब यारकन्द काशगर की धारायें उतरती हैं। पामीर का अर्थ किया जाता है—पाए-मीर—पर्वतों के चरण, वे लम्बी घाटियाँ हैं जो कबन्ध पर्वत के चरणों से चक्करदार ढालों में घूमती हुई नीचे उतर गई हैं।

पामीरों का प्रदेश तिब्बत के चाङ्थङ का बढ़ाव नहीं है। सीता के पच्छिम और पूरब के इन पठारों की बनावट बिल्कुल भिन्न है। पामीर की सी घाटियाँ और नदियां चाङ्थङ् में कहीं भी नहीं हैं। वह पहाड़ों की तंग धारों, नमकीन ह्रदों और बन्द दलदलों का देश है जिसके बीच बीच खुला सपाट पठार फैला हुआ है। पामीर और तिब्बत में केवल एक समानता है—दोनों में ऊँचे वृक्ष नहीं हैं, केवल चरागाहों की हरियावल है।

सरीकोल के पूरबदक्खिन कारचुकुर नदी की घाटी ही ताग़दुम्बाश पामीर है। आजकल रूस चीन और अफ़ग़ानिस्तान के

१. वैटर्स द्वारा अनुवादित युआन च्वाङ का यात्रा-विवरण, जि० २, पृ० २८५–२८७; जि० १, पृ० २४५।

राज्यों की सीमायें उसी में मिलती हैं। उस पर चीन और हुंज़ा-राज्य दोनों का दावा है। किलिक घाटा जो साल भर खुला रहता है, उसे हुंज़ा और नगर की घाटी से मिला देता है। वखजीर घाटा ताग़दुम्बाश की पच्छिमी जड़ पर है और उसे आबे-वखां की दून या पामीरे-वखां से मिलाता है। आमू दरिया का संस्कृत नाम वंक्षु था, और उसके उद्गम का यह प्रदेश जो अब तक वखां कहलाता है, अब अफ़गानिस्तान के राज्य में है। वखां के दक्खिन हिन्दूकुश है जिसे बरोग़ील[1] दारकोट खोरा भोर्ट आदि घाटों से पार कर यासीन-मस्तूज के रास्ते गिल्गित पहुँच सकते हैं। पामीरे-वखां के उत्तर छोटा पामीर भी अब अफ़गान सीमा में है; उसके उत्तर बड़ा पामीर है जिसमें आमू की दूसरी धारा आबे-पंजा के रास्ते में ज़ोरकुल (विक्टोरिया) झील बन गई है। ज़ोरकुल के बाद पंजा नदी ही आधुनिक अफ़गान सीमा को सूचित करती है। उसके उत्तर अलीचूर. घुन्द, सरेज़, रंगकुल, और कारकुल पामीर रूस की सत्ता में हैं। सरेज़ पामीर आमू की एक और शाखा मुर्गाब या आक्सू नदी की दून है, जो छोटे पामीर से उठ कर बड़े और अलीचूर पामीर के पूरब-उत्तर होती हुई पच्छिम घूम गई है; उसी की जड़ में रूस का फ़ौजी थाना पामीर्स्की या मुर्गाबी है। रंगकुल झील जिसके नाम से रंगकुल पामीर का नाम पड़ा है सरीकोल का केन्द्रिक गड्ढा और पुराने बौद्ध यात्रियों का नागह्रद है।

आमू की मुख्य धारा कौन सी है सो निश्चय करना कठिन है, तो भी आबे-पंजा को आजकल मुख्य मान लिया गया है।

---

१. ओग़ील तुर्की शब्द है, और कश्मीरी 'मर्ग' (संस्कृत मठिका) का समानार्थक है। दोनों का अर्थ है पहाड़ के ऊपर अर्थात् अधित्यका की चरागाह। वैसी अधित्यकाओं पर गडरियों की झोंपड़ियाँ बनी रहती हैं, इसी कारण वे मठिका कहलाने लगीं।

पंजा ने जहां पामीरों से निकल कर बड़ा उत्तरी घेरा किया है वहाँ उस घेरे के बीच पामीरों के पच्छिम लगा हुआ प्रदेश बदख्शां है। वही प्राचीन तुषार देश, तुःखार देश या तुखारिस्तान है। तुखारिस्तान में पीछे केवल बदख्शां रह गया, परन्तु पहले उस में पामीर और बोलौर भी सम्मिलित थे। उस इलाके का वह नाम दूसरी शताब्दी ई० पू० में या उस से कुछ पहले तुखार जाति के वहां आ बसने से पड़ा था। उस से पहले तुखार लोग आधुनिक चीनी तुर्किस्तान में रहते थे। अन्यत्र [1] मैंने यह सिद्ध किया है कि तुःखार या तुखार-देश ही प्राचीन भारतवर्ष का प्रसिद्ध कम्बोज महाजनपद था, अर्थात् तुखार नाम पड़ने से पहले उसे कम्बोज कहते थे। कम्बोज देश में कम से कम पामीर और बदख्शां ज़रूर सम्मिलित थे।

प्राचीन भारतवासियों की यह धारणा थी, और उनसे चीन वालों ने भी उसे ले लिया था कि गंगा, सिन्धु, वंक्षु और सीता ये चारों नदियाँ अनवतप्त सरोवर से निकलती थीं, वह सरोवर गन्धमादन और हिमवन्त पर्वतों के बीच था, और उस पर देवता निवास करते थे। अनवतप्त सरोवर केवल एक कल्पना की वस्तु थी [2], और कल्पना ने उसे कम्बोज देश के ठीक पूरब-दक्खिन रक्खा था।

पामीर और यारकन्द-काँठे के पूरब चीनी तुर्किस्तान की तकला मकान मरुभूमि लोप-नौर तक फैली हुई है। उस के बीचोंबीच तरीम की तुच्छ धारा है; कभी तो उस धारा से तरीम झील की तरफ़ पानी बहता है, और कभी झील से उलटा धारा की तरफ़। यारकन्द, खोतन, केरिया, नीया और चर्चन नदियां दक्खिन तरफ़ से कारकोरम क्युनलुन और अलितन तारा पहाड़ों का पानी तरीम नदी में या तकला मकान मरुभूमि में ले

---

१. रघु० दि०। दे० परिशिष्ट १ (१)।

२. वैटर्स—युआन च्वाङ, १, पृ० ३२-३५।

जाती हैं। चीनी तुर्किस्तान के उत्तर 'थियेन-शान'[1] पर्वत है। तिब्बत के उत्तरपूरब कोकानौर के उत्तर से चीन का कानसू प्रान्त लोप नौर और तकला मकान के पूरबी छोर तक बढ़ा हुआ है। उस में सुप्रसिद्ध तुएन होआंग शहर है जिसे चीन का पेशावर कहना चाहिए। चीन के उस पच्छिमी दरवाजे से दो रास्ते, एक तकला मकान के उत्तर और दूसरा दक्खिन हो कर, पुराने जमाने से चलते हैं। उत्तरी रास्ते पर आकसू, कूचा आदि, और दक्खिनी रास्ते पर खोतन, यारकन्द आदि बस्तियां हैं। दोनों रास्ते काशगर पर आ मिलते और वहां से पामीर पार कर फ़रगाना होते हुए पच्छिम, अथवा तागदुम्बाश पामीर से भारत की तरफ़ जाते हैं।

§ १७. हिन्दूकुश और अफ़गानिस्तान

पामीर और बदख़शां की दक्खिनी सीमा हिन्दूकुश है। हिन्दूकुश की मुख्य रीढ़ तागदुम्बाश पामीर से पच्छिमदक्खिन ओर काबुल शहर के पच्छिम बामियां घाटी तक चली गई है। उसके आगे कोहे-बाबा और बन्दे-बाबा की परम्परा ने पहाड़ों की उस ऊँची शृंखला को हेरात तक पहुँचा दिया है। पामीर से हेरात तक मानो एक ही शृंखला है। वही प्राचीन ईरानियों का उपरिशएन—श्येन की उड़ान से भी ऊँचा—पहाड़ और यूनानियों का परोपमिसस है। उसके उत्तर अफ़गान राज्य के बलख और बदख़शां प्रान्त हैं, और उसके दक्खिन ठेठ अफ़गानिस्तान।

काबुल शहर के पच्छिम जहां हिन्दूकुश और कोहे-बाबा के कन्धे जुड़ते हैं, वहीं अफ़गानिस्तान के पानी का चार तरफ़ बँटवारा होता है। पूरब तरफ़ काबुल (कुभा)[2] नदी हिन्दूकुश के

१. चीनी शब्द, शब्दार्थ—देवताओं का पर्वत।

२. कोष्ठों में सब प्राचीन संस्कृत नाम हैं।

दक्खिन का सब धाराओं—कुनार, पंजकोरा (गौरी), स्व (सुवास्तु) आदि—का पानी सिन्ध में ले जाती है। पच्छिम त हरीरूद कुभा से ठीक उलटी दिशा में चली जाती है। हेलम और कुन्दूज़ भी ठीक उसी जलविभाजक से दक्खिन और उ तरफ़ अपने अपने पानी ले जाती हैं। अफ़गानिस्तान की केन्द्रि पर्वतशृंखला ने अपनी अनेक लम्बी समानान्तर बाँहि दक्खिनपच्छिम बढ़ा दी हैं, जो हेलमन्द की घाटी को फ़रारूद घाटी से, और हेलमन्द की भिन्न भिन्न धाराओं—अरगन्दा तर्नाक, अर्गस्तान आदि—की घाटियों को एक दूसरे से अल करती हैं। कन्दहार शहर अरगन्दाब-घाटी के ठीक मुँह पर है इस प्रकार उन पहाड़ों की ढांगें कन्दहार-काबुल मार्ग की दिश निश्चित करतीं और उसे दोनों तरफ़ से घेरे हुए हैं। कलात-ए गिलज़ई और गज़नी उस मार्ग के मुख्य पड़ाव हैं। कन्दहा और क्वेटा के बीच ख़्वाजा अमरान पर्वत की शृंखला भी, जिस खोजक दर्रा है, उन्हीं दक्खिनपच्छिमी बाँहियों के सिलसिले सम्मिलित है। कन्दहार से हेरात जाने वाले मार्ग की दिशा भी उन्हीं पहाड़ों ने निश्चित की है, क्योंकि वह रास्ता उनके चरणों के नीचे नीचे सीस्तान की मरुभूमि के उत्तरी छोर के साथ जाता है।

काबुल नदी के दक्खिन निंग्रहार (नगरहार) घाटी है, जिस का प्रधान शहर जलालाबाद है। उसके दक्खिन सफ़ेद कोह है जो अफ़गानिस्तान में उक्त केन्द्रिक पर्वतों से दूसरे दर्जे का पहाड़ है, और निंग्रहार को अफ़्रीदी-(या ठीक ठीक कहें तो अप्रीदी-) तीरा से अलग करता है। सफ़ेद कोह की शृंखला ने भी अफ़गानिस्तान की केन्द्रिक शृंखलाओं की तरह अपनी दो बाहें दक्खिन पच्छिम बढ़ा दी हैं, जिनमें से पहली पैवार कोतल और शुतर-गर्दन पर कुर्रम (क्रमु) के पानी को कुभा की दक्खिनी धारा

लोगर व
हेलमन्द
करती है
कुर्रम (
पहुँचता

सुले
के पूरब
चली ग
चली ग
यह पर्व
वाली ध
शीनग़र
और फि
शाखा
लूणी औ
कर उस

यह
पानी सि
अंग है।
प्रस्रवण-
अरगन्दा
तुखार-देश
बात यह
हो, उसक
रहा है।
भारतवर्ष

लोगर के पानी से अलग करती है, और दूसरी लम्बी बाँहीं हेलमन्द और सिन्ध के बीच उसी तरह जलविभाजक का काम करती है जैसे हिन्दूकुश आमू और सिन्ध के बीच। इस प्रकार कुर्रम (क्रमु) और गोमल (गोमती) का पानी सिन्ध में पहुँचता है।

सुलेमान पर्वत की शृंखला जो सफ़ेद कोह की इन बाँहियों के पूरब-दक्खिन सिन्ध के काँठे—डेराजात—के सिर पर बराबर चली गई है, उसके पीछे शीनग़र की शृंखला जो उसके समान्तर चली गई है, तथा दोनों के पीछे टोबा और काकड़ की शृंखला—यह पर्वतों की तिहरी दीवार—भी पच्छिम से सिन्ध में आने वाली धाराओं की राह को कहीं भी नहीं रोकती। सुलेमान और शीनग़र के ठीक पीछे के समूचे पानी को गोमल की शाखा झोब और फिर टोबा-काकड़ पर्वतों के पीछे के पानी को उसकी दूसरी शाखा कुन्दार बटोर लाती है, और नीचे चल कर विहोवा, लूणी और संगर नदियाँ सुलेमान-शृंखला को बाचोंबीच चीर कर उसका पानी सिन्ध में ले आती हैं।

यह स्पष्ट है कि अफ़गानिस्तान का पूरबी भाग जिस का पानी सिन्ध नदी में बहता है, भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष का अंग है। सतलज से लेकर काबुल, गोमल तक सब नदियों का प्रस्रवण-क्षेत्र एक ही है। इतिहास की दृष्टि से उसके पच्छिम अरगन्दाब की घाटी भी भारतवर्ष का अंग है, और बदख़शां या तुखार-देश का भी भारतवर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सच बात यह है कि आज अफ़गानिस्तान भले ही भारतवर्ष से अलग हो, उसका इतिहास सदा भारतवर्ष के इतिहास में सम्मिलित रहा है। आज भी उसके अलग होने का केवल यह अर्थ है कि भारतवर्ष के उसी एक प्रान्त ने अपने बड़े अंग की स्वतंत्रता

बचाये रक्खी है[१]। इसलिए हमें भारतवर्ष की स्वाभाविक सीमाओं को अफ़गानिस्तान के स्वतंत्र राज्य में और यदि आवश्यक हो तो उसके पड़ौस में भी आँकना होगा।

हिमालय की हिमरेखा को ज़ोजी जोत पर पार कर सिन्ध की घाटी से सीता की घाटी तक, वहां से कबन्ध (सरीकोल) पर्वत के साथ नागह्रद (रंगकुल) तक, फिर वहां से पच्छिम रंगकुल पामीर के साथ कम्बोज देश के शिग्नान और रोशन ज़िलों को दक्खिन छोड़ते हुए आमू नदी के उत्तरी मोड़ के उत्तरी छोर तक हम भारतवर्ष की सीमा आँकते हुए पहुँचे थे, जहाँ बदख़्शां का प्रान्त हमें सामने नीचे दीख पड़ा था। उसकी पीठ हिन्दूकुश पर्वत है जो उसके दक्खिन लगातार चला गया है। उस पर्वत की धार धार पूरब से पच्छिम चलते हुए अब हम उसके दोनों तरफ़ के प्रदेशों का दिग्दर्शन करेंगे।

आमू के मोड़ के अन्दर बदख़्शां का जो उत्तरी हिस्सा है उसकी बनावट पामीर की सी है। उसकी पच्छिमी सीमा बदख़्शां की केन्द्रिक नदी कोकचा है, जिस के तट पर उसकी राजधानी फ़ैज़ाबाद बसी है। पामीर-वख़ां के सामने हिन्दूकुश के नीचे दरद प्रदेश की गिल्गित घाटी थी, जिसका रास्ता बरोग़ील आदि जोतों से था। बरोग़ील से पच्छिम हिन्दूकुश की कोहान पर अगली प्रसिद्ध और बड़ी जोत दोरा है; उसके नीचे

---

१. नेपाल का स्वतंत्र कहना ठीक नहीं है। जिस देश की विदेशी नीति अपने अधीन न हो, अर्थात् जो देश विदेशों के साथ स्वतंत्र रूप से सन्धि-विग्रह न कर सके, उसे स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। अफ़गानिस्तान भी गन्दमक की सन्धि (१८७९ ई०) के बाद से १९२१ ई० तक स्वतंत्र न था।

दक्खिन तरफ़ अब यारखूं, चितराल या काष्कार[1] नदी की घाटी, जिसमें दरदों के सगोत्र खो लोग रहते हैं, और पंजकोरा (गौरी) तथा स्वात (सुवास्तु) की घाटियाँ या प्राचीन उड्डीयान[2] प्रदेश है। दोरा जोत के नीचे उत्तर तरफ़ दाहिने हाथ इश्काशिम शहर के पास आमू का बड़ा उत्तरी मोड़, और ठीक सामने ज़ेबक शहर के पास कोकचा की धारा वर्दोज बहती दीखती है। आमू के उत्तर मुँह फेरने का कारण यह है कि हिन्दूकुश ने सौ मील लम्बी अपनी एक बाँहीं उत्तर तरफ़ फेंक दी है। दोरा के आगे खावक जोत तक हिन्दूकुश की चोटियों का सब पानी उत्तर तरफ़ कोकचा में ही जाता है; दक्खिन तरफ़ यहाँ काबुल नदी की छोटी छोटी धारायें हैं जिनकी घाटियाँ काफ़िरिस्तान या प्राचीन कपिश देश को, जो उड्डीयान के ठीक पच्छिम लगा है, सूचित करती हैं। खावक जोत से एक और बाँहीं (ख़्वाजा मुहम्मद शृंखला) उत्तरपूरब चली गई है जो कोकचा और कुन्दूज़ के पानियों को बाँटती है। खावक के पच्छिम हिन्दूकुश की कोहान के उत्तर तरफ़ उसके चरणों के साथ साथ अन्दराब की धारा पूरब से पच्छिम जाती दीखती है, और दक्खिन तरफ़ भी ठीक उसी तरह पंजशीर की धारा। कुछ दूर जा कर पच्छिम से उसी तरह पहाड़ के साथ साथ आती हुई सुर्खाब की धारा अन्दराब में अपना पानी मिला देती और दोनों का पानी उत्तर तरफ़ कुन्दूज़ में चला जाता है; ठीक उसी तरह घोरबन्द की धारा पच्छिम से पंजशीर

१. दे० परिशिष्ट १ (८)।

२. न कि उद्यान। इस प्राचीन नाम का पुनरुद्धार उसके चीनी रूपान्तर से आधुनिक विद्वानों ने किया है। पहले यह समझा गया था कि चीनी यात्रियों का 'वू चाङ् न' संस्कृत 'उद्यान' का रूपांतर है; पर अब डा० सिल्व्याँ लेवी ने सिद्ध किया है कि वह एक प्राकृत शब्द का रूपांतर है जिसका संस्कृत रूप 'उड्डीयान' है।

में आ मिलती और वह मिली हुई पंजशीर धारा काबुल से मिलने दक्खिन फिर जाती है। अन्दराब-सुर्ख़ाब और पंजशीर-घोरबन्द घाटियों के बीच सुप्रसिद्ध खावक, काओशां और चहार-दर जोत हैं। सुर्ख़ाब और घोरबन्द के स्रोत अन्त में हमें हिन्दूकुश के पच्छिमी अन्त पर ला पहुँचाते हैं, और सुर्ख़ाब की अन्तिम धारा बामियाँ तथा घोरबन्द के बीच केवल शिबर जोत का जलविभाजक रह जाता है। बामियाँ की धारा ही उस केन्द्रिक घाटी को धोती है जिसके दक्खिन हिन्दूकुश और कोहे-बाबा अपने कन्धे भिड़ाते और अफ़गानिस्तान के कुल पानी को चार तरफ़ बाँटते हैं। बामियाँ के स्रोत से उस केन्द्रिक जलविभाजक के ऊपर ईराक और ऊनाई जोतों द्वारा काबुल के स्रोत तक भी रास्ता है।

कुन्दूज़ नदी बदख्शां की पच्छिमी सीमा है। समूचा बदख्शां एक सीधे ढाल वाला पठार है। उसकी पीठ अर्थात् हिन्दूकुश की कोहान की ऊंचाई समुद्र-सतह से प्रायः १५००० फ़ुट है, मध्य में फ़ैजाबाद की ऊँचाई ४०००, कुन्दूज़ शहर की केवल ११०० और उसके नीचे जहाँ कुन्दूज़ आमू में मिलती है उस मैदान की १०००। आमू के कच्छ की चौड़ाई वहाँ सिर्फ़ २५ से ५० मील तक है, किन्तु आगे फैलती गई है।

बदख्शां के पच्छिम बलख़ (बाह्लीक) प्रान्त है। उसका उत्तर का आधा हिस्सा आमू-काँठे का बालू का मैदान है, और दक्खिन का आधा एक अन्तःप्रवण--अर्थात् दोनों किनारों पर ऊंचा और बीच में नीचा—पठार। उस अन्तःप्रवण पठार का दक्खिनी किनारा बन्दे-बाबा की कोहान है, और उत्तरी किनारा उसके समानान्तर मुर्ग़ाब नदी से सीधे पूरब चली गई बन्दे-तुर्किस्तान और कोहे-चंगड़ की कोहान। दोनों कोहानों के बीच अन्दर की ओर दोनों तरफ़ से ढाल है। बन्दे-बाबा के ढाल का प्रदेश

फ़ीरोज़कोही या कर्जिस्तान कहलाता है। उसकी पूरबी सीमा बलख़ या बन्दे-अमीर नदी है, जिसका स्रोत बामियां के नज़दीक ही है। बन्दे-तुर्किस्तान[1] के उत्तर चोल[2] प्रदेश की रेतीली डूंगरियाँ या टिब्बियां हैं और फिर आमू का मैदान। लेकिन कोहे-चंगड़ के उत्तर वैसी रेतीली डूंगरियों के बजाय फिर एक नीचा पठार आ जाता है जिसका उत्तरी छोर एलबुर्ज पहाड़ी है; एलबुर्ज के शिखर के नीचे बलख़ और ताशकुर्ग़ान नदियां आमू के खादर को सूचित करती हैं। ताशकुर्ग़ान और बलख़ (बन्दे-अमीर) नदियां क्रमशः कुन्दूज़ के पच्छिम हैं। बलख़ से काबुल आने वाले रास्ते इन्हीं नदियों की घाटियों के ऊपर चढ़ कर आते हैं; या तो वे हैबक से कुन्दूज़-घाटी में चले आते हैं, या सीधे दक्खिन कुन्दूज़ की पच्छिमी धाराओं—कमर्द, सैग़ान और बामियां—को पार कर बामियां घाटी में। हैबक बाज़गाह और बामियां उस रास्ते के मुख्य पड़ाव हैं।

बलख़ प्रदेश काबुल और बोख़ारा के अर्थात् भारतवर्ष और मध्य एशिया के बीच है। पिछले इतिहास में उसका सम्बन्ध कभी भारत से, कभी मध्य एशिया से और कभी ईरान से रहा है। १८७३ ई० में उसपर बोख़ारा और काबुल दोनों का दावा था, जब रूसियों और अंग्रेज़ों के पारस्परिक समझौते के अनुसार उसे काबुल के शासन में दे दिया गया। जनता की दृष्टि से भी प्राचीन काल में वह अफ़ग़ानिस्तान का ही अंग था। समूचे मध्य एशिया को आज हम तुर्किस्तान कहते हैं, किन्तु याद रखना चाहिए कि तुर्क लोग उसमें छठी शताब्दी ई० में और उसके बाद आये हैं, उससे पहले वह तुर्किस्तान न था। किन्तु अब मध्य एशिया के और हिस्सों की तरह बलख़ भी तुर्किस्तान बन चुका

१. बन्द माने पर्वत-शृंखला।

२. दे० परिशिष्ट १ (७ इ)

है। इसी कारण हम कमर्द की धारा से पच्छिम तरफ़ फ़ीरोज़-कोही के उतार के साथ साथ खींची रेखा को अफ़गानिस्तान और भारतवर्ष की जातीय उत्तरी सीमा कह सकते हैं। फिर बन्दे-बाबा के दक्खिन घूम कर फ़रारूद नदी के पच्छिम तरफ़ हेरात प्रदेश में पारसी और पठान जनता इस प्रकार मिली हुई है कि हेरात को फ़ारिस का अंग माना जाय या अफ़गानिस्तान का सो कहना कठिन है। लेकिन फ़रारूद की उपरली धारा ग़ोर की घाटी से अफ़गानों का पुराना सम्बन्ध है। सीस्तान की मरुभूमि भी आज अफ़गान राज्य में है, पर उसका भारत की अपेक्षा ईरान से अधिक सम्बन्ध है। इसीलिए हेरात से कन्दहार तक उस मरुभूमि के उत्तरी छोर से होते हुए हमारी सीमान्तरेखा ख़्वाजा अमरान शृंखला पर आ लगती है।

§ १८. कलात और लासबेला

वह शृंखला आजकल के ब्रिटिश बलोचिस्तान में है। ब्रिटिश बलोचिस्तान एक भ्रमजनक नाम और बनावटी रचना है। उसके उत्तरी भाग—क्वेटा, झोब, लोरालाई—को उत्तरपच्छिमी सीमा-प्रान्त के पच्छिमी अंश के साथ वास्तव में ब्रिटिश अफ़गानिस्तान कहना चाहिए। उसके दक्खिनी भाग का पच्छिमी अंश असल में ब्रिटिश बलोचिस्तान है, लेकिन बलोचिस्तान या बलोच देश का मुख्य अंश फ़ारिस के राज्य में है। बलोच लोग उस प्रदेश में भी कुर्दिस्तान से ११ वीं शताब्दी ई० में आये थे। वहाँ से बाबर बादशाह के समय में उनके बहुत से कबीले, जिन में से रिन्द का नाम प्रसिद्ध है, भारतीय सीमा के कलात और लासबेला प्रदेशों की तरफ़ बढ़े और उन्हें पार कर सिन्ध और पंजाब के सीमान्तों में भी जा बसे। बलोचों के प्रवेश के बावजूद भी कलात और लासबेला प्रदेश जनता और भाषा की दृष्टि से अब तक भारतीय

बने हुए हैं, और उनके कारण पूरबी अर्थात् भारतीय बलोच पच्छिमी अर्थात् बलोचिस्तान के बलोचों से अलग हो गये हैं। समूचा (फ़ारसी तथा ब्रिटिश) पच्छिमी बलोच-देश भारतवर्ष की वास्तविक सीमा के बाहर है।

कलात की अधित्यका को अफ़गानिस्तान की अधित्यका से दर्रा बोलान अलग करता है। सुलेमान पर्वत की शृङ्खला तख़्ते-सुलेमान या कैसरगढ़ की चोटी से दक्खिन जाती हुई अन्त में पच्छिम और फिर ज़रा सा उत्तर तरफ़ घूम गई है। उसी तरह उस के पीठ पीछे की शीनग़र और टोबा-काकड़ शृङ्खलायें भी घूमी हैं। उन के उस घुमाव और कलात की अधित्यका के बीच सिन्ध के काँठे से मैदान का एक बढ़ाव फाने की तरह धँस गया है जिसे कच्ची गन्दावऽ कहते हैं। वह भारतवर्ष का सब से सूखा और सब से गर्म प्रदेश है। सुलेमान और शीनग़र शृंखलाओं के दक्खिनी मोड़ में से बरसात में बहने वाली नरेची, लोरालाई आदि धारायें, और कलात पठार के उत्तरी अंश में से आने वाली नारी, बोलान आदि धारायें कच्ची गन्दावऽ की प्यास बुझाते बुझाते सूख जातीं और सिन्ध तक नहीं पहुँच पाती हैं।

कलात शहर इस अधित्यका के जलविभाजन का केन्द्र है। वह स्वयं शोरारूद की एक धारा कुआर नदी के स्रोत पर बसा है, जो उत्तर बहती हुई क्वेटा-पिशीन से आने वाली पिशीन-लोरा से मिल कर लोरा-हामूं[1] में चली जाती है। कलात के पूरब-उत्तर का पानी बोलान में जाता है, और दक्खिन का मूला में। मूला भी कच्ची गन्दावऽ में जाती है, और उसका बनाया हुआ रास्ता—मूला दर्रा—किसी समय पच्छिम जाने के लिए दर्रा बोलान की तरह प्रसिद्ध था।

१. हामूं माने ह्रद या झील।

उसके दक्खिन खीरथर और हालार पर्वतों की शृङ्खलायें हैं, जिनके बीच हाब, पुराली और हिंगोल नदियाँ उत्तर से दक्खिन सीधी बहती हैं। पुराली की घाटी में लास बेला शहर है, और हिंगोल के पच्छिम तट पर हिंगुलाज तीर्थ[1]।

इस प्रदेश में भारतवर्ष की सीमा कलात-अधित्यका और हिंगोल-घाटी के पच्छिमी छोर के साथ साथ हिंगुलाज के दक्खिन रास (अन्तरीप) मलान पर समुद्र को आ छूता है।

चटगांव की पहाड़ियों और लोहित नदी से आमू, हेलमन्द और हिंगोल तक हमने भारतवर्ष की सीमान्त रेखा जिस प्रकार अंकित की है वह हूबहू वही है जो महाकवि कालिदास ने रघु की दिग्विजय-यात्रा के बहाने बतलाई है[2]।

§१९. हिमालय के पानी और प्रदेश

पच्छिमोत्तर की पर्वत-शृंखलाओं के वर्णन में उनके पानियों और प्रदेशों का भी वर्णन हो गया है। हिमालय की पहाड़ी शृंखलाओं की व्याख्या की जा चुकी है, पर उन के अन्दर के प्रदेशों की चर्चा अभी बाकी है।

अ. कापिश से कोहिस्तान;—हिमालय की पच्छिमी सीमा सिन्ध नदी है, और पच्छिम से काबुल नदी उसमें अपना पानी ला मिलाती है। उत्तरपूरब से कई छोटी नदियां काबुल में आ मिलती हैं, इसीलिए उन नदियों का रास्ता सिन्ध के लग-

---

१. हिंगुलाज तीर्थ के लिए दे० देवी भागवत पुराण (बंगला लिपि में वंगवासी प्रेस से प्रकाशित), ७,३८,६ तथा ब्रह्मवैवर्त्त पु० (जीवानन्द) कृष्णजन्म-खण्ड, ७६,२१। अब भी कराची से ऊँटों पर चढ़ कर हिंदू तीर्थयात्री वहां जाते हैं।

२. दे० परिशिष्ट १ (५)।

भग समानान्तर है। काबुल नदी काबुल शहर के पच्छिम संगलख पहाड़ से आती है। उत्तर से सब से पहली उस में मिलने वाली धारा पंजशीर है जो चरीकर के उत्तर पूरब-पच्छिम से आने वाली दो धाराओं—पंजशीर और घोरबन्द—के संगम से बनी है। उन दोनों धाराओं की घाटियां हिन्दूकुश के ठीक चरणों के साथ चली गई हैं, और पूरब तरफ़ हमें खावक घाटे तक ला पहुँचाती हैं।

खावक के पूरब हिन्दूकुश और काबुल नदी के बीच का प्रदेश काफ़िरिस्तान या कपिश है; प्राचीन कपिश देश में शायद कभी पंजशीर और घोरबन्द घाटियां भी शामिल रहती रही हों, पर आजकल वे निश्चय से नहीं हैं। पंजशीर के पूरब अगली धारा अलीशांग है जिसके काबुल के साथ संगम का प्रदेश लमूघान[1] या लम्पाक कपिश का दक्खिनी छोर है। अगली नदी हमें कुनार मिलती है जो ऊपर चितराल या काष्कार तथा और ऊपर यारखूं कहलाती है। कुनार नदी तथा चितराल शहर के ऊपर दोरा घाटा कपिश की पूरबी सीमा है। बशगोल नाम की एक धारा पच्छिम से चितराल में मिलती है, उस की घाटी ठीक कामदेश-काफ़िरों के इलाके को सूचित करती है।

कुनार के पूरब स्वात (सुवास्तु) नदी है, जो मालकन्द दर्रे के कुछ पच्छिमोत्तर पंजकोरा (गौरी) और स्वात के मिलने से बनी है। पंजकोरा पच्छिमी और स्वात पूरबी धारा है। स्वात के पूरब सिन्ध है। काबुल नदी के ठीक उत्तर लगा हुआ कुनार-स्वात दोआब का प्रदेश बाजौर तथा उसके उत्तर दीर है; दीर के उत्तरपच्छिम चितराल नदी के दायें चितराल शहर है। स्वात-सिन्ध बीच का प्रदेश निचले अंश में यूसुफ़जई, उपरले अंश में बुनेर, तथा बुनेर के पच्छिम पंजकोरा-स्वात के बीच का दोआब 'स्वात' है। ठीक स्वात-काबुल-संगम पर प्रांग और

१. दे. परिशिष्ट ३।

चारसद्दा बस्तियां हैं जिन में प्राचीन पुष्करावती नगरी के अवशे हैं। पुष्करावती पच्छिमी गान्धार प्रदेश की राजधानी थी; उस प्रदे की पच्छिमी सीमा कुनार नदी पर कपिश की पूरबी सीमा से लगं थी। स्वात की घाटी ही प्राचीन उड्डीयान थी जो पच्छिम गान्धार क एक ज़िला था। दीर, स्वात और बुनेर के उत्तर पंजकोरा, स्वा और सिन्ध तीनों की घाटियाँ कोहिस्तान[1] कहलाती हैं। काफ़िरिस्ता के पूरब दक्खिनी अंश में जैसे बाजौर-बुनेर-स्वात हैं, वैसे ही उत्त अंश में कोहिस्तान। किन्तु काफ़िरिस्तान की पूरबी सीमा चितराल नदी थी, और कोहिस्तान की सीमा पंजकोरा के कुछ ही पच्छिम पहुँचती है, दोनों के बीच उत्तर कोने में चितराल या यारखूं की घाटी है, जिस में खो लोग रहते हैं। उस नदी का स्रोत हमें ठीक पामीर की जड़ तक पहुँचा देता है, जहां उसके पूरब यासीन-गिल्गित की घाटी या दरद देश है।

इ. दरद से डुगर, हज़ारा से कष्टवार;—कोहिस्तान और उसके उत्तर दरद-देश सिन्ध के पच्छिम और उत्तर शुरू होते हैं, लेकिन वे हमें सिन्ध के पूरब और दक्खिन अर्थात् हिमालय में ला पहुँचाते हैं। सिन्ध नदी चिलास-प्रदेश में बहने के बाद जहाँ अन्तिम बार दक्खिन-वाहिनी हुई है वहां उसके दोनों तरफ़ का प्रदेश कोहिस्तान है, ऊपर जहां सिन्ध उत्तरपच्छिम-वाहिनी है वहां कुछ दूर तक उसके दोनों तरफ़ दरद-प्रदेश है। कोहिस्तान के नीचे सिन्ध और कृष्णगंगा-जेहलम नदियों के बीच का पहाड़ी इलाका हज़ारा ज़िला या प्राचीन उरशा है, जो कृष्णगंगा-घाटी के निचले अंश-सहित मुग़ल ज़माने में पखली कहलाता था।

---

१. कोहिस्तान शब्द बड़ा गोलमाल है, क्योंकि कोई भी पहाड़ी इलाका कोहिस्तान कहला सकता है। काबुल के उत्तर-पच्छिम पग़मान और पंजशीर के पहाड़ भी कोहिस्तान कहलाते हैं, और सिन्धी लोग अपने खीरथर-प्रदेश को भी कोहिस्तान कह डालते हैं।

हज़ारा के उत्तरी अंश में कुन्हार नदी की एकान्त घाटी है। हज़ारा के पूरब पहाड़ों में जेहलम की चक्करदार दून ही कश्मीर है। कश्मीरी लोग 'जेहलम' नाम नहीं जानते, वे उसे व्यथ (वितस्ता) कहते हैं। उस दून के उत्तर कृष्णगंगा की घाटी से सिन्ध की घाटी तक दरद-देश का पूरवी अंश है। दर्दिस्तान और कश्मीर दोनों के पूरब तिब्बती प्रदेश—बोलौर (बाल्ती), लदाख, ज़ङ्स्कर—हैं।

हमने देखा था कि दरद-देश चितराल के पूरब यासीन, मस्तूच, गिल्गित आदि बस्तियों से शुरू होता है। गिल्गित के उत्तर-पूरब हुंज़ा और नगर की घाटियां भी उसी में हैं, यद्यपि उन में दरदों के अतिरिक्त 'बुरुशास्की' लोग भी रहते हैं। वे घाटियां तग़दुम्बाश पामीर के ठीक दक्खिन हैं और वहां से सिन्ध-घाटी तक का रास्ता बनाती हैं। फिर सिन्ध के बायें नंगा पर्वत के उत्तर और पच्छिम हसोर या अस्तोर, बुंजी, चिलास आदि बस्तियां भी दरदों की हैं। गिल्गित-संगम के मुँह पर सिन्ध के पहले नुकीले दक्खिनी मोड़ में बुंजी किला नंगा पर्वत के ठीक उत्तर है, आज-कल दरद देश की पूरवी सीमान्तरेखा उसके करीब २० मील पूरब सिन्ध को पार कर लदाख-शृंखला के दक्खिनी छोर को पकड़ लेती है। उसी शृंखला के साथ वह करीब ४५ मील तक दक्खिन-दक्खिन-पूरब चली जाती और फिर पूरब मुड़ कर देवसई मैदान को दरद-प्रान्त के अन्दर छोड़ते हुए सिन्ध को पार कर जाती है। सिन्ध और शिओग के बीच वह एक छोटे से कोने को घेर लेती है। उसके इस मोड़ के उत्तर-पच्छिम सिन्ध-शिओग घाटी का जो प्रदेश स्कर्दू के चौगिर्द लदाख शृंखला और कैलाश शृंखला के बीच छुट गया वह बोलौर या छोटा तिब्बत—कश्मीरियों का लुख बुद्रुन—है। यह छोटा तिब्बत तिब्बत की पच्छिमी नोक है जो भारतवर्ष के कम्बोज-देश और दरद देश के बीच एक पच्चर

की तरह धँस गई है। यह पत्थर आठवीं शताब्दी ई० के आर
में पहले पहल धँसा था, और तब इस प्रदेश को तिब्बतियों
वापिस छीनने के लिए कश्मीर के राजाओं ने काफी कोशिश
की थी, क्योंकि वह प्रदेश उससे पहले सदा भारतवर्ष में गि
जाता था। आजकल वह कश्मीर रियासत में सम्मिलित है।
सिन्ध की घाटी में भी दरद देश की पूरबी सीमा पहले आजक
से भी अधिक पूरब तक थी[1]। वहां से वह दक्खिनपच्छिम मु
कर सिन्ध पार करती, और कर्गिल प्रदेश के पच्छिम—
तिब्बत में छोड़ते हुए—तथा द्रास नदी के पूरब, उसकी घाटी
दरद-देश में लेते हुए, ज़ोजी ला पर हिमालय की बड़ी शृंखला
को आ छूती है। ज़ोजा ला दरद-देश की दक्खिन-पूरबी और
कश्मीर-घाटी की उत्तर-पूरबी सीमा है; उसके पूरब हिमालय
पीठ पीछे लदाख है जो बड़े तिब्बत—'बुड बुदुन'—में शामि
है। तिब्बती लोग उसे मर-युल अर्थात् मक्खन का देश
कहते हैं।

हिमालय की बड़ी शृंखला, जो सिन्ध और कृष्णगंगा
बीच जलविभाजक है, नंगा पर्वत से शुरू हो कर दक्खिनपूरब
जाते हुए दूसरी बड़ी चोटी नुनकुन से करीब ४० मील पहले
एकाएक नीचे गिर कर फिर ऊपर उठती है। वही व्यवधान ज़ोजी
ला है। उसके उत्तर तरफ़ सिन्ध की शाखा द्रास नदी का स्रोत
है, और दक्खिन तरफ़ व्यथ की शाखा (छोटी) सिन्धु का,
वह छोटी सिन्धु उन अनेक सुन्दर धाराओं में से मुख्यतम है
जो कश्मीर की घाटी में व्यथ के साथ मिलती हैं। उसे उत्तर-
गंगा भी कहते हैं, और श्रीनगर के उत्तर-पच्छिम जहां उसका

---

१. फ्रांके—ए लैंग्वेज मैप औफ़ दि वैस्ट तिबेत (पच्छिमी तिब्बत का एक भाषा-नक्शा), जर्नल औफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी औफ़ बंगाल, (संकेत ज. ए. सो. बं.) १६०४ (जि० ७३), भाग १ पृ० ३६२ आदि।

वितस्ता से संगम हुआ है वह स्थान कश्मीर में प्रयाग कहलाता है। छोटी सिन्धु या उत्तरगंगा के स्रोत से हिमालय की बड़ी श्रृंखला ने पच्छिम तरफ़ एक बाँह बढ़ा दी है जो व्यथ और कृष्णगंगा के बीच जलविभाजक का काम करती है। उसी विभाजक में हरमुक (हरमुकुट)[1] पहाड़ है जिसके ऊपर सिन्धु की एक छोटी धारा का स्रोत है, इसी कारण हम उस समूची बाँहों को हरमुक-श्रृंखला कह सकते हैं। वह कश्मीर और दरद देश के बीच सीमा है, जिससे कृष्णगंगाकी उपरली—पच्छिमवाहिनी—घाटी दरद देश में पड़ती है। उस श्रृंखला पर पच्छिम जाते हुए हमें दुदखुट (दुग्धघाट) घाटा मिलता है, जिसके उत्तर कृष्णगंगा (कृष्णा)-घाटी में दरदों की मुख्य बस्ती गुरेज़ (दरदपुरी) है, और दक्खिन बंडपोर (मधुमती) नदी वोलुर (उल्लोल अथवा महापद्म) सरोवर की तरफ़ रास्ता बनाती है। दुदखुट कश्मीर और दरद-देश के बीच मुख्य रास्ता था, लेकिन आजकल का गिल्गित-ट्रांसपोर्ट रोड आठ मील पच्छिम राजदि-अंगन घाटे से जाता है। अन्त में जहाँ कृष्णगंगा ने पहली बार दक्खिन मुँह फेरा है, वहाँ कश्मीर की सीमा उसकी घाटी में जा निकली है। वहीं कृष्णगंगा और कंकतोरी (सरस्वती) के संगम के सामने शारदी या प्राचीन शारदातीर्थ है जिसके कारण कश्मीर शारदा-देश कहलाता है। शारदी से कंकतोरी-घाटी और बाबूसर जोत द्वारा जो कुन्हार-घाटी के भी ठीक ऊपर है, चिलास को सीधा रास्ता जाता है। शारदी के नीचे कश्मीरी भाषा की सीमा कृष्णगंगा है जो उसे मुग़ल काल के पखली इलाके से अलग करती है। हरमुक-शृंखला कृष्णगंगा के बायें बायें बराबर चली गई है, और अन्त में ज़रा घूम कर एक दूसरी शृंखला काजनाग से जा जुड़ी है जो बारामूला

१. कोष्ठों में प्राचीन नाम हैं।

(बराहमूल) के प्रसिद्ध दर्रे पर व्यथ को छूती है । बारामूला उत्तर-पच्छिम उठती हुई इस शृंखला की मुख्य चोटी काजन दीखती है, वहाँ से इसकी एक शाखा पच्छिम घूम गई है; औ उसके चरणों के नीचे नीचे व्यथ की घाटी चली गई है, दूस शाखा सीधे उत्तर कृष्णगंगा की तरफ़ जा कर हरमुक-शृंख से जा मिली है। दोनों के बीच कश्मीर का कर्नात्र (कर्णाह खिला है, और उनके नीचे व्यथ की घाटी द्वारविड़ी (द्वारवती स्पष्ट है कि कश्मीर से शारदी का रास्ता काजनाग-शृंखला दर्रों में या घाटों पर से जाता है ।

फिर हम ज़ोजी घाटे पर हिमालय की बड़ी शृङ्खला पर लौट हैं । उसके १० मील पूरब-दक्खिन-पूरब एक चोटी से सी दक्खिन को एक और शृङ्खला फटती है, जिसके ठीक आरम्भ अमरनाथ तीर्थ है । यह अमरनाथ शृङ्खला कश्मीर घाटी पूरबी सीमा, और व्यथ तथा चिनाब की जलविभाजक है। उस पूरब तरफ़. उसके और हिमालय की बड़ी शृङ्खला के बीच मरु वर्द्वान (ऋग्वेद १०,७५,५ की मरुद्वृधा[1]) नदी की एकान्त घाटी है, जो कष्टवार (काष्ठवाट) शहर के सामने चिनाब की मुख्य घाटी कष्टवार में जा निकलती है । कश्मीर से मरुवर्द्वान और कष्टवार घाटियों के रास्ते इसीलिए अमरनाथ शृङ्खला के दर्रों और घाटों द्वारा जाते हैं ।

अमरनाथ शृङ्खला व्यथ के सब से दक्खिनी स्रोतों का घेरा करती हुई अन्त में उत्तर-पच्छिम मुड़ कर ढल गई और एक नई शृङ्खला में जा मिली है। उसका वही उतार बानहाल (बाणशाला) जोत है जो चिनाब-काँठे से कश्मीर जाने का मुख्य रास्ता था।

१. भण्डारकर कोमेमोरेशन वौल्यूम (भण्डारकर-स्मारक ग्रन्थ) १९१७, पृ० २३–२४ ।

बानहाल से फिर बारामूला और मुज़फ्फ़राबाद के सामने तक कश्मीर-घाटी के दक्खिन और दक्खिन-पच्छिम प्रसिद्ध पीर पंचाल शृङ्खला (पंचालधारा[1]) है। बानहाल से ब्रह्मसकल (नौबन्धन) चोटी तक वह सीधे पच्छिम, और वहाँ से तटकुटी चोटी तक उत्तरपच्छिम गई है, दोनों चोटियों के बीच पीर पंचाल घाटा है। तटकुटी से तोषमैदान घाटे तक सीधा उत्तर जा कर फिर वह गुलमर्ग के उडर[2] (पठार) की तरफ़ उत्तरपच्छिम झुकती है। गुलमर्ग के ज़रा पहले से फट कर उसकी एक शाखा उत्तर बारामूला के सामने तक, और दूसरी काजनाग के बराबर मुज़फ्फ़राबाद के सामने तक जा पहुँचती है। वोलुर सरोवर से कृष्णगंगा के संगम तक व्यथ की तंग घाटी ने जो चक्करदार पच्छिमी राह पकड़ी है वह इन्हीं दोनों पहाड़ों के कारण। संगम के बाद वह एकदम दक्खिन घूम गई है; वैसा नुकीला कोण पंजाब की और किसी नदी ने नहीं बनाया। कुछ ही नीचे उस में पच्छिम—हज़ारा ज़िले—से आती हुई कुन्हार नदी मिलती है। कुन्हार घाटी के पच्छिम हज़ारा (उरशा) की खुली घाटी उत्तर-दक्खिन चली गई है।

कश्मीर-घाटी से व्यथ जिस प्रकार बाहर निकली है, वही उसमें जाने आने का मुख्य रास्ता दीख पड़ता है, आजकल रावलपिंडी और मरी से कश्मीर तक की बड़ी सड़क उसी तरह गई है। लेकिन वास्तव में वह केवल पच्छिम—पेशावर (पच्छिम गान्धार) और अफ़गानिस्तान—जाने का मुख्य मार्ग है। बारामूला दर्रे से कृष्णगंगा-संगम तक, फिर कृष्णगंगा और कुन्हार पार कर मनसहरा और हज़ारा द्वारा पुष्करावती या पेशावर तक पुराना

१. यहाँ धारा शब्द के अर्थ के विषय में दे० परिशिष्ट ३।

२ कश्मीर घाटी में पहाड़ों के ऊपर जो छोटे छोटे मैदान हैं उन्हें कश्मीरी लोग उडर कहते हैं।

सीधा रास्ता है। लेकिन पच्छिम पंजाब जाने के मुख्य सीधे रास्ते तोषमैदान और पीरपंचाल जोतों पर से हैं।

पीरपंचाल शृंखला के नीचे नीचे हिमालय की बाहरी शृंखला में व्यथ से चिनाब तक छिभाल (अभिसार[1]) प्रदेश है, जिसमें पुंच (पर्णोत्सा), राजौरी (राजपुरी) और भिम्भर रियासतें हैं। उनकी बस्तियां व्यथ और चिनाब की उन अनेक छोटी धाराओं की दूनों में हैं जो पीरपंचाल के दक्खिनी चरणों से निकलतीं, और सभी तावी या तोही (तौषी) के सामान्य नाम से पुकारी जाती हैं। उस शृङ्खला के सब घाटे इन्हीं धाराओं की जड़ पर हैं। पुंच की तोही का रास्ता ही पीरपंचाल घाटा और उसकी एक धारा का तोषमैदान घाटा है। तोषमैदान घाटे ही के नीचे लोहार के किले से सन् १०२१ में महमूद गज़नवी को तथा तोषमैदान के उडर से सन् १८१४ में रणजीतसिंह को हार कर लौटना पड़ा था।

कश्मीर घाटी की कुल लम्बाई-चौड़ाई मोटे हिसाब से ८४ × २५ मील है। यही वह घाटी है जिसके विषय में कवि ने कहा है—

अगर फ़िरदौस बर रूए ज़मीन् अस्त,
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त !

अर्थात् संसार में यदि कहीं स्वर्ग है तो यहीं है! हिमालय में दूसरी कोई घाटी इतनी बड़ी नहीं है, तो भी हिमालय की बस्तियों की भौगोलिक बनावट का नमूना कश्मीर और उसके पड़ोसी प्रदेशों के वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा। काजनाग, हरमुक, अमरनाथ और पीरपंचाल पर्वत जिनके बीच में वह घाटी घिरी

१. प्राचीन अभिसार में आजकल छिभ नाम के लोग रहते हैं, इस कारण वह छिभाल कहलाता है। दोनों शब्दों में कोई सम्बन्ध नहीं है।

है, सब हिमालय की भीतरी शृंखला के हैं; नंगा पर्वत और ज़ोजी जोत वाली गर्भ-शृंखला उन्हें उत्तर तरफ़ ढासना दिये हुए है। उनके नीचे की तरफ़ अभिसार देश में बाहरी शृंखला की पहाड़ियाँ और बस्तियाँ हैं जिनके दक्खिनी चरणों के १०० मील और दक्खिन लाहौर तक की मीनारों से भी बहुत अच्छी मौसम में पंचालधारा की तटकुटी चोटी का हिममुकुट देखा जा सकता है। भीतरी शृंखला के पहाड़ मानो गर्भ शृंखला में से फूट कर किस प्रकार फैले हुए हैं, और नदियों की घाटियों को उन्होंने किस प्रकार चक्करदार रास्तों में घुमाया है, उसका नमूना भी उक्त वर्णन से स्पष्ट हुआ होगा। हिमालय की सभी मुख्य बस्तियाँ और घाटियाँ भीतरी शृंखला में हैं। कश्मीर की प्रसिद्धि और प्रशंसा से यह न समझना चाहिए कि अन्य घाटियों का सौन्दर्य और रमणीकता कुछ कम है।

चिनाब की दो घाटियों—मरुवर्द्वान और कष्टवार—का उल्लेख हो चुका है, कष्टवार चिनाब के वैसे ही पहले दक्खिन मोड़ के अन्दर है जैसे बुंजी सिन्ध के। उसके ऊपर चिनाब की उपरली धारा अब तक अपने मूल संस्कृत नाम चन्द्रभागा से पुकारी जाती है, और उसका प्रवाह सिन्ध के उपरले प्रवाह की तरह उत्तरपच्छिम-मुख है, इसी कारण उस का उत्तरपच्छिमी सिरा व्यथ के उद्गमस्थान अर्थात् कश्मीर घाटी के बहुत नज़दीक पहुँच गया है। कष्टवार वाले दक्खिन मोड़ के बाद वह फिर साठ एक मील पच्छिम बहती गई है, उस के अन्तिम दक्खिनी मोड़ पर रियासी के सीधे उत्तर उस में अस नदी मिली है, जिस का नाम चिनाब के वैदिक नाम असिक्नी की याद दिलाता है[1]। कष्टवार वाले मोड़ के दाहिने पीर पंचाल शृंखला का

१. भंडारकर-स्मारक, १९१७, पृ. २५।

पूरबी छोर है, और रियासी वाले मोड़ के बायें धौला धार का पच्छिमी छोर। धौला धार की उपत्यका में अभिसार के पूरबदक्खिन चिनाब और रावी के बीच जम्मू और बल्लावर (वल्लापुर) की बस्तियां हैं जो प्राचीन दार्व या आधुनिक डुग्गर प्रदेश को सूचित करती हैं। डुगर के रहने वाले डोगरे राजपूत अपने पहाड़ों की तरह मज़बूत होते और भारतवर्ष की सब से सुन्दर लड़ाकू जातियों में गिने जाते हैं। डुगर और कश्मीर के बीच धौला धार के उत्तर तरफ़ भद्रवा (भद्रावकाश) है।

उ. *कांगड़ा से कनौर;*—डुगर के पूरबदक्खिन रावी और ब्यास के बीच धौला धार की उपत्यका में कांगड़ा प्रदेश है जिस में सुप्रसिद्ध ज्वालामुखी तीर्थ है, और जो प्राचीन काल में सतलज-ब्यास के 'द्वाबे (जलन्धर-हुशियारपुर ज़िलों) सहित त्रिगर्त्त देश कहलाता था। द्वाबे में हुशियारपुर ज़िले के उपरले छोर पर ब्यास की कोहनी से सतलज की कोहनी तक लगातार शिवालक पहाड़ियां और उनके ऊपर फिर उसी दिशा में सालासिंगी पहाड़ियां चली गई हैं। ऊपर धौला धार रावी की तरह ब्यास और सतलज को भी रास्ता देती हुई टौंस के स्रोत पर हिमालय की बड़ी शृंखलामें जा लगी है। वास्तव में यों कहना चाहिए कि वह वहीं हिमालय की गर्भ-शृंखला से फूटी है, और पीर पंचाल की तरह पच्छिमोत्तर मुँह किये चिनाब के मोड़ के सामने तक चली गई है। सालासिंगी और धौला धार के बीच ब्यास की घाटी में, कांगड़ा के दक्खिनपूरब, मंडी प्रदेश है और मण्डी के दक्खिनपूरब सतलज-घाटी में सुकेत सुकेत के नीचे सतलज-घाटी में सालासिंगी के दक्खिनपूरबी छोर पर

१. 'धार' शब्द का अर्थ मेरे विचार में पर्वत-शृंखला है। परिशिष्ट ३।

कहलूर या बिलासपुर, और उसके दक्खिन सतलज की कोहनी के एक तरफ़ नलगढ़ है।

धौला धार और बड़ी हिमालय-शृंखला के बीचोंबीच चन्द्रभागा और रावी की उपरली घाटियां हैं, जिन्हें एक और ऊँची शृंखला एक दूसरे से अलग करती है। चन्द्रभागा के पहले दक्खिन-मोड़ में कष्टवार है, तथा उसकी घाटी में और ऊपर पंगी का एकान्त रम्य प्रदेश। उस के दक्खिन, कांगड़ा के उत्तर और कष्टवार-भद्रवा के दक्खिनपूरब रावी की उपरली घाटी चम्बा या प्राचीन चम्पा है। त्रिलोकनाथ के ऊपर चन्द्रभागा की घाटी और उसकी दो मूल धाराओं भागा और चन्द्रा की घाटियों का प्रदेश लाहुल कहलाता है। भागा और चन्द्रा हिमालय की गर्भ शृङ्खला से निकली हैं, और बारालाचा जोत से जैसे चन्द्रा दक्खिन उतरी है, वैसे ही हिमालय की शृङ्खला भी उसके बायें बायें दक्खिन घूम गई है।

चन्द्रा के उत्तरपच्छिम मुड़ जाने के बाद भी हिमालय-शृङ्खला दक्खिन बढ़ती गई है, और वहीं उस मोड़ के दस पन्द्रह मील दक्खिन ही उस शृङ्खला में मणिकर्ण के ऊपर ब्यास के स्रोत हैं। ब्यास के दूसरे बहुत से स्रोतों का तो चन्द्रा से अन्तर पांच मील का भी नहीं है। सिन्ध और सतलज की तरह चिनाब और ब्यास का निकास भी एक दूसरे के बिलकुल नज़दीक है, और उन दोनों के प्रवाहों की दिशा भी लगभग सिन्ध-सतलज की सी है। रावी का उपरला प्रवाह इन दोनों के घेरे के अन्दर रह जाता है, मध्य काल में जब ब्यास सतलज में मिलने के बजाय मुलतान के नीचे चिनाब में मिलती थी तब रावी का समूचा प्रवाह चिनाब और ब्यास के घेरे में उसी तरह घिर जाता था जैसे स्वयं चिनाब

और ब्यास का सिन्ध-सतलज के घेरे में। ब्यास के उपरले स्रोतों के दिव्य प्रदेश का नाम कुल्लू (कुलूत) है। स्पष्ट है कि वह लाहुल के दक्खिन और चम्बा के पूरबदक्खिन है। काँगड़ा और मण्डी से उसे धौला धार अलग करती है। उसकी पीठ पर ब्यास के स्रोतों वाली हिमालय की बड़ी शृङ्खला है।

हम देख चुके हैं कि उस शृंखला की परली तरफ़ चन्द्रा और ब्यास की उपरली धाराओं के बराबर स्पीती और परे की धारायें चली गईं हैं जो सतलज में मिलती हैं, तथा बारा लाचा जोत के उस तरफ़ चन्द्रा और स्पीती से उलटी—उत्तरपच्छिम—दिशा में जङ्स्कर नदी उतर गई है स्पीती की घाटी और लाहुल-कुल्लू के बीच उत्तर से दक्खिन हिमालय की गर्भ-शृंखला है। स्पिती-घाटी सतलज की जिस उपरली घाटी में जा निकलती है, उसे कनौर या बशहर कहते हैं। अन्यत्र[१] मैंने सिद्ध किया है कि वही प्राचीन किन्नर देश है। कनौर के बीचोंबीच हिमालय की गर्भ-शृंखला गुज़री है, इसलिए कनौर घाटी गर्भ-शृंखला के अन्दर की है। उसे भीतरी शृंखला की सतलज-घाटी अर्थात् सुकेत से धौला धार अलग करती है। कुल्लू की पूरब पीठ से कनौर की तरफ़ फिरते समय हिमालय की गर्भ-शृंखला ने श्रीकन्द धार[२] नाम की अपनी एक बाँहीं आगे बढ़ा दी है, जो ब्यास और सतलज के पानियों को बांटती, अर्थात् कुल्लू को कनौर से अलग करती है। इस धार पर पीन-पर्वती नाम की एक जोत है जिसके एक तरफ़ पीन नदी का पानी स्पीती में, और दूसरी तरफ़ पर्वती का पानी ब्यास में जाता है।

कनौर की पीठ पर ज़ङ्स्कर शृंखला है जो स्पीती की पूरबी धारा परे के बायें बायें उसी तरह चली गई है जैसे हिमालय

१. रघु० दि०, दे० परिशिष्ट १ (४)।

२. धार शब्द के विषय में दे० परिशिष्ट [illegible]

की गर्भ-शृंखला चन्द्रा के बायें बायें। परे के स्रोत के उत्तर से वह रुपशू और ज़ङ्स्कर प्रदेशों में हिमालय के बराबर पीठ पीछे चली गई है। ज़ङ्स्कर नदी जो चन्द्रा के स्रोत के दूसरी तरफ़ हिमालय से उतरी है उसके पच्छिमी छोर के पच्छिम घूमती हुई सिन्ध में जा मिली है। उसी की घाटी तिब्बत का ज़ङ्स्कर प्रदेश है। ज़ङ्स्कर का शब्दार्थ है सफ़ेद तांबा अर्थात् कांसा। सिन्ध नदी क्योंकि हिमालय की गर्भशृंखला की पीठ पीछे उससे १२० से ६० मील तक दूर बराबर उत्तरपच्छिम चलती गई है, इसलिए सिन्ध और हिमालय के बीच जो तिब्बती प्रदेश हैं वे क्रम से एक दूसरे के उत्तरपच्छिम या दक्खिनपूरब हैं। कश्मीर के पूरब हिमालय की पीठ पीछे का प्रदेश लदाख है, उसके दक्खिन ज़ङ्स्कर है। ज़ङ्स्कर के दक्खिनपूरब रुपशू, फिर हानले, फिर चुमूर्ति। रुपशू स्पिती के ठीक उत्तर है; स्पिती और हानले-चुमूर्त्ति के बीच ज़ङ्स्कर शृंखला है, किन्तु वह शृंखला रुपशू और ज़ङ्स्कर के बीचोंबीच चली गई है जैसे लदाख-शृंखला हानले और चुमूर्त्ति के। चुमूर्त्ति के पूरब और दक्खिन ङरी-खोर्सुम का गूगे प्रदेश शुरू हो जाता है, जिसे कनौर से ज़ङ्स्कर शृंखला अलग करती है।

कैलाश पर्वत और मानसरोवर के चौगिर्द तिब्बत का एक बड़ा प्रान्त ङरी खोर्सुम कहलाता है। भारतवर्ष के तिब्बत जाने वाले पहाड़ी व्यापारी उसी को हूणदेश कहते हैं। 'ङरी खोर्सुम' नाम में असल संज्ञा-शब्द केवल ङरी है जिसका अर्थ है शक्ति, ऐश्वर्य; खोर्सुम का अर्थ है चक्र-त्रय; ङरी खोर्सुम हुआ ङरी-चक्रत्रय अथवा ङरी के तीन प्रदेश। कनौर की उत्तरी सीमा से नेपाल में मुक्तिनाथ के उत्तर तक भारतवर्ष के उत्तरी छोर के साथ साथ तथा पच्छिमी अंश में चाङथङ की दक्खिनी सीमा तक समूचा ङरी खोर्सुम है। उसके तीन प्रदेश हैं—मानसरोवर के

पच्छिम तक गुगे, उसके पूरब क्रम से पुरङ् और मङ्युल। सतलज और गारतङ के स्रोत ङरी खोर्सुम में ही हैं। सिन्ध की धारा गारतङ की घाटी में लदाख शृंखला और कैलाश-शृंखला के बीच ङरी खोर्सुम का व्यापारिक केन्द्र गारतोक है, जहाँ गर्मी के मौसम में वस्तुविनिमय करने के लिए फिरन्दर तिब्बती सब तरफ़ से जुट जाते हैं, और भारत तथा मध्य एशिया के व्यापारी भी पहुँचते हैं। सतलज घाटी का शिपकी दर्रा भारतवर्ष से ङरी खोर्सुम और गारतोक जाने का मुख्य रास्ता है। गारतोक से ९४ मील के रास्ते पर मुख्य सिन्ध-घाटी के कुछ उत्तर और चाङथङ के दक्खिनपच्छिमी छोर पर थोक जालुङ् के सोने के क्षेत्र हैं। ध्यान रखना चाहिए कि हिमालय की गर्भ-शृंखला से शिपकी दर्रे तक कनौर का ऊपर का आधा हिस्सा स्पीती की तरह हिमालय के उस पार है।

ङ. *क्युठल से कुमाऊँ;*—कनौर के दक्खिन जहाँ गर्भ-शृङ्खला से धौला धार फटी है उस पहाड़ के बुरनघाटी आदि घाटे जमना की पच्छिमी शाखा टौंस (तमसा) और सतलज के बीच जलविभाजक हैं। जमना की मुख्य धारा जहाँ जमनोतरी से निकली है, उसके और सतलज की पूरबी धारा के बीच भी केवल बंदरपूँछ पहाड़ है। सतलज और टौंस के बीच अन्तर आगे बढ़ता ही गया है। उन दोनों के बीच क्युँठल[1] (शिमला), बघाट (डगशई-कसौली) जुब्बल और सरमौर प्रदेश हैं। बघाट की उपत्यका में कालका के पास से घग्घर नदी निकली है, और

---

१. स्वाभाविक भौगोलिक प्रदेशों अथवा भाषाकृत जनता-कृत या ऐतिहासिक प्रदेशों का ही ब्यौरा दिया जा रहा है, आधुनिक शासन की प्रत्येक इकाई का नहीं। उदाहरण के लिए, हमारा क्युँठल-प्रदेश आज कल की छोटी सी रियासत नहीं प्रत्युत वह समूचा प्रदेश है जिसमें क्युँठली बोली बोली जाती है।

सरमौर की उपत्यका में साधौरा के पास से सरसुती । जमना की सब से पच्छिमी धारा गिरि सतलज की धाराओं के बहुत ही करीब से निकली है । शिमला शहर के बीच की ढांग पर जहाँ गिर्जाघर बना है, वहाँ गिर्जे के एक तरफ़ का पानी सतलज में और दूसरी तरफ़ का जमना में जाता है ।

टोंस के पूरब जमना तक जौनसार-बावर प्रदेश और उसके नीचे देहरादून की उपत्यका है । उनके पूरब भागीरथी से पिंडर तक गंगा की सब धाराओं का प्रदेश गढ़वाल है । हिमालय में गंगा के प्रस्रवण-क्षेत्र की पूरबी सीमा भी सतलज के स्रोत के बराबर पूरब नहीं पहुँचती । किन्तु उसके स्रोत हिमालय की गर्भशृंखला के ऊपर जङ्स्कर-शृंखला तक जा पहुँचते हैं, जिस की जोतों को पार करते ही सतलज की घाटी है । सबसे पच्छिमी धारा भागीरथी बन्दरपूँछ और केदारनाथ चोटियों के बीच से आई है, और उसकी उत्तरी धारा जाह्नवी का स्रोत और भी ऊपर जङ्स्कर-शृंखला में है । भागीरथी के स्रोत की गंगोत्री घाटी हिमालय के गर्भ में, तथा जाह्नवी घाटी हिमालय के पीठ पीछे है । गंगा की मुख्य धारा अलखनन्दा का रुख देखें तो कहना होगा कि वह पहले पहाड़ों में दक्खिनपच्छिम बह कर रिखीकेश और हरद्वार से सीधे दक्खिन फिरी है । अलखनन्दा की दो मूल धारायें विष्णुगंगा और धौलीगंगा जहाँ जोशीमठ पर मिली हैं, वह घाटी भी हिमालय के ठीक गर्भ में है । उसके ऊपर विष्णुगंगा की बदरिकाश्रम वाली घाटी और धौलीगंगा की दूनागिरि वाली घाटी उपरले कनौर और जाह्नवी-घाटी की तरह हिमालय पार है । विष्णुगंगा के, जो बदरीनाथ और कामेत-पहाड़ों के बीच से रास्ता बनाती है, सामने ऊपर माना घाटा और धौलीगंगा के सामने ऊपर नीती घाटा सतलज-घाटी और

ङ्गरी खोर्सुम को रास्ता देते हैं। धौली गंगा के पूरब दूनागिरि और नन्दादेवी पहाड़ हैं।

रामगंगा और उसकी पूरबी धारा कोसी गंगा की पूर्वी बाँह पिंडर के नीचे से ही निकली हैं। उनकी घाटियां, उनके ऊपर पिंडर का स्रोत पिंडारी गल, तथा त्रिशूल, दूनागिरि और नन्दादेवी की चोटियां कुमाऊं (कूर्माचल) के पच्छिमी छोर को सूचित करती हैं। उसका पूरबी छोर काली या शारदा नदी है जिसके बाद नेपाल राज्य शुरू होता है। अलमोड़ा की रमणीक बस्ती कोसी की घाटी के ऊपर है, वहां से २२ मील ऊपर चल कर बागेश्वर पर सरजू मिलती है जो पच्छिम से पूरब कुमाऊं के बीचों बीच बह कर काली से मिली है—ठीक वैसे ही जैसे क्युँठल-सरमौर के बीच बह कर गिरि जमना में जा मिली है। सरजू का स्रोत पिंडर के अर्थात् गँगा के प्रस्रवण-क्षेत्र के केवल तीन मील पच्छिम है, और वहाँ से धौलगिरि तक सवा दो सौ मील लंबाई में तमाम घाघरा का ही प्रस्रवण-क्षेत्र है। उसकी कई धाराओं का नाम सरजू है, पता नहीं किस के नाम से घाघरा को भी लोग सरजू कहते हैं। ऊपर की तरफ़ भी घाघरा के स्रोत गंगा को जन्म देने वाली जङ्स्कर-शृंखला के और ऊपर लदाख-शृंखला के कुबि-थङ्-री[1] पहाड़ में हैं, और इस प्रकार सतलज और ब्रह्मपुत्र के स्रोतों तक पहुँचते हैं। घाघरा के कई स्रोतों और सतलज और ब्रह्मपुत्र के अनेक स्रोतों के बीच लदाख-शृंखला के केवल तीन तीन चार चार मील के घाटों का व्यवधान है। घाघरा की इन ऊंचे स्रोतों से आने वाली धाराओं में से कुमाऊं में केवल काली की शाखायें गौरी-गंगा, धौलीगंगा[2] और स्वयं काली हैं जो तीनों जङ्स्कर-शृंखला

१. री (तिब्बती) = पहाड़।

२. अलकनंदा की धौलीगंगा से भिन्न।

से निकली हैं। गौरीगंगा की घाटी में मीलम-भोट और धौलीगंगा की घाटी में दारमा-भोट कुमाऊं के भोटियों की बस्तियां हैं, मीलम के ऊपर ऊँटा-धुरा और किंगरी-बिंगरी घाटे, तथा दारमा के ऊपर दारमा घाटा गारतोक के रास्तों को सूचित करते हैं। काली-कुमाऊं के भोटिये लम्पिया धुरा घाटा से सतलज घाटी को जाते हैं, या लीपुलेख घाटे से कर्णाली (घाघरा) की घाटी में ताकलाकोट द्वारा सीधे मानसरोवर होते हुए। कैलाश-मानसरोवर के तीर्थयात्री मीलम के रास्ते जाते और ताकलाकोट काली-कुमाऊं के रास्ते लौटते हैं। स्पष्ट है कि मीलम, दार्मा और काली की घाटियां भी बदरिकाश्रम-घाटी की तरह हिमालय और ज़ङ्स्कर-शृंखला के बीच हैं। ज़ङ्स्कर शृंखला यहाँ समाप्त होती है। पच्छिम से पूरब कुल निम्नलिखित घाटियां उसके और हिमालय के ठीक बीच में बन्द हैं—स्पीती, उपरला कनौर, जान्हवी, बदरिकाश्रम (विष्णुगंगा), दूनागिरि (धौलीगंगा), मीलम (गौरीगंगा), दारमा (धौलीगंगा) और काली।

कुमाऊँ, कुल्लू और कश्मीर में से कौन अधिक रमणीक और सुन्दर है इस कठिन प्रश्न का उत्तर दिये बिना हम नेपाल को रवाना होते हैं।

ए. *नेपाल*;—धौलगिरि तक नेपाल-राज्य का पच्छिमी चौथाई अंश है जिसे नेपाल वाले बैसी अर्थात् बाईस राजाओं का प्रदेश कहते हैं। उसमें डोटी, गढ़ी, सलियाना, प्यूठाना आदि प्रदेश नीचे, तथा हुमला, जुमला, मंगूभोट, ताराभोट आदि प्रदेश ऊपर हैं। उनके बीचोंबीच घाघरा की मुख्य धारा की शाखायें फैली हुई हैं; उसका मुख्य स्रोत ताकलाकोट के ऊपर मानसरोवर और राखसताल के ठीक नीचे अर्थात् सतलज के स्रोतों से दो तीन मील के अन्तर पर है; दूसरी धारा का स्रोत कुबि-थङ्-री से है जिसके ठीक दूसरी तरफ़ दो घाटों के पार

ब्रह्मपुत्र का स्रोत है; तीसरी पूरब वाली धारा के साथ मगूभोट के ऊपर से फिर ब्रह्मपुत्र-घाटी जाने का रास्ता है। ताकलाकोट वाली घाघरा की मुख्य धारा कर्णाली की घाटी में ही हुमला प्रदेश है। वह घाटी समूची तथा मंगूभोट और ताराभोट का उपरला हिस्सा हिमालय पार लदाख शृंखला के चरणों में है।

धौलगिरि के नीचे राप्ती का स्रोत तथा बरहज पर उसका घाघरा से संगम उत्तर-दक्खिन लगभग एक सीध में हैं, लेकिन तराई (उपत्यका) की ढुँढवा-शृंखला ने उसे लम्बा चक्कर दे कर घुमा दिया है।

धौलगिरि से गोसाँईंथान तक गण्डक की धारायें फैली हैं जो सब त्रिवेणीघाट के ऊपर मिल जाती हैं। यही सप्तगण्डकी अथवा चौबीसी (२४ राजाओं का) प्रदेश है, जिसमें पाल्पा, गोरखा आदि बस्तियां हैं। गोरखपुर और पाल्पा से सीधे उत्तर गंडक की सब से पच्छिमी धारा काली गंडक की घाटी धौलगिरि के पूरब से हिमालय पार कर गई है; मुक्तिनाथ और कागबेनी उस घाटी के हिमालय पार के हिस्से को सूचित करते हैं, जिसके उत्तरी छोर पर लदाख-शृंखला की ठीक जड़ में लोह मतंग का नेपाली किला और कोरे घाटा हैं। मदी, बुढ़िया गंडक और त्रिशूली गंडक भी उसी तरह हिमालय के ऊपर से आई हैं। बुढ़िया गंडक की घाटी में अरु घाट होते हुए ऊपर को रास्ता है, और त्रिशूली गंडक का रास्ता तो तिब्बत के पुराने राजपथों में से है।

सप्तगण्डकी के पूरब २६ मील लम्बी और १६ मील चौड़ी ठेठ नेपाल घाटी है, जिसके खुले आंगन के उत्तरपूरब छोर में बागमती नदी शिवपुरी की चोटी से उतर कर प्रवेश करती है, और दूसरी तरफ से विष्णुमती और मनोहरा नदियां उसी

घाटी में निकास पा और उसी में उससे आ मिल कर समूची घाटी में शस्य लक्ष्मी के साथ साथ रमणीकता बिछाती जाती हैं। इस घाटी के पूरब कांचनजंघा तक नेपाल-राज्य का पूरब चौथाई या सप्तकौशिकी प्रदेश है जिसमें कोसी की अनेक धारायें जिन में से मुख्य सनकोसी (ऊपर भोटिया कोसी), दूधकोसी, और अरुण (ऊपर फुङ्) हैं, फैली हुई हैं।

बागमती का स्रोत हिमालय की गर्भ-शृंखला से काफ़ी नीचे है। इसीलिए नेपाल घाटी से तिब्बत जाने के रास्ते गंडक या कोसी की घाटियों द्वारा ही हैं। काठमाण्डू से त्रिशूली गंडक की धारा के ऊपर हिमालय पार किरङ-ज़ोङ[1] होकर, अथवा सनकोसी उर्फ़ भोटिया कोसी की धारा के ऊपर नीलम (न्येनम्)-ज़ोङ उर्फ़ कुती पर हिमालय लाँघ कर, और आगे थोङ-ला, तिङरीज़ोङ और शेखरज़ोङ द्वारा जो दो रास्ते ब्रह्मपुत्र-घाटी में ताशी लामा की गद्दी शिगर्चे पहुँचते हैं, और वहां से ल्हासा, वे मध्य काल से नेपाल और तिब्बत के बीच ही नहीं बल्कि विहार-बंगाल और तिब्बत के बीच मुख्य रास्ते रहे हैं। न केवल किरङ ज़ोङ और लशाख शृंखला का घाटा थोङला प्रत्युत ठीक हिमालय की गर्भ-शृंखला में नीलमज़ोङ भी अब तिब्बत के हाथ में है, इस बात से नेपाल के शासक बहुत खिझा करते हैं। त्रिशूली गंडक का किरङ-ज़ोङ वाला रास्ता गोसाँईंथान के पच्छिम से है। भोटिया कोसी उसके पूरब तथा गौरीशंकर के पच्छिम से आई है। दूध-कोसी की घाटी हिमालय की सब से बड़ी चोटी[2] के ठीक तले

---

१. ज़ोङ् (तिब्बती शब्द) = किला।

२. हिमालय की सब से बड़ी चोटी—और संसार के सब से ऊँचे पहाड़—का नाम सन् १८५७ में लंडन की रौयल ज्यौग्राफ़िकल सोसाइटी (राजकीय भूगोलविज्ञान-परिषद्) ने भारतवर्ष के भूतपूर्व सर्वेयर-जनरल के नाम पर एवरेस्ट रख दिया था। एवरेस्ट का भारतीय नाम

और गर्भ-शृंखला के अन्दर तक है, तथा अरुण तो हिमालय की पीठ पीछे लम्बी परिक्रमा कर के उतरी है और वहां वह फु

गौरीशंकर है, सो बात प्रसिद्ध है। उससे पहले एक जर्मन यात्री ने भी यह बात प्रकाशित की थी कि हिमालय की सब से बड़ी चोटी को भारतवासी गौरीशंकर कहते हैं। ईलियट की क्लाइमैटोलौजिकल ऐटलस ऑफ़ इंडिया (भारत की ऋतु और जलवायु-सम्बन्धी ऐटलस, भारत सरकार प्र०, १९०६) के पहले नक्शे में भी 'एवरेस्ट अथवा गौरीशंकर' लिखा है। किन्तु 'इंडिया ऐण्ड ऐडजेसेंट कंट्रीज़' (भारत और पड़ोसी देश) ऐटलस में गौरीशंकर उस चोटी का नाम है जो दुधकोसी के पच्छिम है और २३४४०. फुट ऊँची है, एवरेस्ट दुधकोसी के पूरब है, दोनों के बीच करीब ३५ मील का अन्तर है। यदि 'एवरेस्ट' का नाम गौरीशंकर है तो दुधकोसी के पच्छिम वाली चोटी का नाम क्या है ? और यदि उसका नाम गौरीशंकर है तो 'एवरेस्ट' का भारतीय नाम ? क्या है मौडर्न रिव्यू १९२८, उत्तरार्ध में एक बंगाली लेखक ने इस प्रश्न को उठाया था, किन्तु उन्होंने नेपाल और तिब्बत में इसका उत्तर पाने का जतन करने के बजाय लंडन और अमेरिका की परिषदों की शरण पकड़ी ! मेरा ध्यान इस प्रश्न की तरफ़ 'भौगोलिक आधार' का यह अंश लिखते समय ही गया। यदि १९२८ में मैंने मौडर्न रिव्यू का वह लेख देखा होता तो अब तक इन प्रश्नों का ठीक उत्तर मिल चुका होता, क्योंकि १९२९ में मेरे मित्र भिक्षु राहुल सनकोसी और फुङ की घाटियों से तिब्बत गये थे, यदि उस समय हमारा ध्यान इन प्रश्नों की ओर गया होता तो वे इनका उत्तर ज़रूर मालूम कर लाते। अब मैंने अपने नेपाली मित्रों के सामने यह समस्या रक्खी है, और भिक्खु राहुल के तिब्बती मित्रों से 'एवरेस्ट' का ठीक तिब्बती नाम तो ज़रूर मालूम कर लिया जायगा। किन्तु यदि काठमांडू से नेपाली नाम का पता न मिला तो किसी भारतीय युवक को दुधकोसी घाटी की यात्रा करनी होगी, और तब यह प्रश्न सदा के लिए हल हो जायगा।

कहलाती है। इन नदियों की घाटियां तिब्बत के चाङ्[1] प्रान्त में पहुँचाती हैं जो ङरी के पूरब तथा ल्हासा वाली नदी उइ-चु के पच्छिम तक ब्रह्मपुत्र घाटी का नाम है। चाङ का मुख्य नगर शिगर्चे है, और चाङ में से गुजरने के कारण ही ब्रह्मपुत्र चाङपो (चाङ-वाला) कहलाता है। ल्हासा का प्रान्त उइ अर्थात् मध्यदेश है, और इसीलिए उसकी नदी उइ-चु अर्थात् मध्यदेश का पानी कहलाती है। ल्हासा के दक्खिन भूटान के उत्तर की ब्रह्मपुत्र घाटी ल्होखा अर्थात् दक्खिन देश है।

९. *सिकिम, भूटान, आसामोत्तर प्रदेश;*—नेपाल के उत्तर-पूरबी छोर पर काञ्चनजङ्घा है। उसके पूरब हिमालय का पानी गङ्गा के बजाय ब्रह्मपुत्र में जाता है। तिस्ता की घाटियों का प्रदेश जो नेपाल के ठीक पूरब लगा है सिकिम है। उसी के निचले छोर में दार्जिलिङ—तिब्बतियों का दोर्जे-लिङ या वज्रद्वीप—है। सिकिम के पूरब भूटान—तिब्बतियों का डुगयुल, बिजली का देश—है। उसमें ब्रह्मपुत्र में मिलने वाली अनेक धारायें फैली हुई हैं। उनमें से पच्छिम से पूरब तोरसा उर्फ़ अमोचू, रइदाक उर्फ़ चिन-चू, संकोश और मनास हिमालय की गर्भ-शृंखला से निकली हैं। मनास की एक धारा तो और ऊपर से आई है। इसीलिए इन नदियों की घाटियों से तिब्बत को सीधे रास्ते हैं। दार्जिलिङ, कालिम्पोङ और गङतोक (सिकिम के मुख्य नगर) से अमोचु की घाटी अर्थात् चुम्बी घाटी द्वारा हिमालय की ठीक जड़ तक पहुँच सकते हैं। उसके ठीक उत्तर तरफ़ ब्रह्मपुत्र में दक्खिन से मिलने वाली न्यङ नदी की घाटी है जिस में ग्यान्चे शहर है। आजकल भारतवर्ष से ल्हासा जाने वाला मुख्य रास्ता यही है। ग्यान्चे से शिगर्चे उत्तरपच्छिम उसी न्यङ और ब्रह्मपुत्र के संगम के

---

1. इस चाङ को चाङ थङ से न गड़बड़ाना चाहिए।

निकट, तथा ल्हासा उत्तरपूरब है, इस प्रकार वह दोनों के रास्ते को काबू करता है।

संकोश की उपरली घाटी में भूटान की राजधानी पुनखा है। मनास की सब से पूरबी धारा तोवाङ-चू भूटान के पूरब तोवाङ की घाटी से आती है। उस के प्रदेश को मोनयुल भी कहते हैं।

तोवाङ के पूरब चार छोटी छोटी जातियों के प्रदेश हैं, जिन्हें आसाम की उत्तरी सीमा पर रहने के कारण आसामोत्तर जातियाँ कहा जाता है। इन में से पहले अका या अंका, और दूसरे दफ़ला लोग हैं। दफ़ला के पूरब सुबनसिरि नदी पर, जो हिमालय के पीछे से घूम कर आती है, मीरी लोग, और फिर उनके पूरब दिहांग नदी के अर्थात् ब्रह्मपुत्र के उत्तर-दक्खिन प्रवाह के दोनों तटों पर अबोर लोग हैं; अबोर-मीरी मिला कर एक जाति है। अबोर-मीरी के पूरब सादिया के उत्तर लोहित-घाटी के पहाड़ों में मिश्मी लोग रहते हैं।

§ २०. सीमा-प्रदेशों की पैदावार और धन-सम्पत्ति—आर्थिक दिग्दर्शन

उपत्यका की कुछ दूनों के अत्यन्त उपजाऊ होने के बावजूद भी खेती की उपज में हिमालय मैदान की बराबरी नहीं कर सकता। दूनों के अतिरिक्त उपरले पहाड़ों की पीठ और पासों पर भी नीचे से ऊपर तक छोटी छोटी क्यारियों में खेती होती है। देखने में वह ऐसी

सोहत सुन्दर खेत-पाँति नर ऊपर छाई
मानहु विधि रट हरित स्वर्ग सोपान बिछाई !

अलमोड़ा के पास कोसी की घाटी में खेतों का दृश्य देखते ही बनता है। किन्तु "स्वर्ग-सोपान" के से उन खेतों में नीचे

से ऊपर खाद ढोना बड़ा ही कठिन होता है, इसलिए किसान अपने डंगरों को बड़ी बारी एक एक करागी से बांधते हैं, और उन्हें बाघ-बघेलों से बचाने के लिए स्वयं अपनी जान हथेली पर रख कर उन्हीं खेतों में सोते हैं। इसी कारण उन घाटियों में रात के समय बड़ी चहलपहल रहती है। शेर को गढ़वाल के पहाड़ी कीड़ा कहते हैं और 'कीड़ा' आ जाय तो कई बार गांव की लड़कियाँ भी हल्ला करती हुई उसे भगा आती हैं! फिर घाटी में अत्यन्त सुलभ पानी को ऊँचाई पर के खेतों तक पहुँचाना भी एक बड़ी समस्या होती है। इस समस्या को हल करने में भारतवर्ष के पहाड़ियों ने ऐसी योग्यता दिखाई है कि उसे देख आधुनिक इंजीनियर दाँतों तले अँगुली दबाते हैं। प्रवाहों को बड़ी ऊँचाई पर बाँध कर बनावटी साधनों से वे दूर दूर की घाटियों तक उन्हें ले गये हैं। नौवीं शताब्दी ई० के अन्त में कश्मीरी इंजीनियर सुय्य ने कश्मीर घाटी की शकल ही इन तरीकों से बदल दी थी; और एकाएक उसकी उपज कई गुना बढ़ा दी थी। कांगड़ा, कुल्लू, क्युंठल, कुमाऊं आदि सभी देशों में वैसी ही सावधानी से सिंचाई के प्रबन्ध किये गये हैं। कलात-क्वेटा तरफ की 'करेज़' नहरों की आधुनिक इंजीनियरों ने भरपूर प्रशंसा की है। किन्तु इन सब जतन के बावजूद भी पहाड़ पर बहुत अनाज नहीं उग सकता। दूनों में जहां पानी की इफ़रात रहती है धान होता है, ऊपर कम पानी वाली जगहों में मक्की ज्वार आदि, और बहुत सूखी ऊँचाइयों पर मंडुआ आदि तुच्छ अनाज बोये जाते है।

किन्तु अनेक प्रकार के बढ़िया फलों और मेवों के बगीचों के लिए पहाड़ों का जलवायु मैदान से अधिक उपयुक्त है। सेब नासपाती के लिए तुषार उतना ही जरूरी है जितनी चने की फ़सल के लिए ओस। कन्दहार, क्वेटा, काबुल, कापिश और

कश्मीर के अनेक फल प्रसिद्ध हैं; कुल्लू, कुमाऊँ आदि में भी वे सभी पैदा हो सकते हैं। जंगली सेब, अंगूर और दाड़िम (अनार) कुल्लू, क्युँठल, कुमाऊँ आदि में प्रायः सब जगह खुदरौ हैं। वहां के सेव नासपाती के नये बगीचे अब कश्मीर काबुल का मुकाबला करने लगे हैं। अखरोट, खुमानी आदि भी प्रायः सभी पहाड़ों में सुगमता से उपजते हैं। पांचवी शताब्दी ई० पू० में पाणिनि मुनि ने अपने व्याकरण में 'कापिशायन' शब्द की सिद्धि के लिए एक सूत्र[1] बनाया है, जिसका उदाहरण दिया जाता है—कापिशायनी द्राक्षा। यद्यपि वह उदाहरण पीछे के ग्रन्थों का है, तो भी यह बहुत सम्भव है कि वह पाणिनि के समय से चला आता था, क्योंकि पाणिनि के समय भी कापिशी की कोई चीज़ ज़रूर बाज़ार में आती रही होगी जिससे कापिशायन शब्द का चलन हुआ। इस प्रकार कपिश और उसके पड़ौसी देशों के अंगूरों और अन्य फलों का इतिहास कम से कम पाँचवी शताब्दी ई० पू० से भी पहले का है। यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि वैदिक वाङ्मय में बागवानी का उल्लेख नहीं मिलता, 'आरामों' और 'उय्यानों' (उद्यानों) की बहुतायत पहले पहल हम जातकों की कहानियों अर्थात् आठवीं-सातवीं शताब्दी ई० पू० के करीब समय में ही पाते हैं, तो कहना होगा कि भारतवर्ष में बागवानी के आरम्भ के साथ ही पहाड़ी प्रदेशों में भी फलों की कृषि की जाने लगी थी।

खेती और बागवानी की उपज के अलावा हिमालय के जंगलों की उपज की भी बड़ी कीमत है। अनेक प्रकार की ओषधियों के लिए तो वह सदा से प्रसिद्ध रहा ही है; किन्तु चीड़, देवदार आदि ऐसे अनेक पेड़ हैं जो हिमालय की विभिन्न ऊँचा-

१. कापिश्याःष्फक्, ४, २, ९९।

इयों के कटिबन्धों में ही हो सकते हैं। आजकल उनकी लकड़ी दियासलाई बनाने के भी काम आने लगी है और चीड़ के सूत्र से तारपीन तेल निकलता है। थेरी-अपदान के एक प्रतीक[1] से हम यह जानते हैं कि देवदार के एक नमूने सरल से कम से कम चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से भारतवर्ष के पहाड़ी परिचित थे। इन जंगलों की लकड़ी नीचे मैदान तक बड़ी आसानी से आ जाती है। आजकल के ठेकेदार ऊपर जंगलों में ही उनके शहतीर कटवा कर अपने नाम उन पर खुदा कर नदियों में बहा देते, और नीचे मैदान के शुरू में उन्हें पकड़ लेते हैं। एक प्रकार का घास उपत्यका में बहुतायत से होता है जो शिवालक में भाभड़ और पूरब की तराई में साबे कहलाता है, पहले उससे खाली बान बनता था, पर अब वह आधुनिक सभ्य जगत् की बड़ी ज़रूरी चीज़ कागज़ की बहुत अच्छी सामग्री माना जाता है। जंगलों की अन्य अनेक प्रकार की वानस्पतिक उपज का विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं।

जान्तिक उपज में भी सीमान्त के पहाड़ों की सदा से प्रसिद्धि रही है। ऊन और पशम तो उनकी मुख्य उपज है। तिब्बत से आने वाले माल में वही मुख्य होती है। कश्मीर में रेशम भी बहुत पुराने समय से पैदा किया जाता है। हिमालय के अनेक प्रदेशों में इसी कारण बहुत प्राचीन काल से रेशम ऊन और पशम के कपड़े बुनने की ऊँचे दर्जे की कारीगरी चली आती

---

१. ओचनिव्वान सललं बुद्धसेट्ठस्स दासऽहम्।
उपसिंघ महावीर सललं देवगन्धिकम्।

थेरीगाथा की अट्ठकथा परमत्थदीपनी (पाली टैक्स्ट सोसाइटी संस्करण) में पृ० ४५-४६ पर उद्धृत। लगभग उसी प्रदेश में (दे० परिशिष्ट २-३, ४) कालिदास ने भी सरल वृक्षों का वर्णन किया है—रघुवंश ४, ७५।

है। चौथी शताब्दी ई० के शुरू में फ़ारिस के सासानी राजा होर्मुज्द दूसरे (३०१–३०६ ई०) का विवाह काबुल के कुषण-वंशी राजा की लड़की से हुआ था, तब उस राजकुमारी का सचा दहेज कश्मीरी जुलाहों की कारीगरी से तैयार हुआ था। उससे पहले सन् २७४ ई० में सासानी राजा बरह्रन पहले ने रोम-सम्राट औरेलियन को एक कश्मीरी शाल भेंट किया था, जिसकी नफ़ासत देख कर रोम के लोग दंग रह गये थे । युरोप में पहला कश्मीरी शाल वही पहुँचा था[1]। हिमालय के दूसरे सभी हिस्सों में ऊन और पशम बुनने का कारोबार है, पर कश्मीर जैसा और जितना नहीं। पंजाब-कश्मीर में ऊन चर्खे पर काती जाती है, पूरबी पहाड़ों के लोग उसे केवल तकली या लट्टू पर कातना जानते हैं। कस्तूरी आदि अन्य अनेक कीमती जान्तिवक पदार्थों का व्यापार भी हिमालय के पहाड़ी प्राचीन काल से करते आ रहे हैं।

खनिज सम्पत्ति भी हिमालय में काफ़ी है यद्यपि वह उस में विन्ध्याचल और दक्खिन भारत का मुकाबला नहीं कर सकता। तिब्बत और भारत के व्यापार में ऊन के बाद दूसरी चीज़ नमक है, जो तिब्बत की सूखी झीलों में भरपूर पायी जाती है। चाङ्थङ् में अनेक सोने की खानें या क्षेत्र भी हैं। लार्ड कर्ज़न के समय जब यंगहस्बैंड ने ल्हासा पर चढ़ाई की थी, तब तिब्बत का सोना निकालने के लिए लंडन में कई कम्पनियां खड़ी होने लग गईं थीं। कश्मीर और दरद-देश की नदियों की बालू में से सोना धोने का धन्दा प्राचीन काल में बहुत चलता था। पाँचवीं चौथी शताब्दी ई० पू० के यूनानियों ने भारतवर्ष की नदियों से सोना निकालने वाली जिन लोमड़ी-कद चींटियों की कहानियां लिखी हैं, वे आधुनिक दरदों के पुरखा ही थे। बदख़्शां के

---

[1] ज. रा. ए. सो., १९१२, पृ. १०६१–१०६४।

मु ज़ान १ लाके में गोमेद की खानें हैं, और रघुवंश ४-७० में उन्हीं की तरफ़ निर्देश प्रतीत होता है। अटक ज़िले में हाल में जो मिट्टी का तेल निकला है, उस का उल्लेख पीछे कर चुके हैं। अन्य विविध खनिज उपज के विस्तृत वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

किन्तु हिमालय के सफ़ेद कोयले की अक्षय सम्पत्ति का उल्लेख करना ज़रूरी है। पंजाब की नदियों में से सबसे छोटी—ब्यास—के प्रवाह में वह सम्पत्ति सब से अधिक है, उस से अधिक सफ़ेद कोयले की सम्पत्ति दुनियां में केवल नियाग्रा-प्रपातों में है। ब्यास की उस सम्पत्ति की खातिर ही कुल्लू-घाटी-रेलवे बनाई गई तथा विलायत में एक कम्पनी खड़ी की गई है। कहा जाता है कि वहाँ से बिजली का एक भारी नल ज़मीन के अन्दर अन्दर पंजाब लाया जायगा जो सड़के-आज़म के साथ साथ पंजाब को बीचोंबीच लाँघेगा। उसके दोनों तरफ़ अनेक शाखा नल जायेंगे, जो पंजाब के गाँवों तक में बिजली इतनी सस्ती कर देंगे कि रहटों और कोल्हुओं को बैलों के बजाय बिजली से चलाना सस्ता पड़ेगा! पंजाब और गंगा-काँठे की दूसरी नदियों के पहाड़ी प्रवाहों में भी काफ़ी सफ़ेद कोयला है।

§२१. सीमान्त की पथ पद्धति और ऐतिहासिक पर्यालोचन

कहने की ज़रूरत नहीं कि सीमान्त के रास्तों का प्रत्येक देश के इतिहास में बड़ा महत्व रहता है। भारतवर्ष के प्रत्येक सीमान्त प्रदेश में से लांघने वाले रास्तों का हम उस उस प्रदेश के भूवर्णन में उल्लेख करते आये हैं। यहां उन सब का केवल सिंहावलोकन, ऐतिहासिक दिग्दर्शन और मूल्य-विवेचन बाकी है। उन्हें कुछ समूहों में बांट कर अर्थात् उनका वर्गीकरण करके वैसी विवेचना करने में सुभीता रहेगा। इसीलिए हम उन सब को निम्न-लिखित वर्गों में बांट लेते हैं—पूरबी, उत्तरी, उत्तर-पच्छिमी तथा पच्छिमी।

अ. *पूरवी स्थलमार्ग;*—आसाम और बंगाल से स्थल द्वारा चीन तथा हिन्दचीनी जाने वाले रास्तों को हम पूरवी सीमान्त-मार्ग कहते हैं। भारतवर्ष और हिन्दचीनी के प्राचीन इतिहास में उन रास्तों का बड़ा महत्त्व रहा है। जैसा कि हम आगे देखेंगे हिन्दचीनी प्रायद्वीप की जनता में चीनी-तिब्बती अंश मध्य काल में—नौवीं दसवीं शताब्दी ई० के बाद—आया है। उससे पहले वहां छोटा नागपुर के मुंडा और सन्थाल लोगों या खासी-जयन्तिया पहाड़ों की जातियों की सगोत्र जातियां रहती थीं, और ईसवी सन् के एक दो शताब्दी पहले से उन में भारतीय रुधिर मिलता तथा भारतीय रंग चढ़ता रहा था, यहां तक कि स्वयं चीन वाले उस समूचे प्रायद्वीप को भारतवर्ष का हिस्सा मानते थे। पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में चीनी इतिहासलेखक फ़न-ये ने भारतवर्ष का विस्तार काओफ़ू या काबुल से फान-की अथवा आनाम तक लिखा है[1]। दूसरी शताब्दी ई० में रोमन भूगोल-लेखक टालमी ने हिन्दचीनी प्रायद्वीप को गंगा पार का हिन्द' कहा है और उसमें स्थानों के जो नाम दिये हैं वे सब संस्कृत के हैं। 'गंगा पार के हिन्द' के सब से पूरवी भाग चम्पा में भी दूसरी शताब्दी ई० के संस्कृत अभिलेख[2] मिले हैं जिनमे वहां के 'श्रीमार वंश' के हिन्दू राजाओं का उल्लेख है। इसका यह अर्थ है कि दूसरी शताब्दी ई० के अन्त तक उस प्रायद्वीप के पूरवी छोर तक भारतीय सत्ता न केवल पहुँच प्रत्युत जम भी चुकी थी; उसके पच्छिमी छोर में उसका प्रवेश कई शताब्दियां पहले हुआ होगा। भारतवासी

१. ज. रा. ए. सो, १९१२, पृ. ६७७।

२. अभिलेख=खुदा हुआ लेख, Inscription. हिंदी के अनेक लेखक इस अर्थ में 'शिलालेख' लिखते हैं, किन्तु तांबा, लोहा आदि मेरे विचार में शिला नहीं कहला सकते।

'गंगा पार के हिन्द' को या उसके बड़े भाग को सुवर्णभूमि कहते थे, और सुवर्णभूमि के साथ भारतवर्ष के पच्छिमी और पूरवी तट के व्यापार का उल्लेख जातकों की कहानियों (७ वीं-६ ठी शताब्दी ई० पू०) में पहले पहल मिलता है।

किन्तु भारतवर्ष का सुवर्णभूमि से सम्बन्ध केवल जलमार्ग से ही न था। उसके पूरवी तट की बस्तियों से पहले नदियों के उपरले काँठों में बस्तियां बस चुकी थीं इसीसे सिद्ध होता है कि स्थलमार्ग से भी उपनिवेश-स्थापकों की धारा जाती थी। उन स्थलमार्गों की स्पष्टतः तीन दिशायें हो सकतीं थीं, एक चटगाँव से तट के साथ साथ, दूसरे सुरमा काँठे से मणिपुर लाँघ कर चिन्दविन काँठे में और वहाँ से आगे पूरब या दक्खिन, तीसरे आसाम से पतकोई-शृंखला के पच्छिमी या पूरवी छोर से चिन्द-विन या इरावदी-काँठे में और आगे पूरब या दक्खिन। आसाम के पूरब तरफ़ तिब्बत-पठार के दक्खिनपूरवी छोर में इरावदी साल्वीन, मेकौङ और लाल नदी (सोङ कोई) की उपरली घाटियां एक दूसरे के बहुत नज़दीक हैं; उन्हीं नदियों के निचले काँठों से बरमा, स्याम कम्बुज और आनाम तक के प्रदेश अर्थात् समूची सुवर्णभूमि बनी है।

भारतीय जाति और सभ्यता में मुख्य अंश आर्य है और इन देशों में स्थलमार्ग से भारतीय प्रवाह तभी आ सकता था जब पहले इनके रास्तों की जड़ में अर्थात् आसाम और पूरब बंगाल में आर्य सत्ता पूरी तरह स्थापित हो जाती। भारतवर्ष की जनता-विषयक स्थिति की हम आगे आलोचना करेंगे, और उससे स्पष्ट होगा कि क्यों इन प्रदेशों में आर्य सत्ता ठेठ हिन्दुस्तान या पच्छिमी विन्ध्यमेखला से पीछे पहुँची। जो भी हो, वंग अर्थात् पूरब बंगाल में पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से पहले आर्य सत्ता ज़रूर स्थापित हो चुकी थी, क्योंकि उस

शताब्दी में[1] सिंहल द्वीप में जो आर्य उपनिवेश-स्थापक गये उनका नेता विजय और उसके साथी मूलतः वंग राज्य के थे। आसाम प्रदेश मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित था, ऐसा सन्देह कई विद्वानों ने किया है[2]। लोहित नदी की घाटी तक समूचा आसाम और उसके उत्तर भूटान तथा उसके पूरब का समूचा पहाड़ी प्रदेश प्राग्ज्योतिष कहलाता था। प्राग्ज्योतिष राज्य का सबसे पहला उल्लेख जिसकी हम तिथि निश्चित कर पाये हैं महाभारत में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय प्रसंग में है; मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है कि वह उल्लेख १७६ ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। १२६ ई० पू० तक चीन और भारतवर्ष के बीच प्राग्ज्योतिष के रास्ते नियमित व्यापार चल चुका था, क्योंकि चीनी राजदूत चाङ किएन ने तब बलख में चीन के रेशमी कपड़े देखे थे, और उसे बताया गया था कि वे दक्खिन से शेन्तू (सिंधु, हिन्द) और काओफू (काबुल) द्वारा वहां पहुँचते थे। प्राग्ज्योतिष-राज्य के स्थापित होने के बाद से उस तरफ़ के व्यापार का सुरक्षित होना बहुत स्वाभाविक था। इन सब बातों से हम इस परिणाम पर

---

१. दीपवंस और महावंस के अनुसार वह घटना ५४४ ई०पू० में हुई थी, किन्तु पाण्ड्य-राष्ट्र की स्थापना उन्हीं के अनुसार उससे पहले हो चुकी थी। पाण्ड्य राष्ट्र पाणिनि के बाद स्थापित हुआ यह डा० भण्डारकर ने 'कार्माइकेल लैक्चर्स १९१८' में सिद्ध किया है। और पाणिनि का समय बहुत से विद्वान पाँचवी शताब्दी ई० पू० में मानते हैं। इस विषय की पूरी विवेचना 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में की गई है।

२. नमूने के लिए डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने, पोलिटिकल हिस्टरी औफ़ एन्श्येन्ट इंडिया, पृ० १६४ पर।

३. रघु० दि० । दे० परिशिष्ट १ (७उ)।

पहुँचते हैं कि स्थलमार्ग से भारतीय प्रभाव का सुवर्णभूमि में प्रवेश मौर्य साम्राज्य के समय से या उसके बाद से ही शुरू हो सकता था, और वही बात वास्तव में हुई है।

आसाम और मणिपुर के पूरब अनेक भारतीय उपनिवेशों और राज्यों की सत्ता का पता वहां की स्थानीय अनुश्रुति या चीनी इतिहास द्वारा मिलता है, बहुतों के मूल नाम अभी तक नहीं खोज पाये गये। उन में से एक दो चिन्दविन के उपरले काँठे में थे; श्वेली-इरावदी-संगम के नीचे तगौंग, उसके दक्खिन पगान या अरिमद्दनपुर और प्रोम के हिन्दू राज्य भी प्रसिद्ध रहे हैं। मेकोङ और लाल नदी की उपरली घाटियों में ताली एक प्रबल और प्रसिद्ध हिन्दू राज्य था, जिसे चीनी लोग 'नान चाओ' या दक्खिनी राजा कहते थे। ताली के आगे चीन का दक्खिन-पच्छिमी प्रान्त युइनान हिन्दू उपनिवेशों के उस युग में गान्धार कहलाता था, सुवर्णभूमि में उसकी वही स्थिति थी जो गान्धार की भारत में। तेरहवीं शताब्दी के अरब भूगोल-लेखक रसिउद्दीन ने उसका वही नाम दिया है। उसका कहना है कि वहां की जनता भारतीय और चीनी मिश्रित थी, तथा वहां का राजा महाराज कहलाता था। वहां की वर्णमाला भी शायद भारतीय थी। गान्धार के दक्खिन बिचले मेकौङ काँठे के प्रदेश आधुनिक लओ का नाम मालव था, और उसका पूरब अंश आधुनिक लौङ फ्राःबाङ तब दशार्ण कहलाता था। अग्रनगर (हानाई) और चम्पा सब से पूरबी भारतीय बस्तियां थीं।

मध्यकाल में तिब्बत-पठार के उसी पूरबी छोर से जिस में इरावदी साल्वीन, मेकौङ और लाल नदी की उपरली घाटियां हैं, हिन्दचीनी में चीन-तिब्बती जातियों की बाढ़ उतरी। उन में से मुख्य शान थे, जिन के नाम से बरमा की शान रियासतों, स्याम और आसाम के नाम पड़े। १२२९ ई० में आसाम को

जीतने वाले अहोम उन्हीं की एक शाखा थे। भारतीय जनता की पड़ताल करते समय हम देखेंगे कि उन से अनेक युग पहले भी कई तिब्बत-बर्मी जातियां पूरबी सीमान्त के रास्ते भारतवर्ष में आती रही हैं, और वे तिब्बत-पठार के उसी पूरबी छोर से हिन्दचीनी की नदियों के साथ दक्खिन तथा ब्रह्मपुत्र घाटी के ऊपर तिब्बत जातीं, तथा हिन्दचीनी से इन्हीं सीमान्त के रास्तों द्वारा सुरमा-कांठे और आसाम में, और तिब्बत से हिमालय के झरोखों द्वारा भारत के उत्तरी छोर पर पहुँचती रही हैं।

इ. *उत्तरी मार्ग*;—हमारे देश की पुरानी परिपाटी के अनुसार, जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे, तिब्बत, दरद्देश, कम्बोज और अफ़गानिस्तान सभी उत्तरापथ में सम्मिलित हैं, और उनके रास्ते उत्तरी कहलाने चाहिएँ। पच्छिमी समुद्रतट से दर्रा बोलान तक के सब स्थलमार्ग उस परिपाटी से पच्छिमी गिने जाने चाहिएँ और हम उन्हें पच्छिमी ही कहेंगे। किन्तु दर्रा बोलान से दोरा जोत तक के रास्तों को—अर्थात् अफ़गानिस्तान होकर आनेवाले रास्तों को—हम उत्तर-पच्छिमी कहेंगे, और वहां से दिहोङ नदी तक के कुल रास्तों को उत्तरी। वैसा करने से सुभीता रहेगा तथा आधुनिक परिपाटी की भी रक्षा हो सकेगी।

उत्तरी मार्गों के फिर दो उपवर्ग किये जा सकते हैं। एक तिब्बत के, और दूसरे दरद-कम्बोज देशों के। तिब्बत के रास्तों में से सब से पच्छिमी वह है जो श्रीनगर (कश्मीर) से लेह (लदाख) जाता है।

भारतवर्ष के उत्तरी और उत्तरपच्छिमी सीमान्त में एक स्पष्ट अन्तर है। उत्तर तरफ़ तिब्बत के विस्तृत ऊँचे पठार के कारण उधर के आबाद देशों और भारतवर्ष के बीच जितनी बड़ी बाधा पड़ गई है, उसके मुकाबले में उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर आमू और सिंध के मैदानों के बीच की बाधा बहुत छोटी है।

दूसरे, स्वयं तिब्बत में सभ्यता का विकास बहुत पीछे हुआ, और जब हुआ भी तो बहुत दूर आगे न बढ़ा। तो भी तिब्बत और उसके रास्ते पिछले इतिहास में उतने उपेक्षणीय नहीं रहे जितना उन्हें बहुत लोग समझते हैं।

भारतवर्ष के इतिहास में सब से बड़ी और भारतवर्ष और उसके पड़ौसी देशों के जीवन पर सब से अधिक प्रभाव डालने वाली घटना हुई है आर्य जाति का भारतवर्ष में प्रवेश। वह प्रवेश उत्तरपच्छिमी सीमान्त से हुआ सो एक चला हुआ मत है, किन्तु वह कोई निश्चित और प्रमाणित सिद्धान्त हो सो बात नहीं। वह केवल एक कल्पना और सम्भावना है, और प्रमुख वैदिक विद्वान् स्वयं यह बात स्वीकार करते हैं कि वैदिक वाङ्मय से वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। कुछ बरस हुए स्वर्गीय श्रीयुत पार्जीटर ने पौराणिक अनुश्रुति की गहरी छानबीन के बाद यह मत प्रकट किया कि भारतवर्ष में आर्य लोग मध्य हिमालय अर्थात् गढ़वाल-कुमाऊँ के रास्ते आये थे[1]। उनकी इस स्थापना को भारतवर्ष की विद्यमान भाषाविषयक स्थिति बहुत पुष्ट करती है, जब कि उत्तर-पच्छिमी आक्रमण की कल्पना से उस स्थिति का सामञ्जस्य करना लगभग असम्भव है। मध्य एशिया में नीया और चर्चन के काँठों तक तुखारी आदि आर्य भाषायें तुर्कों के आने के बाद तक बनी हुई थीं, इस आविष्कार से आर्यों का आदिम घर मध्य एशिया में रहने के पुराने मत का फिर से जन्म हुआ है। किन्तु मध्य एशिया से मध्य हिमालय तक आने का रास्ता पच्छिमी तिब्बत में से हो कर ही है। उस युग में जब कि आर्य लोग फिरन्दर चरवाहे थे, उनका चाङथङ की विस्तृत चरागाहों की तरफ़ भटक आना बहुत स्वाभाविक था।

---

१. प्रा० भा० ऐ० अ०, पृ० २९७-३००।

उस रास्ते तिब्बत में सभ्यता का प्रवेश होने का एक अच्छा उदाहरण बाद के इतिहास में भी है। तिब्बत में पहले पहल एक संगठित बड़े राज्य की स्थापना सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में सम्राट स्रोङ-चन-गम्बो ने की। तभी से तिब्बत का इतिहास शुरू होता है। तिब्बतियों का कहना है कि स्रोङ-चन-गम्बो ने थोङमी सम्भोटा को भारतवर्ष से लिपि सीख कर आने के लिए भेजा, और वह यहां की लिपि और वर्णमाला तिब्बत में ले गया जो अब तक वहां चली आती है। आधुनिक विद्वान इस समूची बात को पूरा सच नहीं मानते। तिब्बत की वर्णमाला भारतीय ज़रूर है, और वह स्रोङ-चन-गम्बो के समय के लगभग शुरू हुई सो भी ठीक है। किन्तु वह उस समय की भारतीय लिपियों की अपेक्षा कूचा की लिपि से—जो स्वयं एक भारतीय लिपि थी—अधिक मिलती है। फलतः तिब्बत में लिखने का ज्ञान क्युनलुन के उत्तर तरफ़ से आया, और शायद स्रोङ-चन-गम्बो से पहले आया। लेखन-कला का पहले पहल उदय सभ्यता के जिस चौमुखे विकास का सूचक और उत्तेजक होता है, सम्भवतः वही तिब्बत के पहले संगठित साम्राज्य की प्रेरक शक्ति था।

स्रोङ-चन-गम्बो के समय से पहले तिब्बत की कैसी अवस्था थी, भारतवासी उसे किस रूप में जानते थे, और भारतवर्ष से उसका कुछ सम्बन्ध था कि नहीं, यह भारतीय इतिहास के लिए एक समस्या है। हिमालय के उत्तरी हाशिये में आज जो भोटिया बस्तियाँ हैं, वे सब नई हैं, उस समय उनमें से बहुत सी न थीं। प्राग्ज्योतिष देश और गंगा के उद्गम तक भारतवासियों की पहुँच थी ही, पामीर या कम्बोज को वे पूरी तरह लाँघ चुके थे, और उसके पूरब 'उपरले भारत' (आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) के पूरबी छोर—नीया और चर्चन के काँठों—तक उनके उपनिवेश

थे। क्या इनके बीच के देश तिब्बत को वे बिलकुल न जानते थे? मैं एक अन्य खोज के सिलसिले में इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि राजतरंगिणी में ललितादित्य के दिग्विजय प्रकरण में तथा वात्स्यायन के कामसूत्र में जिस 'स्त्रीराज्य' का उल्लेख है, वह तिब्बत या उसके किसी हिस्से का ही नाम था[1]। कामसूत्र से तो सिद्ध होता है कि भारतवासी उससे और उसके रस्म-रवाज से खूब अच्छी तरह परिचित थे। भारतवर्ष से बौद्ध धर्म पाने से पहले तिब्बती लोग जड़-जन्तु पूजक थे, लिखना न जानते थे, और सभ्यता की बिलकुल आरम्भिक दशा में थे, सो भूलना न चाहिए। कामसूत्र का समय, उसके भौगोलिक निर्देशों की बड़ी योग्यता से पड़ताल कर के, श्रीयुत हाराणचन्द्र चकलादार ने तीसरी शताब्दी ई० सिद्ध किया है। इसलिए तीसरी शताब्दी में स्त्रीराज्य था। महाभारत के (सभापर्वान्तर्गत) दिग्विजयपर्व में अर्जुन की तीन उत्तरी विजय-यात्राओं में से तीसरी पच्छिमी तिब्बत के बीचोंबीच प्रतीत होती है[2], किन्तु उसमें स्त्रीराज्य का नाम नहीं है। इसलिए स्त्रीराज्य भी दूसरी शताब्दी ई० पू० के बाद और तीसरी शताब्दी ई० के पहले कभी स्थापित हुआ। उन्हीं उल्लिखित लेखों में मैंने यह भी दिखलाया है कि संस्कृत वाङ्मय का किरात शब्द आधुनिक भाषा-विज्ञान और जन-विज्ञान[3] के तिब्बतबर्मी शब्द का ठीक पर्याय है। तिब्बत और बर्मा दोनों के निवासियों को हमारे पूर्वज किरात कहते थे, और भारतवर्ष के उत्तरी तथा पूरबी सीमान्त के सम्बन्ध में हम किरातों का बहुत बार उल्लेख पाते हैं। मध्यकाल से पहले तिब्बत के विषय में हम यही कुछ जानते हैं।

---

१. रघु० दि०। दे० परिशिष्ट १ (९)। २. रघु० दि०।

३. जनविज्ञान=Ethnology. जन का मूल अर्थ कबीला है, और उसमें नस्ल का भाव है ही।

किन्तु मध्यकाल के आरम्भ से अर्थात् स्रोङ् चन-गम्पो और हर्षवर्धन के समय से भारतवर्ष और तिब्बत का गहरा सम्बन्ध बना रहा, और भारतवर्ष और चीन के बीच तिब्बत के रास्ते भी सम्बन्ध हो गया। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने जब चीन के सम्राट् के पास बोलौर से तिब्बतियों को निकालने में सहयोग माँगने के लिए दूत भेजे (लगभग ७४० ई०) तब उनके हाथ उसने कहला भेजा था कि कन्नौज के राजा यशोवर्मा के सहयोग से उस ने तिब्बत के पाँचों रास्तों की नाकाबन्दी कर रक्खी है। इसलिए उस समय भारत और तिब्बत के बीच पाँच मुख्य रास्ते थे, और वे पाँचों कन्नौज और कश्मीर के साम्राज्यों में से थे। मेरे विचार में वे निम्नलिखित थे— (१) श्रीनगर से लेह होकर जाने वाला मार्ग, (२) शिपकी दर्रे का मार्ग, (३) काली कुमाऊं वाला मार्ग, (४-५) नेपाल में त्रिशूली गण्डक और भोटिया कोसी वाले मार्ग। यही पाँच बड़े और प्रमुख रास्ते उस समय हो सकते थे। कोई न कोई रास्ता ललितादित्य के राज्य में से ज़रूर लाँघता था, इसलिए लदाख वाले मार्ग को तो पाँच में से एक गिनना ही होगा। सतलज घाटी वाला रास्ता बहुत खुला है और उसी तरह काली वाला भी। बाक़ी दो रास्ते नेपाल वाले होने चाहिएँ, क्योंकि चुम्बी घाटी का रास्ता बिल्कुल आधुनिक है। आठवीं शताब्दी में भिक्खु शान्तरक्षित और ग्यारहवीं शताब्दी में दीपंकर श्रीज्ञान जो दोनों कहलगाँव (ज़ि० भागलपुर)[1] के रहने वाले थे, नेपाल के रास्तों से ही तिब्बत गये थे। दीपंकर अतिश ने भोटिया कोसी का रास्ता पकड़ा था। भागलपुर से ल्हासा जाने के लिए उनका इतना पच्छिम घूम कर जाना सिद्ध करता है कि भोटिया

१. बंगालियों ने उन्हे मुफ़्त में बंगाली बना रक्खा है, वे दोनों बिहारी थे।

कोसी के पूरब का कोई रास्ता उस समय चला हुआ न था।

ललितादित्य के समय के बाद दोनों देशों में प्रायः मैत्री का ही सम्बन्ध रहा। तिब्बत वाले भारत को अपना गुरु मानते थे और अब तक मानते हैं। मगध आदि देशों से अनेक भारतीय विद्वान् तिब्बत जाते रहे, वहाँ का कुल वाङ्मय उन्हीं के या उनके तिब्बती शिष्यों के किये हुए अनुवादों से बना है। भारतवर्ष में इस्लाम की स्थापना से दोनों देशों का वह सम्बन्ध टूट गया, और केवल हमारे पहाड़ी आँचल के साथ तिब्बत का पुराना सम्बन्ध रह गया।

इस्लाम की सेनायें उस पहाड़ी आँचल में भी प्रायः प्रवेश न कर सकीं। गज़नवी तुर्कों ने भारतवर्ष के पहले पहाड़ी प्रान्त—अफ़ग़ानिस्तान—को पूरी तरह अधीन करने के बाद कश्मीर तथा काँगड़ा पर चढ़ाइयाँ कीं; कश्मीर के दक्खिन से महमूद को हार कर लौटना पड़ा, पर काँगड़ा में नगरकोट की चढ़ाई में वह सफल हुआ। तो भी वह चढ़ाई केवल लूट के लिए थी, उसका काँगड़ा पर कोई स्थायी प्रभाव न हुआ। दिल्ली में तुर्कों का जो पहला राज्य स्थापित हुआ उसकी उत्तरी सीमा हिमालय की उपत्यका तक मुश्किल से पहुँचती थी। किन्तु कश्मीर में पच्छिम से और उत्तर से धीरे धीरे इस्लाम आ रहा था, और बाद वहाँ जो मुस्लिम राज्य स्थापित हुआ (१३३९ ई०) वह एक आन्तरिक क्रान्ति का फल था न कि बाहरी हमले का। किन्तु मुग़लों के समय कश्मीर पहले पहल बाहरी मुस्लिम शक्ति के अधीन हुआ। पहले तो मिर्ज़ा हैदर ने उसे उत्तर तरफ़ ज़ोजी ला से आकर जीता (१५३२ ई०), फिर अकबर के समय से वह दिल्ली की सल्तनत के अधीन रहा। कश्मीर के बाद काँगड़ा की बारी थी। महमूद गज़नवी के समय से अकबर के समय तक उसे किसी ने न छेड़ा था, जहाँगीर के समय जा कर उस पर पहले पहल

मुग़ल आधिपत्य नाम को स्थापित हुआ। उसके पूरब के पहाड़ी प्रदेश फिर भी स्वतन्त्र रहे। सरमौर का पहाड़ी राजा जिस की राजधानी मैदान से केवल छः घंटे की तांगे की दौड़ पर है, बड़ी भारी चीज़ समझा जाता था। गढ़वाल का राजा तो खुल्लमखुल्ला मुग़लों का तिरस्कार कर सकता था। दारा शिकोह के औरंगज़ेब से हारने पर उस का बेटा सुलेमान शिकोह उसी गढ़वाल के राजा के पास श्रीनगर भाग गया था। गुरु गोविन्द सिंह ने जब औरंगज़ेब के विरुद्ध एक क्रान्ति संगठित करनी चाही, तब वे अपना आधार बिलासपुर से गढ़वाल तक के पहाड़ी प्रदेश को ही बनाना चाहते थे। निःसन्देह उन्हें यह विचार शिवाजी के चरित्र से मिला था, किन्तु वे उन मुर्दा पहाड़ी राजाओं में वह जान न फूंक सके जो शिवाजी ने मावलियों में फूंकी थी। नेपाल की तरफ़ मुसलमानों ने कभी आँख उठा कर नहीं देखा, और भूटान से बख़्तियार ख़िलजी को मुँह की खा कर लौटना पड़ा था। बंगाल के शाहों की शक्ति कूचबिहार और सिलहट तक मुश्किल से पहुँचती थी।

किन्तु इन पहाड़ी प्रदेशों, विशेष कर नेपाल के साथ तिब्बत का और तिब्बत के द्वारा चीन का भी सम्बन्ध मध्य काल में लगातार बना रहा।

आधुनिक राजनीति में ब्रिटेन, चीन और रूस की तिकोनी कशमकश तिब्बत के लिए बहुत दिन चलती रही, और अन्त में यंगहस्बैंड की ल्हासा पर चढ़ाई के बाद तिब्बत बहुत कुछ अंग्रेज़ों के प्रभाव में आ गया। ग्यान्चे और गारतोक में अब अंग्रेज़ी 'वाणिज्य'-दूत रहते हैं, और ग्यान्चे तक अंग्रेज़ी सड़क डाक और तार है। चीन के राजनीतिज्ञों की योग्यता और दूरदर्शिता के कारण और विश्व-राजनीति की उलझनों के कारण तिब्बत अंग्रेज़ी पंजे में पूरी तरह जकड़ा जाने से बहुत

कुछ बचा हुआ है। उन तीन बड़ी शक्तियों के बीच होने के कारण अब भी विश्व-राजनीति में वह एक काफ़ी महत्त्व का देश है। स्वतन्त्र चीन का सामर्थ्य बढ़ने और भारतवर्ष के उत्तरी अञ्चल, विशेष कर नेपाल, के जागरूक होने से उसका महत्त्व और भी बढ़ जायगा। कश्मीर, कुल्लू, कनौर, गढ़वाल, कुमाऊं, नेपाल, सिक्किम और भूटान के साथ अब भी उसका काफ़ी व्यापार है।

चीनी तुर्किस्तान से तिब्बत और पामीर की विभाजक सीता (यारकन्द) नदी की घाटी के ऊपर कारकोरम जोत चढ़ कर शिओक-घाटी और लद्दाख द्वारा जो रास्ता कश्मीर पहुँचता है, उससे उत्तरी रास्तों का दूसरा उपवर्ग शुरू होता है। वह रास्ता पामीर के किनारे किनारे से निकल आता और तिब्बत के पच्छिमी आँचल को काटता है। इस उपवर्ग के बाकी सब रास्ते पामीर के अन्दर से शिओक से पच्छिम की सिन्ध की उत्तरी धाराओं अर्थात् शिगर, हुंजा, गिलगत, स्वात, पंजकोरा और यारखूं की घाटियों मे और उनके द्वारा सिन्ध-घाटी में उतरते हैं। पामीरों के पूरब चीनी तुर्किस्तान और चीन, उत्तर फ़रग़ाना, और पच्छिम वंक्षु का कांठा अर्थात् मध्य तुर्किस्तान है। इन सभी प्रदेशों से भारतवर्ष में आने के लिए पामीरों के रास्ते काम आते हैं। आमू के काँठे से बदख़्शां की कोकचा नदी की घाटी के ऊपर फ़ैज़ाबाद और वहां से ज़ेबक तक चढ़ सकते हैं। ज़ेबक की ऊँचाई समुद्र-सतह से सिर्फ़ ८५०० फुट है। उसके ऊपर सामने नुकसान, दोरा आदि जोत हैं जो चितराल और भारतीय मैदान का रास्ता खोलती हैं, उसके उत्तरपूरब सर्दाब के तुच्छ जोत (६५०० फ़ुट) पार कर वंक्षु की कोहनी या मोड़ के किनारे इश्काशिम शहर तक पहुँचने का रास्ता है। इश्काशिम से आमू घाटी के साथ पामीरों के अन्दर, और वहां से चाहे दक्खिन तरफ़ भारत को, अथवा पूरब काशगर-यारकन्द के मैदान

और चीन को जा सकते हैं; चीन और पच्छिमी देशों के बीच वह अत्यन्त प्रसिद्ध और प्राचीन व्यापारपथ है। सर्दाब की उक्त जोत को जो कोकचा और आमू-घाटियों के बीच पड़ती है, उत्तरी और उत्तरपच्छिमी रास्तों का विभाजक और संयोजक कहना चाहिए। उसके पूरब उत्तरी, उसके पच्छिम उत्तरपच्छिमी।

रूसी तुर्किस्तान से पामीर द्वारा भारतवर्ष पर सीधी चढ़ाई हो सकती है कि नहीं, यह प्रश्न आधुनिक विश्वराजनीति-विचारकों के बीच अनेक वादविवाद उठाने का कारण हुआ है। बहुतों का कहना है कि इन उत्तरी रास्तों से आधुनिक युद्धों की बोझल सामग्री नहीं ढोई जा सकती। कई ऐतिहासिक भी इस सम्बन्ध में यह फ़तवा देते हैं कि ये रास्ते कभी भी सेनाओं के आने जाने के काम के नहीं रहे। कम से कम इस फ़तवे को दूसरे बहुत से ऐतिहासिक निश्चय से ग़लत मानते हैं। इस रास्ते भारतवर्ष पर चढ़ाई करने का सब से पहला निश्चित उदाहरण आधुनिक चीनी तुर्किस्तान के पूर्वी छोर पर रहने वाली उस आर्य जाति का है जिसे अब तक लोग उसके नाम के चीनी रूप युइची, युची या युशी से जानते हैं, और जिसका अपना नाम हाल ही मालूम हुआ है कि ऋषिक था[1]। ऋषिकों ने अपने मूल देश से चल कर पहले कम्बोज और वंक्षु-काँठे को जीता, फिर वे हिन्दूकुश के दक्खिन भारत में पहुँचे। किन्तु उनके पाँच 'यवुगों' के राज्य, जिन्हें बाद में उनके प्रसिद्ध राजा कुषण[2] कुजुल कफ्स ने एक किया, जब भारतवर्ष के सीमान्त

---

१. रघु० नि०। दे० परिशिष्ट १ (७ उ)।

२. कुजुल एक पदवी है जिसका दूसरा रूप है कुसूलक। पहले कफ्स नाम समझा जाता था, पर डा० टामस और श्रीयुत जायसवाल का कहना है कि वह भी एक पदवी है। जायसवाल जी ने सिद्ध किया है कि कुषण पहले कफ्स राजा का व्यक्तिगत नाम था न कि वंश का नाम। दे० ज० बि० ओ० रि० सो०, १९२०, पृ० १७-१८।

पर स्थापित हो चुके थे, तब तक काबुल का तुच्छ यूनानी राज्य बना ही हुआ था। जर्मन विद्वान् मार्कार्ट ने उन पाँचों सरदारों के राज्यों की पहचान की थी, और उसे सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। उनमें से एक वखां में, एक चितराल में और एक गान्धार देश के उत्तरी हिस्से में कहीं था। हिन्दूकुश पार से आने वाली कोई शक्ति काबुल लिये बिना चितराल और उत्तरी गान्धार ले ले, यह तभी हो सकता है यदि वह इन उत्तरी रास्तों से सिन्ध घाटी में प्रवेश करे। यह ध्यान देने की बात है कि काबुल और कश्मीर दोनों में शत्रु के रहते हुए भी मध्य एशिया से कम्बोज-उरशा (पामीर-हज़ारा) या कम्बोज-उड्डीयान (पामीर-स्वात) के इन रास्तों से सीधे रावलपिंडी या पेशावर अर्थात् पूरबी या पच्छिमी गान्धार को पहुँचा जा सकता है। पामीर से नीचे उतरने के रास्तों का उल्लेख हो चुका है। यदि गिल्गित-हुंज़ा द्वारा सिन्ध-घाटी में उतरा जाय तो आगे चिलास और बाबूसर जोत द्वारा कुन्हार की घाटी में कागान होते हुए हज़ारा से तक्ष-शिला पहुँच सकते हैं। उसी प्रकार यारखूं या स्वात घाटी (उड्डीयान) के रास्ते उतरें तो मालकन्द जोत लाँघ कर पुष्करावती या उदभाण्डपुर पहुँच सकते हैं।

ऋषिक लोग इन रास्तों से भारत में आये, किन्तु उनसे पहले भारतीय प्रवासियों ने उनके घर तक अर्थात् चीन के कानसू प्रान्त की सीमा तक 'उपरले भारत' में उपनिवेश बसाते हुए इन रास्तों को शायद पहले पहल खोला था। आजकल के चीनी तुर्किस्तान में ईसवी सन से तीन चार शताब्दी पहले तक शक, तुखार, ऋषिक आदि आर्य जातियाँ फिरन्दर चरवाहों की अवस्था में रहती थीं, जब कि भारतीय आर्यों ने वहाँ अपनी सभ्यता और उपनिवेशों की स्थापना की। तब से आठवीं शताब्दी ई० तक वह देश ऐसी पूरी तरह भारतीय बना रहा कि आधुनिक विद्वान् उस काल के लिए उसे

'उपरला भारत' (Serindia) कहते हैं। ऋषिकों और भारतवर्ष का पहला सम्बन्ध ऋषिकों के भारतवर्ष पर चढ़ाई करने से नहीं, प्रत्युत भारतवासियों के उनके देश को भारत का अंग बना लेने से हुआ। बाद में भारतवर्ष में ऋषिक साम्राज्य स्थापित होने और ऋषिकों के पूरी तरह भारतीय बन जाने से उपरले भारत में भारतीय सत्ता को और पुष्टि मिली। किन्तु ऋषिकों के भारत आने से पहले उस सत्ता की जड़ वहाँ जम चुकी थी; कनिष्क ने खोतन के राजा विजयसिंह के पुत्र विजयकीर्ति के साथ मिल कर भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी। भारतवर्ष और खोतन की अनुश्रुति के अनुसार पहले पहल सम्राट् अशोक के समय खोतन में एक भारतीय उपनिवेश स्थापित हुआ था—अर्थात् कनिष्क से पौने चार शताब्दी पहले। कम्बोज देश अशोक के साम्राज्य में था, और अब यह जाना जाने पर कि कम्बोज देश प्राचीन पामीर और बदख्शाँ था जिस की पूरवी सीमा सीता या यारकन्द नदी थी, इस बात की सम्भावना बहुत बढ़ गई है। इस बात के लिए अशोक के एक अभिलेख में भी साक्षी है, ऐसा प्रतीत होता है[1]। किन्तु चाहे अशोक के समय और चाहे उसके कुछ बाद तरीम काँठे में भारतीय सत्ता ने प्रवेश किया हो, आठवीं शताब्दी ई० तक अर्थात् करीब एक हजार बरस वह सत्ता वहाँ बनी रही इसमें कोई सन्देह नहीं है। और उस लम्बी अवधि में कम्बोज देश वाले भारत के उत्तरी रास्ते नियमित रूप से चलते थे, तभी भारतवर्ष और 'उपरले भारत' का सम्बन्ध बना रह सकता था।

और उन्हीं रास्तों के द्वारा भारतवर्ष का 'उपरले भारत' के और आगे चीन से सम्बन्ध होता था। चीन और भारतवर्ष के बीच प्राग्ज्योतिष के रास्ते थोड़ा बहुत व्यापार दूसरी शताब्दी ई० पू० से पहले शुरु हो चुका था, किन्तु दोनों देशों का परस्पर

१. रघु० दि० । दे० परिशिष्ट १ (६) ।

पूरा पूरा परिचय पहले पहल ऋषिकों के द्वारा या 'उपरले भारत' में ही हुआ, और बाद में चीन तथा भारत के बीच वही मुख्य रास्ता बहुत ज़माने तक रहा। आजकल समुद्र वाला रास्ता सरल और मुख्य दीख पड़ता है, किन्तु प्राचीन काल में भारतवर्ष और चीन के बीच का विशाल प्रायद्वीप बिलकुल जंगली था। भारतवर्ष का प्रभाव आसाम तक और चीन का काङ प्रान्तों (काङ तुङ[1] और काङ सी[1]) के उत्तर नान शान[1] पर्वत-शृंखला तक मुश्किल से पहुँचता था, और इसी कारण दोनों देशों के बीच सामुद्रिक रास्ता तब तक न खुला था जब तक उस समूचे प्रायद्वीप में भारतीय राज्य स्थापित न हो गये थे। समुद्र-मार्ग खुल जाने पर भी 'उपरले भारत' और पामीर वाले रास्ते चीन के पच्छिमी व्यापार की मानो जान थे, भारतवर्ष के उत्तर-पच्छिमी अञ्चल से भी चीन का सम्बन्ध उन्हीं के द्वारा था। क्योंकि चीन के उत्तर-पच्छिमी कानसू प्रान्त तक कूचा, खोतन आदि भारतीय उपनिवेशों की सीमायें तब पहुँचती थीं, इस कारण भी चीन को उसी तरफ़ से भारतवर्ष एकदम नज़दीक पड़ता था। उन्हीं रास्तों चीन में पहले पहल बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता पहुँची, और उन्हीं रास्तों बहुत ज़माने तक फ़ाहियान और य्वाङ च्वाङ जैसे जिज्ञासु चीनी विद्यार्थी भारत पहुँचते रहे। किन्तु चीन-साम्राज्य को चलाने वाले राजनीतिज्ञ दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त से लगातार अपने इन पच्छिमी रास्तों की रक्षा के लिए जो सचेष्ट रहे उस का मुख्य उद्देश था चीन के पच्छिमी व्यापार की रक्षा करना। वे रास्ते प्रधानतः रेशम-व्यापार के रास्ते थे। पहली शताब्दी ई० के अन्त में सेनापति पान चाओ की नायकता में चीन-साम्राज्य की सीमा कास्पियन के तट तक

---

१. तुङ=पूरब, सी=पच्छिम, नान=दक्खिन, पे=उत्तर। शान=पर्वत।

पहुँच गईं; छठी-सातवीं शताब्दी ई० में तुर्कों के मध्य एशिया में आ जाने पर भी चीन ने अपनी सत्ता उन पर बनाये रक्खी और आठवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में जब तरुण अरब साम्राज्य की विश्वविजयिनी सेनाओं ने मध्य एशिया पर चढ़ाइयां शुरू कीं, तब चीन-साम्राज्य ने कान्सू से कश्मीर, कपिश और काबुल तक प्रत्येक पहाड़ी सीमान्त प्रदेश में अपनी छावनियां डाल कर और उन प्रदेशों के राज्यों को अपने संगठन के अन्दर सम्मिलित कर के दृढ़तापूर्वक उनका मुकाबला किया। चीन के दो तरफ़ के शत्रु अरब और तिब्बती बहुत बार परस्पर मिल जाते थे। तिब्बती लोग कान्सू-कपिश-काबुल मार्ग को दक्खिन से काट सकते थे, और अरब पच्छिम और उत्तर से। उन दोनों को दो तरफ़ दबा कर उस मार्ग को बचाये रखना चीन का उद्देश रहता था। भारतवर्ष, चीन और एशिया के इतिहास में वह एक अत्यन्त रुचिकर प्रकरण है; आज यह देख कर सचमुच अचरज होता है कि इतने दूर देशों से ऐसे दुर्गम मार्गों द्वारा दोनों तरफ़ के दुश्मनों को दबाते हुए चीन-साम्राज्य अपना सामरिक सन्बन्ध कैसे बनाये रखता था।

यदि हम इन सब बातों पर ध्यान दें,—'उपरले भारत' में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना और उनका फलना-फूलना, ऋषिक जाति का भारतवर्ष और मध्य एशिया में एक विशाल टिकाऊ साम्राज्य खड़ा करना, और चीन-भारत का परस्पर सम्बन्ध तथा उस के परिणाम, इन सब घटनाओं का मानव इतिहास में कितना मूल्य है. इस पर विचार करें—तो हमें कहना होगा कि यह जो एक विचार चल गया है कि भारतवर्ष के उत्तरपच्छिमी रास्ते उत्तरी रास्तों से अधिक महत्त्व के हैं, यह एक निरा वहम है। उत्तरी रास्तों का इतिहास उत्तरपच्छिमी रास्तों के इतिहास से यदि अधिक महत्व का नहीं, तो किसी तरह कम भी नहीं है।

आजकल की विश्व-राजनीति में उन की क्या कीमत है, और उन से सेनायें लाँघ सकती हैं कि नहीं, इस सम्बन्ध में हम इतना ही कहेंगे कि रूस वाले अपनी पामीर्की या मुर्गाबी छावनी के लिए और अंग्रेज़ लोग चितराल और गिलिगत की छावनियों के लिए काफ़ी सजग रहते हैं, तथा रावलपिंडी और गिलिगत के बीच हज़ारा ज़िले में आज अंग्रेज़ों के एक दर्जन फ़ौजी थाने हैं।

७. *उत्तरपच्छिमी और पच्छिमी स्थलमार्ग;*—दोरा और खावक से ईराक तक की जोतों द्वारा बलख-बदख़शाँ और काबुल-घाटी के बीच चलने वाले इतिहास-प्रसिद्ध मार्गों का उल्लेख उन उन प्रदेशों के वर्णन में हो चुका है। उसी में हम देख चुके हैं कि काबुल के उत्तर या पच्छिम से आने वाले सब रास्ते या तो घोरबन्द अथवा पंजशीर घाटी से चरीकर हो कर पंजशीर नदी के साथ उतरते हैं, और या बामियां, ईराक और ऊनाई हो कर काबुल नदी के साथ। चरीकर और बामियां का महत्त्व इसी से प्रकट है। सिकन्दर ने इसी चरीकर के स्थान पर अर्थात् बलख के रास्ते पर हिन्दूकुश की जड़ में अपनी एक छावनी अलक्सान्द्रिया बसाई थी। आज भी उस स्थान का वैसा ही गौरव बना हुआ है। ऊनाई जोत न केवल उत्तर से प्रत्युत हेरात से हरीरूद की घाटी चढ़कर आने वाले रास्ते को भी काबू करती है। बामियां और हैबक में जो बौद्ध अवशेष मिले हैं वे सूचित करते हैं कि प्राचीन काल में भी वे स्थान मुख्य राजपथ पर थे।

काबुल के आगे ये रास्ते आजकल नदी के साथ जाते हुए ख़ैबर द्वारा पेशावर आ निकलते हैं। किन्तु पुराने समय में वे काबुल नदी को पार कर अलीशांग की घाटी या लमग़ान (लम्पाक) में, जो कपिश का दक्खिनपच्छिमी ज़िला है, चले जाते थे, और

फिर स्वात-घाटी और मालकन्द जोत द्वारा सिन्ध के पुराने घाट ओहिन्द (उदभाण्डपुर) पर।

काबुल से दक्खिन के कुर्रम (पैवार कोतल, शुतुर गर्दन) और टोची के रास्ते व्यापार की दृष्टि से उतने महत्त्व के नहीं हैं। लेकिन गोमल का रास्ता, जो ग़ज़नी के सामने है, और जिसकी रेलपथ के लिए जांच हो चुकी है, शायद ख़ैबर से भी बढ़ कर है। उसके मुँह पर डेरा इस्माइलखां से ४१ मील पर टाँक शहर है, जहाँ से एक खुला रास्ता वाणो होकर गोमल को चला गया है, और दूसरा टाँक से गोमल की दूसरी धारा झोब के साथ अप्पोज़ई (फ़ोर्ट सन्डेमन), किला सैफ़ुल्ला और हिन्दूबाग़ के फ़ौजी थानों को मिलाता हुआ क्वेटा। क्वेटा इस प्रकार न केवल कन्दहार के प्रत्युत झोब के रास्ते की भी जड़ पर है। उसके ठीक नीचे बोलान दर्रा है। बोलान और क्वेटा कन्दहार-ग़ज़नी रास्ते की जड़ को काबू करते हैं; उसी तरह टाँक और वाणो गोमल-ग़ज़नी रास्ते की। क्वेटा से झोब घाटी के आरपार टाँक तक जो फ़ौजी नाका-बन्दी की गई है, उसके द्वारा पठान जाति के मूल घर—झोब-घाटी-का अफ़ग़ानिस्तान के पठानों से सम्बन्ध पूरी तरह कट गया है, वह घाटी अब ब्रिटिश बिलोचिस्तान में शामिल है। यही कारण है कि चाहे वहाँ के पठान पठानों के सब से लड़ाकू फ़िरकों में से हैं, तो भी वे वायव्य सीमा-प्रान्त के पठानों की तरह ब्रिटिश सरकार को तकलीफ़ नहीं दे पाते।

बोलान से क्वेटा और खोजक जोत हो कर कन्दहार और वहाँ से हेरात तक रास्ता है। कन्दहार के सामने चमन तक ब्रिटिश रेल-पथ पहुँच चुका है, उधर हेरात के उत्तर कुश्क तक रूसी रेलपथ। ब्रिटिश रेलपथ क्वेटा से सीधा पच्छिम फ़ारिस की सीमा पर दुज़्दाप तक भी चला गया है।

बोलान और उसके दक्खिन मूला आदि के रास्तों को प्राचीन परिपाटी[1] के अनुसार हम पच्छिमी वर्ग में गिनते हैं। इसीलिए हिन्दूबाग और क्वेटा के बीच झोब और पिशीन-ज़ोरा के स्रोतों का जो जलविभाजक है उसे उत्तरपच्छिमी और पच्छिमी रास्तों के बीच सीमा कहना चाहिए। कन्दहार से काबुल और हेरात जाने वाले रास्ते इस प्रकार उत्तरपच्छिमी और पच्छिमी रास्तों को परस्पर जोड़ते हैं। पच्छिमी रास्तों की जड़ कच्ची गन्दाव की सूखी और गर्म मरुभूमि में है, और क्वेटा के बाद फिर उन्हें हेलमन्द का रेगिस्तान लाँघना पड़ता है। इसी कारण पिछले इतिहास में सेनाओं के लिए वे बहुत दुर्गम समझे जाते रहे हैं। हखामन सम्राट दारयवहु के पूर्वज कुरु[2] (Cyrus) ने (५५८-५३० ई० पू०) मकरान की तरफ़ से भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी, किन्तु उसे हार कर केवल सात बचे हुए साथियों के साथ भागना पड़ा था। किन्तु पहली शताब्दी ई० पू० में शकों का मुख्य आक्रमण इन्हीं पच्छिमी रास्तों से हुआ था, डा० टामस का यह मत सर्वथा प्रमाणसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि शकों के आक्रमण के बाद तक काबुल का तुच्छ यूनानी राज्य बचा हुआ था, जो, यदि वे उत्तरपच्छिमी रास्ते आते तो अवश्य नष्ट हो जाता। इसीलिए, यद्यपि चीनी ऐतिहासिकों के लिखने के कारण और अन्य एक दो प्रमाणों से यह मानना पड़ता है कि सीर दरिया के काँठे को ऋषिकों के दखल कर लेने पर वहां से शकों का कोई सरदार या कोई एक दल हिन्दूकुश के सीधे दक्खिन कपिश में चला आया, तो भी उनका मुख्य प्रवाह पच्छिमी रास्तों से सिन्ध आया, और वहां अधिकार करने के बाद उत्तर तरफ़ गान्धार

---

१. दे० आगे § २५।

२. कुरुष् का अन्तिम ष् प्रथमा एकवचन का प्रत्यय है।

तक बढ़ा, यही बात युक्तिसंगत जान पड़ती है। सिन्ध से हो थर लाँघ कर वह सुराष्ट्र और उज्जैन तक पहुँचा।

उत्तरपच्छिमी सीमान्त का विशेष महत्त्व क्यों है सो पहले कह चुके हैं। किन्तु उस महत्त्व को साधारण पाठ्य-पुस्तक-लेखकों ने बहुत अधिक बढ़ा चढ़ा दिया है। कभी कभी तो वे भारतीय इतिहास को केवल उत्तरपच्छिमी आक्रमणों का एक ताँता बना कर ही प्रकट करते हैं। सब से पहला बड़ा वायव्य आक्रमण आर्यों का कहा जाता है। उसकी मीमांसा पीछे की जा चुकी है। तो भी आर्यों ने भी एक बार वायव्य मार्ग का प्रयोग किया, इस में कोई विवाद नहीं है; क्योंकि पार्जीटर के मत के अनुसार भी भारतवर्ष से आर्यों का प्रवाह ईरान और पच्छिम एशिया की तरफ़ गया। आर्यों की तरह और उनसे भी पहले द्राविडों के भी पच्छिम से प्रवेश की कल्पना की गई है। ब्राहुई नाम की एक द्राविड जाति सिन्धी सीमान्त पर कलात में रहती है, इसी से डा० काल्ड्वेल ने वह कल्पना की थी। उन्हों ने द्राविडों का सम्बन्ध तूरानी या तुर्की जातियों से होने की भी कल्पना की थी। उनकी ये कल्पनायें विद्वानों ने स्वीकार नहीं कीं, तो भी दायित्वहीन पाठ्यपुस्तकलेखकों ने उन्हें निश्चित सत्य सा मान लिया है, इस बात की शिकायत डा० सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन ने भी की है[1]। ब्राहुई लोग दक्खिन भारत से पच्छिमी व्यापार के सिलसिले में गये हुए एक द्राविड उपनिवेश के वंशज भी हो सकते हैं।

निश्चित रूप से भारतवर्ष पर पहला उत्तरपच्छिमी आक्रमण पारसी सम्राट दारयवहु का, और दूसरा सिकन्दर तथा उसके उत्तराधिकारी यूनानियों का था।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे औफ़ इण्डिया (भारतीय-भाषा-पड़ताल=भा० भा० प०) भाग १ (भूमिका खण्ड), जि० १, पृ० ८१-८२।

सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिलिऊक के हारने के बाद मौर्य साम्राज्य हेरात तक पहुँच गया, उस के बाद सम्भवतः मौर्यकाल में ही उत्तरपच्छिम के रास्ते नहीं प्रत्युत उत्तर के रास्ते भारतीय प्रवाह तरीम-काँठे की तरफ़ बहने लगा। यूनानियों के बाद शकों का हमला भी उत्तरपच्छिमी नहीं, प्रत्युत पच्छिमी रास्तों से हुआ, किन्तु पह्लवों का कन्दहार (हरउवती)[1] से काबुल हो कर। शकों पह्लवों ने भारत में पैर रक्खे ही थे जब ऋषिक यहां आ पहुँचे, और हम देख चुके हैं कि वे उत्तरी रास्तों से आये थे। उनके बाद हूणों-तुर्कों के हमले उत्तरी और उत्तरपच्छिमी दोनों रास्तों से हुए दीखते हैं। मध्यकाल का अरब आक्रमण पच्छिम से था, और उसके तीन शताब्दी बाद से तुर्क और बाद का मुगल हमला फिर उत्तरपच्छिम से।

ये सब परिचित बातें हैं।

---

१. कन्दहार शहर अरगन्दाब पर बसा है। उसके नाम का अन्तिम अंश पानी या नदी का वाचक 'आब' है, पहले अंश का पुराना रूप था—अरखुती। 'अरखुती' के और पुराने रूप थे क्रम से—हरउवती हरक्वैती, हरह्वैती, जो संस्कृत 'सरस्वती' के रूपान्तर हैं। उस नदी का प्रदेश भी हरउवती कहलाता था। हरउवती के उक्त पह्लव राज्य के समय (पहली शताब्दी ई० पू० के अन्त और पहली शताब्दी ई० में) वहाँ की भाषा प्राकृत थी, सो तत्कालीन सिक्कों से पता मिलता है। पह्लव राजा बाहर से आये हुए विदेशी थे, या वहीं के रहने वाले, आधुनिक पठानों के पूर्वज, सो कहना कठिन है। यदि वे वहीं के हों तो उन्हें विदेशी कहना उचित नहीं है। मगध का पंजाब पर राज्य यदि विदेशी नहीं कहलाता तो हरउवती का भी नहीं कहला सकता। हरउवती के पह्लव राजा प्रायः बौद्ध थे।

छठा प्रकरण

समुद्र-परिखा

---

§ २२. जलपथ का ऐतिहासिक पर्यालोचन

उन्नीसवीं शताब्दी ई० के भारतीय विषयों के अनेक लेखक इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया करते थे[1] कि एक तरफ़ हिमालय के परकोटे और दूसरी तरफ़ समुद्र की परिखा से घिरे रहने के कारण भारतवर्ष सदा दुनिया भर से अलग रहा है, और उत्तर-पच्छिम के कुछ दर्रों या जोतों के सिवाय और किसी तरफ़ से उसका बाहरी जगत् से सम्बन्ध न था। बीसवीं सदी की नई खोज इस विचार को पुराने अन्धविश्वासों की रद्दी-टोकरी में डाल चुकी है। भारतवर्ष के इस कल्पित अकेलेपन का जिसकी सत्ता केवल मिथ्या विश्वासों की हवा में है, एक ठोस भौगोलिक कारण भी खोज निकाला गया था! हमारे देश के पाठ्य-पुस्तक-लेखक उसे अब तक ब्रह्मवाक्य मानते आते हैं। भूमिका में उत्तर भारतीय पाठ्य पुस्तकों के दो एक रत्न पेश किये गये थे, निम्न-लिखित रत्न दक्खिन के एक प्रसिद्ध इतिहासाध्यापक की पाठ्य पुस्तक का है—

"भारतवर्ष एक सामुद्रिक शक्ति नहीं है; जिन देशों का तट दन्तुर हो (जिसमें स्वाभाविक बन्दरगाह बन सकें) और जिन के पड़ौस में द्वीपों के समूह हों, उनके निवासी स्वभावतः समुद्र

---

१. उदाहरण के लिए दे० रिस्ली—पीपल औफ़ इण्डिया, पृ० १।

और सामुद्रिक जीवन की तरफ़ खिंच जाते हैं। वे लक्षण भारतवर्ष में नहीं हैं। इसकी भारी शकल एक पच्चर की तरह समुद्र में बढ़ी हुई है, इसकी तट-रेखा टूटी फूटी और बन्दरगाहों वाली नहीं है। इसकी बड़ा नदियों के मुँह प्रायः नौचालन के लायक नहीं हैं क्योंकि वे उथले और मिट्टी से भरे हैं। इसीलिए अपने समूचे लम्बे इतिहास में भारतवर्ष ने किसी सामुद्रिक शक्ति को जन्म नहीं दिया, और आधुनिक काल में वह स्वयं युरोप की सामुद्रिक जातियों की पारस्परिक लड़ाई में जीतने वाली का भोग बन गया है।[1]"

भारतवर्ष के 'समूचे लम्बे इतिहास' के विषय में विद्वान लेखक ने जैसी सर्वज्ञता प्रकट की है, उसके सामुद्रिक शक्ति पैदा न करने का कारण भी वैसी ही सूझ बूझ से खोज निकाला है। मानो युरोप के दन्तुर पेचीदा तट के प्रत्येक दाँत और प्रत्येक पेच में हमेशा एक बन्दरगाह बना रहा है, और वहाँ के लोग हमेशा कृषि और शिल्प के बिना व्यापार पर ही जीते रहे हैं, और दूसरी तरफ़ भारतवर्ष के लम्बे विस्तृत तट में दस पाँच भी ऐसी दराड़ें नहीं हैं कि जिनमें आधी दर्जन बन्दरगाह कभी बन सकते! किन्तु इस सब सूझ-बूझ की मूल प्रेरणा लेखक के अन्तिम वाक्य में झलक पड़ी है—भारतवर्ष युरोप की सामुद्रिक जातियों का सहज भोग है, यही सिद्ध करना तो उसका उद्देश है। इस बात पर हम पीछे विचार करेंगे।

भारतीय इतिहास के जानकारों के कथन इससे कितने भिन्न हैं! स्व० अध्यापक गौरांगनाथ बैनर्जी ने लिखा है—"भूमण्डल को घेरने वाले महासागर के सब हिस्सों में से, भूमध्यसागर के सिवाय कोई ऐसा नहीं है जो अपनी स्थिति और शकल के कारण

१. अंग्रेज़ी से अनुवादित।

संसार के इतिहास पर भारतीय समुद्र से अधिक प्रभाव डाल सकता।... ... ...

इतिहास की दृष्टि से भारतीय समुद्र का बड़ा ऊंचा स्थान है............वह ठीक उन अक्षांशरेखाओं में फैला है जहां 'सब से अधिक ऐतिहासिक घनता का कटिबन्ध' शुरू होता है,.....................अत्यन्त प्राचीन काल से समुद्र के आरपार के विस्तृत विविध-जातीय व्यापार में उसका बड़ा हिस्सा रहा है।......वह.........(बड़ी बड़ी) घटनाओं की रंगस्थली बनता रहा है ....।[1]"

भारतवर्ष दक्खिन एशिया के ठीक बीच में है, और इसी लिए उसका समुद्र प्राचीन सभ्य पूरवी जगत के केन्द्र में था। उस समुद्र का एक पच्छिम तरफ़ है, एक पूरव तरफ़। पूरव तरफ़ हिन्दचीनी प्रायद्वीप, भारतीय अथवा मलायु द्वीपसमूह और चीन हैं, पच्छिम तरफ़ फ़ारिस की खाड़ी और लाल सागर और भारतीय सागर के तटवर्ती देश। भारतवर्ष के पूरवी छोर से चीन के नानशान या दक्खिन पर्वत तक समूचे हिन्दचीनी और मलायु द्वीपों में प्राचीन काल में जंगली लोग रहते थे, इसी कारण चाहे चीन और भारत दोनों की सभ्यता बहुत पुरानी थी तो भी दोनों देशों का परस्पर परिचय बहुत पीछे हो पाया। किन्तु फ़ारिस की खाड़ी तथा लाल सागर के पड़ौस में बहुत पुराने समय—लगभग ३०००-४००० ई० पू०—से सभ्य जातियां रहती थीं। दक्खिन भारत के द्राविड प्रदेशों से उन जातियों का बहुत पुराना सम्बन्ध रहने के प्रमाण मिले हैं। ऋग्वेद में तुग्र के बेटे राजर्षि भुज्यु की जलयात्रा का उल्लेख है[2] जिसे बहुत से

---

१. इन्डिया ऐज़ नोन टु दि एन्श्यंट वर्ल्ड (भारतवर्ष प्राचीन जगत् की दृष्टि में), पृ० ५४-५५।

२. १,११६, ३-५।

विद्वान समुद्रयात्रा मानते हैं। किन्तु वह बात विवादग्रस्त है। तो भी वैदिक भारत (लगभग २८००-१४०० ई० पू०) का फ़ारिस-खाड़ी के देशों से सम्पर्क था, इस विश्वास को दिन-ब-दिन नई नई पुष्टि मिल रही है। उत्तर वैदिक काल में वह सम्पर्क होने के निश्चित प्रमाण हैं। जातकों की कहानियों से, जिनमें ८ वीं-७ वीं शताब्दी ई० पू० की दशा का चित्रण है, यह निश्चय से सिद्ध होता है कि भारतीय व्यापारी बावेरू या बाबुल में व्यापार करने जाते थे।

सुप्पारक जातक (४६३) में भरुकच्छ के सात सौ व्यापारियों के एक "विप्रणष्ट" जहाज के अनेक समुद्रों में भटकने की कहानी है। उन समुद्रों को शिनाख्त करने की कोशिश श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने की है, और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि १००० ई० पू० के लगभग भारतीय व्यापारी लाल सागर तक को तो जानते ही थे, कभी भूले-भटके भूमध्य-सागर में भी जा निकलते थे।[1]

जातकों में ही पहले पहल तम्बपन्नी (लंका) और सुवर्ण-भूमि के व्यापार का भी उल्लेख है। बनारस और भरुकच्छ के व्यापारी अपने अपने नगरों से बड़ी नावों पर उस व्यापार के लिए रवाना होते थे[2]। सुवर्णभूमि का व्यापार चम्पा (भागलपुर) के व्यापारियों के लिए जल्द धनी बनने का एक प्रसिद्ध उपाय था[3]।

पच्छिमी जगत् में पहले (६ ठी शताब्दी ई० पू०) फ़ारिस और पीछे (लगभग ३२५ ई० पू०) यूनान का साम्राज्य स्थापित

१. ज बि. ओ. रि. सो. १६२०, पृ. १९३ आदि।
२. सुस्सोन्दि जातक (३६०), सीलनिसंस जातक (१९०), वलाहस्स जातक (१९६)।
३. महाजनक जातक (५३९)।

होने पर अवस्थायें बदल गईं, पर भारतवर्ष के पच्छिमी व्यापार में और भी बढ़ती हुई। पारसी सम्राट दारयवहु का एक नाविक सिन्ध नदी से समुद्र-तट होते हुए लाल सागर के उत्तर छोर तक पहुँच गया, तब पारसियों और यूनानियों को भी उस जल-मार्ग का पता चला। मौर्य सम्राटों की एक अच्छी जलसेना थी। पच्छिम एशिया और मिस्र के यूनानी राज्यों के साथ भारतवर्ष का लगातार सम्बन्ध था।

किन्तु भारतीय व्यापारी प्रायः फ़ारिस-खाड़ी तक ही अपना माल ले जाते, और वहाँ से दूसरे हाथों वह स्थल के रास्ते मिस्र यूनान आदि में पहुँचता। लाल सागर का सीधा रास्ता बहुत कुछ भूला जा चुका था। लगभग २०० ई० पू० में एक भारतीय नाविक अपने साथियों से बिछुड़ कर अकेला लाल सागर के तट पर जा पहुँचा, तब मिस्र के यूनानियों को जलमार्ग से सीधे भारत पहुँचने का उत्साह हुआ, और उसकी पथदर्शकता में एक यूनानी बेड़ा मिस्र से भारत पहुँचा। उसके बाद से मिस्र और पच्छिमी देशों का भारत से व्यापार कई गुना बढ़ गया। यूनान के स्थान में रोम का सम्राज्य स्थापित होने पर भी वह सामुद्रिक व्यापार अनेक उतार-चढ़ावों में बना रहा। भारतीय व्यापारियों का एक समूह एक बार भटक कर जर्मनी के तट पर भी जा लगा था[1]।

पूरब तरफ़ अशोक ने सुवर्णभूमि में अपने प्रचारक भेजे थे, और उसके बाद पहली शताब्दी ई० से भारतीय उपनिवेश वहाँ बसने लगे थे। दूसरी शताब्दी ई० में आधुनिक आनाम में चम्पा, कौडार, पाण्डुरङ्ग, आमृवती आदि भारतीय उपनिवेश बस चुके थे। आगे दस-बारह शताब्दी तक समूची सुवर्णभूमि और मलायु द्वीपों में भारतीय नामों वाले राज्य स्थापित थे जिन में भारतीय अक्षरों में संस्कृत और प्राकृत लिखी पढ़ी जाती थीं,

१. मैक्रिंडल—एन्श्येन्ट इंडिया, पृ० ११०।

और जो प्रत्येक अर्थ में भारतवर्ष के उपनिवेश थे। दूसरी शताब्दी ई० में पाश्चात्य भूगोल-लेखक टालमी ने उनके संस्कृत नाम लिखे हैं और उन सबको 'गंगा पार के भारत' में सम्मिलित किया है। स्वयं चीन वाले उन्हें भारत का अंग मानते थे। बंगाल में ताम्रलिप्ति या तामलूक, कलिंग में दन्तपुर (आधुनिक दाँतुन), मसुलीपट्टम के पास कुड्डूरहार, पच्छिमी तट पर भरुकच्छ, ये सब सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीपों को रवाना होने वाले व्यापारियों, यात्रियों और उपनिवेश-स्थापकों के प्रस्थान-केन्द्र थे।

इस प्रकार करीब एक हजार बरस तक भारतीय महासागर वास्तव में भारतवर्ष का महासागर था, भारतीय द्वीपसमूह अक्षरशः भारतीय था, और हिन्दचीनी प्रायद्वीप हिन्द का केवल पूरबी बढ़ाव। प्रशान्त महासागर के छोटे छोटे द्वीपों में भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के पूरे चिन्ह पाये गये और मौजूद हैं। उधर मदगास्कर को भी भारतीय द्वीपों से गये हुए उपनिवेश-स्थापकों ने बसाया था। आठवीं शताब्दी ई० तक भारतीय समुद्र पर भारतवासियों का पूरा अधिकार था। उसके बाद जैसे भारतवर्ष के जातीय जीवन पर मूर्छा छा गई, वैसे ही समुद्र पर से उनका अधिकार उठने लगा। अरब लोगों ने उनका स्थान लिया, और उसके बाद सोलहवीं सदी में पुर्तगालियों ने अरबों से वह समुद्र-साम्राज्य छीन लिया। तब से युरोपियन शक्तियां हमारे समुद्र की स्वामिनी हैं, और उनके स्वामित्व का इतिहास सुपरिचित है। वह स्वामित्व भारतवासियों या भारतीय समुद्र-तट के किसी त्रैकालिक अभाव के कारण है, यह निरी लालबुझक्कड़ों की कल्पना है। भारतीय समुद्र-तट के अनेक प्रान्तों के निवासियों का मुख्य पेशा अभी तक सामुद्रिक नौकरी करना है। पूर्वी बंगाल के लश्कर लोग तथा केरल, कच्छ, कलिंग और चोलमंडल की अनेक जातियां जलचर जीवों की तरह सामुद्रिक जीवन को

पसन्द करती हैं। सन् १९२९ में दैनिक पत्रों में एक समाचार छपा था कि एक बंगाली लश्कर जिसका समूचा जीवन पानी पर बीता था, लन्दन के एक तिमंजिले होटल में ठहरने पर इतना घबड़ा उठा कि वह होटल की खिड़की से टेम्स नदी में कूद पड़ा।

§ २३. जल- और स्थल-पथ का आपेक्षिक मूल्य

किन्तु जो भी कारण हो, आज भारतवर्ष का अपना सामुद्रिक बेड़ा नहीं है। और उस दशा में, ऐतिहासिक विन्सेन्ट स्मिथ का कहना है कि "भारतवर्ष अब उस शक्ति का सुलभ ग्रास है, जो समुद्र की अधिपति हो"[१]। इसका अर्थ क्या है?

यह ठीक है कि कोई यूरोपियन या अन्य शक्ति, जिसे समुद्र के रास्ते भारतवर्ष पर चढ़ाई करनी हो, तब तक इस देश तक पहुँच नहीं सकती जब तक वह ब्रिटेन को समुद्र पर नीचा न दिखा ले। किन्तु यह ठीक नहीं है कि "उत्तरपच्छिमी दर्रों का सामरिक महत्त्व घट गया है और बम्बई और कराची का उसी हिसाब से बढ़ गया है"[२]। बम्बई और कराची का सामरिक महत्त्व ज़रूर बढ़ गया है, किन्तु स्थल-मार्गों का महत्त्व भी अभी तक बना हुआ है। नैपोलियन के समय से आज तक उस तरफ से आ सकने वाली युरोपियन सेनाओं के पैरों की आहट ने ब्रिटिश नेताओं को उन्निद्र और चिन्तित किये रक्खा है। युरोपियन शक्तियों में से यदि एक के हाथ में भारतवर्ष के जलमार्ग का पूरा प्रभुत्त्व हो और दूसरी के हाथ स्थलमार्ग का, तो यह बात ठीक है कि जल-स्वामिनी शक्ति स्थल-स्वामिनी की अपेक्षा थोड़े खर्च पर और थोड़े कष्ट से भारतवर्ष तक पहुँच सकती है। किन्तु

१. औक्सफर्ड हि०, भूमिका, पृ० ८।

२. वहीं।

फ़ारिस, अफ़गानिस्तान, तिब्बत, चीन या नेपाल में से यदि कोई देश जापान या युरोपियन देशों की तरह शक्तिसम्पन्न हो, या भारतवर्ष के अन्दर ही कोई शक्ति सिर उठा ले और आज जो भारतीय सेना, प्रजा और शस्त्रागार ब्रिटिश स्थल-शक्ति के स्तम्भ बने हुए हैं वे उस शक्ति के हाथ आ जाँय, तो उसके साथ ब्रिटेन को स्थल पर ही लोहा लेना होगा। आज भारतवर्ष की स्थल-शक्ति भी इंग्लैंड के हाथ में है इस बात का भले ही उस समय प्रभाव हो, उसकी जल-शक्ति उस समय कुछ विशेष न कर सकेगी। जल के प्रभु कोंकण, केरल, कलिंग, चोलमण्डल और गुजरात के तट पर कब्ज़ा कर सकते हैं, बंगाल और सिन्ध के अन्दर घुस सकते हैं, किन्तु तट की प्रभुता से देश की प्रभुता नहीं मिल सकती। अन्त को उन्हें स्थल वाली शक्ति का मुकाबला करना होगा, और कमज़ोर होने की दशा में कोंकण के आगे घाटों पर ही रुक जाना होगा। भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय बड़े बड़े स्थलयुद्धों से ही होगा। कारण स्पष्ट है। भारतवर्ष जापान या इङ्गलैण्ड जैसा तटमुक्त देश नहीं है जिसके तट के अन्दर स्थल-विस्तार कुछ भी न हो। यदि कोई शक्ति भारतवर्ष के सारे समुद्र-तट पर पचास मील अन्दर तक और बड़ी बड़ी नदियों के रास्तों पर क़ब्ज़ा कर भी ले तो सारे देश पर प्रभुता पाने के लिए उसे आगे बढ़ कर स्थल में अपना बल प्रकट करना होगा। यदि ब्रिटेन की भारतीय स्थल-शक्ति की बुनियाद कच्ची हो जाय तो उसके साम्राज्य का महल केवल जहाज़ों के मस्तूलों पर खड़ा नहीं रह सकता। ध्यान रहे कि वायुयानों से किसी देश में आतंक फैलाया जा सकता है, देश का विजय नहीं किया जा सकता।

इस दशा में क्या विन्सेन्ट स्मिथ का भारतवर्ष के प्रभुओं की जल-शक्ति की शेखी बघारना केवल उन ताकतों का आतंक

ज़माने के लिए नहीं है 'जिनके स्वार्थों की गाड़ी में मिश्र महाशय की विद्वत्ता जुती हुई है'[1] ? और जिस भारतीय लेखक के वाक्य इस प्रकरण के शुरू में उद्धृत किये गये हैं वह यह भी नहीं पहचान सका कि वह उन वाक्यों में परस्पर विरुद्ध बातें कह गया है। भारतवर्ष की नदियां नौचालन के लायक नहीं हैं, और भारतवर्ष आज युरोप की सामुद्रिक शक्तियों का ग्रास है, ये दोनों बातें एक दूसरे को काटती हैं। भारतीय नदियां नौचालन के लायक हैं इसी कारण तो आज जरूरत पड़ने पर ब्रिटिश गन-बोट गंगा के मुहाने से दीघाघाट या डिब्रूगढ़ तक पहुँच सकते हैं। यदि यह बात न होती तो सामुद्रिक शक्ति केवल तट पर ही मंडराती रहती।

---

१. पोलिटिकल साइन्स क्वार्टर्ली, न्यू यार्क, जि० २४, पृ० ६४६।

दूसरा खण्ड

भारत-भूमि के निवासी

सातवां प्रकरण

भारतवर्ष की जातीय भूमियाँ

§ २४. जातीय भूमियां अथवा स्वाभाविक प्रान्त

भारतवर्ष के ठीक स्वरूप को समझने के लिए उसके स्वाभाविक और परम्परागत प्रान्तों को जानना चाहिए। आजकल का सरकारी प्रान्तों और रियासतों का बँटवारा अस्वाभाविक, कृत्रिम, निरर्थक, बे-सिर-पैर का और अस्थायी है। वह उस के प्राकृतिक और जातिकृत अंग-विभाग को सूचित नहीं करता। उसके आधार पर हम भारतवर्ष का अध्ययन ठीक नहीं कर सकते। पिछले प्रकरणों में हमने भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष का प्रदेश-विभाग किया है। किन्तु किसी देश के जीवन और इतिहास पर प्राकृतिक परिस्थिति से बढ़ कर उसमें रहने वाली मनुष्य-जातियों का प्रभाव होता है। हमको अब भौगोलिक और जातिकृत दोनों अवस्थाओं पर ध्यान रखते हुए भारतवर्ष का प्रान्त-विभाग करना है। जातियों की पहचान बहुत कुछ उनकी भाषाओं से होती है, इसलिए हमें भाषा-प्रदेशों पर भी ध्यान देना होगा।

भारतवर्ष एक देश और एक जाति है, अथवा वह बहुत से देशों और जातियों का समुच्चय या निरा जमघट ही है, इस पर बड़ा विवाद है। यदि वह एक देश और जाति नहीं है, प्रत्युत बहुत से देशों और जातियों का समुदाय है, तो हमें उन जातियों के देशों की सीमायें और नाम निश्चित करने चाहिएँ। यदि वह एक देश और जाति है तो भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उसके कई

परम्परागत प्रान्त या अंग हैं, जो उसके पिछले इतिहास की जातीय जीवन की इकाइयों को प्रकट करते हैं, और भविष्य में भी करेंगे, जो उसके समूचे इतिहास की कशमकश की उपज हैं, जिनमें से प्रत्येक का पिछले इतिहास में प्रायः एक बने रहने का रुझान रहा है, जो भारतवर्ष के जीवन में केन्द्रापमुखी प्रवृत्ति जागने पर अलग अलग राष्ट्र बन जाते और केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति प्रबल होने पर एक भारत-राष्ट्र के अंग बन जाते रहे हैं। सच कहें तो भारतवर्ष में एकता और विविधता दोनों हैं, उस की एकता कई सहोदर जातियों की संघात्मक एकता है। उन जातियों की स्वाभाविक और परम्परागत भूमियों को ही हम इस प्रकरण में टटोलेंगे।

भारतवर्ष के पिछले इतिहास के अध्ययन के लिए उन प्रान्तों का पहचानना जितना आवश्यक है, उसके भावी इतिहास के निर्माण में भी उनका उतना ही महत्व है। भारतवर्ष की शताब्दियों से मन्द हो चुकी जातीय चेतना आज फिर जाग रही है, उस दशा में उस जाति या राष्ट्र के प्रत्येक अंग को अपने ठीक ऐतिहासिक स्वरूप को पहचानना आवश्यक है। यही कारण है कि अपने देश के राष्ट्रीय जीवन में भी आज हम प्रत्येक पुराने जातीय विभाग को अपनी एकता को फिर से स्थापित और सिद्ध करने के लिए बेचैन होता देखते हैं।

§२५. प्राचीन पाँच "स्थल" या मण्डल

भारतवर्ष के स्वाभाविक जाति-विभाग या प्रान्त-विभाग को समझने के लिए हमें प्राचीन काल की जनपद-विभाग शैली से बड़ी सहायता मिलती है। ऊपर के प्रकरणों में हमने हिन्दूकुश-हिमालय, उत्तर भारतीय मैदान, विन्ध्यमेखला और दक्खिन, इन चार विभागों का उल्लेख किया है। पुरानी शैली दूसरी तरह

की थी, और भारतवर्ष की भाषाओं और जनता की पड़ताल के लिए वही अधिक उपयोगी है।

उसके अनुसार भारतवर्ष में पाँच "स्थल" थे[१]। अम्बाला के उत्तरपूरब साधौरा के पास सरसुती (सरस्वती) नदी हिमालय से उतरती है, और थानेसर होती हुई घग्घर (दृषद्वती) में मिल कर सिरसा तक पहुँचने के बाद मरुभूमि में गुम हो जाती है। दृषद्वती-सरस्वती के उस काँठे से कम से कम प्रयागराज तक प्राचीन भारत का "मध्यदेश" था। बौद्ध धर्म की आचार-पद्धति (विनय) के अनुसार आजकल का बिहार भी मध्यदेश का अंग—बल्कि मुख्य अंग—है, और उसकी पूरबी सीमा कजंगल कस्बा (संथाल परगना का कांकजोल) तथा सलिलवती नदी (आधुनिक सलई[२]) है जो छोटा नागपुर के पहाड़ों से मेदिनीपुर की तरफ़ बहती है। नेपाली लोग इस 'मध्यदेश' के निवासियों को आज भी मदेसिया या मधेसिया कहते है, और उनके मदेसियों में बिहार के लोग भी निश्चय से शामिल हैं। मध्यदेश की दक्खिनी सीमा प्रायः पारियात्र या विन्ध्याचल माना जाता था। उस मध्यदेश के पूरब, दक्खिन, पच्छिम और उत्तर के "स्थल" क्रमशः प्राची, दक्षिणापथ, अपरान्त या पश्चिम देश, और उत्तरापथ कहलाते थे।

जब प्रयाग तक मध्यदेश माना जाता तब काशी, मिथिला (उत्तर बिहार), मगध (दक्खिन बिहार) और उसके पूर्बी छोर पर का अंग देश (आधु० भागलपुर ज़िला), तथा उसके साथ बंगाल आसाम, उड़ीसा के सब प्रदेश 'पूरब' (प्राची) में

१. विशेष विवेचना के लिए दे० परिशिष्ट ४।

२. महावग्ग, चम्मक्खन्धक (५)। कजंगल की कांकजोल से शिनाख़्त, अरसा हुआ, डा० राइज़ डैविड्स ने की थी। सलिलवती=सलई शिनाख़्त का श्रेय मेरे मित्र भिक्खु राहुल सांकृत्यायन त्रिपिटकाचार्य को है।

गिने जाते थे। अब भी पच्छिमी बिहार की भोजपुरी बोली की एक शाखा जो उसके सबसे पच्छिमी हिस्से में बोली जाती है, 'पूरबी' कहलाती है। पच्छिम वालों के लिए वही ठेठ पूरब है। वे उस इलाके के निवासियों को पूरबिया कहते हैं, जब कि और पूरब–बंगाल–के रहने वालों को बंगाली। ठेठ नेपाल (काठमाण्डू-घाटी) की भी कामरूप (आसाम) के साथ साथ पूरबी देशों में ही गिनती थी। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) कभी 'पूरब' में और कभी 'दक्खिन' (दक्षिणापथ) में गिना जाता था।

आड़ावला और सह्याद्रि को एक रेखा मान लें, तो उस रेखा के पच्छिम के प्रदेश, अर्थात् मारवाड़, सिन्ध, गुजरात और कोंकण, 'अपरान्त' या पच्छिमी आँचल में गिने जाते थे। वैसे मध्य और पच्छिम की ठीक सीमा 'देवसभ' थी, किन्तु वह कौन सी जगह थी उसका पता आज हमें नहीं है। बहुत सम्भव है कि वह सरस्वती के 'विनशन' या 'अदर्श' (गुम होने की जगह) की देशान्तर रेखा में कोई जगह थी। और सरस्वती नदी के तट पर पृथूदक नगर (कर्नाल ज़िले के पिहोवा) से 'उत्तर' तरफ़ के प्रदेश 'उत्तरापथ' में सम्मिलित थे। पिहोवा लगभग ठीक ३० उ० अक्षांश रेखा पर है, इसलिए 'पृथूदक से उत्तर' का अर्थ करना चाहिए ३० उ० अक्षांश रेखा से उत्तर। इस प्रकार उस रेखा से उत्तर के वे प्रदेश जो देवसभ की देशान्तर रेखा के पच्छिम भी थे, उत्तरापथ में ही गिने जाते थे। पंजाब, कश्मीर, काबुल, बलख, यह सब उत्तरापथ कहलाता था। दर्रा बोलान पिहोवा की अक्षांश रेखा के तनिक ही दक्खिन है, इसलिए उसके उत्तर अफ़गानिस्तान उत्तरापथ में था, और उसके नीचे कलात प्रदेश पच्छिम में।

मध्यदेश, 'पूरब' और 'दक्खिन' की सीमाओं पर एक जंगली प्रदेश की मेखला थी जो आज भी बहुत कुछ बची हुई है। वह मगह की दक्खिनी पहाड़ियों से शुरू हो कर मध्य-गोदावरी के आंचल में बस्तर तक फैली है। पूर्वी घाट का धोवन गोदावरी में लाने वाली शबरी और इन्द्रावती नदियों के बीच का दोआब बस्तर का जंगली प्रदेश है। उसके पच्छिम वेणगंगा के काँठे में आधुनिक महाराष्ट्र के चान्दा, नागपुर और भाण्डारा जिले हैं। प्राचीन काल में वे भी जंगली प्रदेश का अंश थे। छत्तीसगढ़ के द्वारा ये गोदावरी-तट के जंगल-प्रदेश झाड़खण्ड या छोटा नागपुर के जंगलों से जा मिलते और उस लम्बी वन-मेखला को बना देते हैं जो बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र और आन्ध्र (तेलंगण) की सीमाओं पर अब तक बनी हुई है।

विन्ध्याचल के पच्छिमी छोर पर अर्थात् मध्यदेश अपरान्त और दक्षिणापथ की अथवा आधुनिक राजस्थान गुजरात और खानदेश की सीमाओं पर भी एक जंगली प्रदेश था, जिसमें अब भी भील लोग रहते हैं।

§ २६. हिन्दी-खण्ड के प्रान्त

प्राचीन काल का जो मध्यदेश था आजकल उसे मोटे तौर पर हिन्दीक्षेत्र या मध्यमण्डल कह सकते हैं, यद्यपि आज का हिंदी-क्षेत्र पुराने मध्यदेश से बड़ा है। हिन्दी को आज भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा[1] कहा जाता है; पूरब में बंगाल आसाम और पच्छिम में सिन्ध गुजरात को छोड़ कर समूचे उत्तर भारतीय मैदान और विन्ध्यमेखला में तथा कुमाऊँ से चम्बा तक के पहाड़ों में लगभग १३ करोड़[1] आदमियों के पढ़ने लिखने की वही एक भाषा[1] है। इस समूचे देश के भिन्न भिन्न प्रदेशों में उसकी अनेक बोलियां[1]

---

१. भाषा, बोली और राष्ट्रभाषा शब्दों के तथा हिन्दी-भाषियों की संख्या के विषय में दे. परिशिष्ट २ (१)।

बोली जाती हैं। उनमें से पहाड़ी प्रदेशों का विचार हम पृथक् करेंगे; बाकी उत्तर भारतीय मैदान और विन्ध्यमेखला के जिन हिस्सों को हमने छोड़ने को कहा है, उनके सिवा पंजाब को भी हिन्दी-खण्ड में न गिनेंगे, क्योंकि पूरबी पंजाब की पंजाबी यद्यपि हिन्दी की एक अत्यन्त निकट बोली है, तो भी पच्छिमी पंजाब की बोली हिन्दकी[1] उससे बहुत दूर है। उत्तर भारतीय मैदान और विन्ध्यमेखला के बाकी तमाम हिस्से को हम हिन्दीखण्ड कहते हैं।

उस हिन्दीखण्ड की बोलियों में से जिस एक 'खड़ी' बोली को माँज सँवार कर पढ़ने लिखने की हिन्दी बनी है वह ठेठ घरेलू बोली के रूप में गङ्गा-जमना दोआब के उत्तरी भाग अर्थात् मेरठ के चौगिर्द इलाके में, दोआब के पूरब रुहेलखण्ड तक तथा पच्छिम अम्बाला ज़िले में घग्घर नदी तक बोली जाती है। वही प्राचीन उत्तर पञ्चाल और स्रुघ्न देश हैं। दक्खिनपूरब तरफ़ इनके ठीक साथ सटा हुआ मथुरा का प्रदेश अथवा प्राचीन शूरसेन देश है जिसकी बोली ब्रजभाखा है। इन प्रदेशों की बोली न केवल आज प्रत्युत हमेशा से भारतवर्ष की केन्द्रिक और मुख्य भाषा या राष्ट्रभाषा का काम देती रही है। बहुत प्राचीन काल में वैदिक संस्कृत और फिर शौरसेनी प्राकृत, जो समूचे देश की राष्ट्रभाषायें थीं, इन्हीं प्रदेशों की बोलियों का मँजा हुआ रूप थीं। अम्बाला के दक्खिन आजकल का बांगर और हरियाना, अथवा प्राचीन कुरुक्षेत्र है, जिसकी बोली बांगरू खड़ी बोली में राजस्थानी और पंजाबी छांह पड़ने से बनी है। बांगरू के क्षेत्र में करनाल-रोहतक ज़िले, हिसार ज़िले का मुख्य अंश, गुड़गांव ज़िले का उत्तरी अंश, और फुलकियां रियासतों—पटियाला नाभा जींद—का घग्घर नदी तक का पूरबी अंश सम्मिलित है। गुड़गाँव में आ कर बांगरू ब्रजभाखा मे ढल गई है। ब्रजभाखा के

१. इस नाम के विषय में दे. नीचे § ३० की टिप्पणी।

पूरब कनौजी का इलाका है जो प्राचीन दक्षिण पञ्चाल देश को सूचित करता है। दोनों के दक्खिन जमना पार बुन्देली बोली है जो विन्ध्यमेखला के दक्खिनी छोर पर मराठी की सीमा तक जा पहुँची है। आजकल के नैरुक्त अर्थात् भाषाविज्ञानी इन सब बोलियों को मिला कर पछाँही हिन्दीवर्ग (अथवा ठीक ठीक कहें तो आर्यावर्त्ती भाषाओं की भीतरी उपशाखा के केन्द्रवर्ग का पछाँही हिन्दी उपवर्ग) कहते हैं।

पछाँही हिन्दी के पूरब सटा हुआ पूरबी हिन्दी का इलाका है जिसमें उत्तर से दक्खिन क्रमशः अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ हैं; कनौजी के सामने अवधी और बुन्देली के सामने बघेली-छत्तीसगढ़ी। छत्तीसगढ़ी हमें ठीक महानदी के कांठे और बस्तर तक ला पहुँचाती है; उसके दक्खिनपच्छिम मराठी और दक्खिनपूरब उड़िया बोली जाती है।

(स्वाभाविक प्रान्तों की पहचान एकमात्र भाषा और बोली की एकता से नहीं होती। हमें भौगोलिक एकता और पिछले इतिहास में एक रहने की प्रवृत्ति पर भी साथ साथ ध्यान देना है। सब बातों को देखते हुए हम कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक के इलाके को अर्थात् बांगरू, खड़ी बोली, ब्रजभाखा, कनौजी और अवधी बोलियों के क्षेत्र को अन्तर्वेद प्रान्त कह सकते हैं, और उसके दक्खिन बुँदेली, बघेली और छत्तीसगढ़ी के प्रदेश को मिला कर चेदि-कोशल (बुन्देलखण्ड का पुराना नाम चेदि, और छत्तीसगढ़ का दक्षिण कोशल)।

जिसे हमने अन्तर्वेद कहा है उसकी एकता की स्पष्ट सूचना पहले पहल हमें मनुस्मृति (लगभग १५० ई. पू.) से मिलती है, जिस के अनुसार वह ब्रह्मावर्त्त+ब्रह्मर्षि देश है। सरस्वती और दृषद्वती (घग्घर) के बीच के दोआब को मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त्त कहा है, और ब्रह्मर्षि देश में

'कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः[१]'

शामिल थे। यह ध्यान देने की बात है कि इनमें से एक एक प्रदेश को आजकल की एक एक बोली का क्षेत्र सूचित करता है। कुरुक्षेत्र है बांगरू बोली का प्रदेश, मत्स्य (अलवर) मेवाती-अहीरवाटी का, उत्तर पञ्चाल खड़ी बोली और दक्खिन पञ्चाल कनौजी का, तथा शूरसेन व्रजभाखा का। इस से हम इस सामान्य परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन जनपद प्रायः आजकल की बोलियों के क्षेत्रों से मिलते हैं। यह बड़े महत्त्व का परिणाम है जिस से हमें बहुत बार पुराने जनपदों की ठीक सीमायें तय करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

हमारे अन्तर्वेद तथा मनुस्मृति के ब्रह्मावर्त्त + ब्रह्मर्षि देश में केवल इतना अन्तर है कि अन्तर्वेद में हमने मत्स्य को नहीं गिना और प्रयाग प्रदेश (वत्स-भूमि) को भी शामिल कर लिया है, जब कि मनुस्मृति का ब्रह्मर्षि देश पञ्चाल की पूरबी सीमा—कन्नौज-इलाके—तक रह जाता है। प्रयाग और अवध की बोली एक है, इसलिए प्रयाग के साथ हमने अवध को भी अन्तर्वेद में रक्खा है। मत्स्य देश की मेवाती-अहीरवाटी बोलियां पछाँहीं हिन्दी और राजस्थानी का मिश्रण हैं। मेवाती द्वारा राजस्थानी व्रजभाखा में ढलती है, और अहीरवाटी द्वारा बांगरू में। खिचड़ी बोलियां होते हुए भी उनकी बुनियाद डा० ग्रियर्सन के मत में राजस्थानी है, इसीलिए और भौगोलिक कारण से उस प्रदेश को मैंने राजस्थान में गिना है[२]।

कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक के प्रान्त के लिए अन्तर्वेद से अधिक सार्थक नाम मुझे नहीं मिला। वह नाम (अन्तर्वेदी) जहां

१. मनुस्मृति. २—१७, १९।

२. उसे अन्तर्वेद में न रखने का मुझे विशेष आग्रह नहीं है।

तक मुझे मालूम है, पहले पहल गुप्तों के शासन में प्रचलित हुआ था। उसकी आलोचना में शायद यह कहा जाय कि वह हरद्वार से प्रयाग तक केवल जमना गंगा-दोआब का नाम है, और इस समूचे प्रान्त के लिए जिस में दोआब के दोनों तरफ़ के प्रदेश भी हैं कैसे बर्ता जा सकता है ? परन्तु क्या बंग महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रान्तों के नाम पहले उन प्रान्तों के एक एक प्रदेश के लिए परिमित न थे ? क्या बिहार कभी केवल एक शहर का, और वास्तव में उसकी भी एक इमारत का नाम न था ? और स्वयं समूचे भारत का नाम हिन्द क्या शुरू में केवल सिन्धु-काँठे का नाम न था ?

बुन्देलखण्ड और छत्तीसगढ़ के इकट्ठा रहने की प्रवृत्ति हम मध्यकालीन हिन्दू इतिहास में स्पष्ट देखते हैं जब कि वे लगातार एक राजनैतिक दायरे को सूचित करते थे। उसी काल के इतिहास के नाम मिला कर मैंने उस प्रान्त का नाम चेदिकोशल रक्खा है।

चेदि नाम शुरू शुरू में चम्बल और केन के बीच जमना के दक्खिना काँठे का अर्थात् केवल उत्तरी बुन्देलखण्ड का था। महाभारत-युद्ध से पहले वसु चैद्योपरिचर के समय न केवल उसके पड़ोस के कौशाम्बी (वत्सभूमि, प्रयाग के चौगिर्द का प्रदेश) और कारूष देश (बघेलखण्ड) चेदि के साथ एक ही राज्य में सम्मिलित थे, प्रत्युत मगध और मत्स्य भी उसी राज्य में थे[1]। बुद्ध के समय से ठीक पहले महाजनपद-काल में चेदि या चेति और वत्स की एक जोड़ी गिनी जाती थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० में कलिंग का राजा खारवेल चेत या चेति (चेदि) वंश का था। मूल चेदि देश से कलिंग तक चेदि लोग कोशल या छत्तीसगढ़ के द्वारा ही फैले होंगे; १४ वीं शताब्दी ई० में उत्कल (उड़िया) लिपि में लिखे गये एक प्राचीन ऐति-

---

१. प्रा० अ० पृ० २८१-२८२।

हासिक संस्कृत सन्दर्भ से स्पष्ट ही सूचित होता है कि खारवे के पूर्वजों की राजधानी पहले कोशल में थी, और वहाँ से खण्डागिरि (उड़ीसा में धौली) गये थे[1]।

आधुनिक बुन्देलखण्ड का दक्खिनी अंश उसमें कब सम्मिलित हुआ है उसका कोई ऐतिहासिक निर्देश मुझे नहीं मिला; किन्तु बोली की एकता सिद्ध करती है कि चेदि लोग बहुत आरम्भिक काल में ही जमना-काँठे से दूर दक्खिन तक समूचे बुन्देलखण्ड में फैल गये थे। मध्यकाल में इस दक्खिनी बुन्देलखण्ड में जबलपुर के उत्तर तिवर या त्रिपुरा में एक हैहय राज्य था, जो चेदि कहलाता था। यदि यह दक्खिनी बुन्देलखण्ड शुरू से चेदि में सम्मिलित न भी रहा हो तो मध्यकाल में उसका चेदि नाम पड़ जाने का एक यह कारण हो सकता है कि त्रिपुरा के राज्य ने कालिंजर का किला और उसके साथ समूचा उत्तरी बुन्देलखण्ड, जो कि प्राचीन चेदि था, जीत लिया था। जो भी हो उस समय से समूचे बुन्देलखण्ड का नाम चेदि है। उसी समय में उसके साथ लगा हुआ महाकोशल या छत्तीसगढ़ का राज्य था जिसकी राजधानी मणिपुर थी। चेदि और कोशल दोनों राज्य हैहयों के थे, और दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबन्ध था[2]। डा० स्टेन कोनौ तो महाकोशल राज्य को

---

१. ज० बि० ओ० रि० सो०. १९१७, पृ. ४८२ आदि; ऐक्टा ओरियंटेलिया (लाइडन). जि० १. पृ० ३८-३९।

२. कनिंगहाम—आर्कियोलौजिकल सर्वे औफ़ इंडिया रिपोर्ट्स, (भारतीय पुरातत्त्व-पड़ताल का वृत्तान्त) जि० ९. पृ० ५५। पार्जीटर —एन्श्येंट चेदि, मत्स्य ऐंड कारुष (प्राचीन चेदि, मत्स्य और कारुष) ज० ए० सो० बं०, १८९५, भाग १, पृ० २४९ में।

पूरवी चेदि राज्य ही कहते हैं[1]। इस प्रकार यदि प्राचीन काल से नहीं तो मध्य काल से चेदि और कोशल का एक क्षेत्र होना निश्चित है। भाषा-पड़ताल की दृष्टि से बुन्देलखण्ड का सीधा सम्बन्ध कुरुक्षेत्र पंचाल और शूरसेन देश से है। किन्तु मनुस्मृति के परिगणन में वह उस समूह में नहीं आता। भौगोलिक दृष्टि से वह विन्ध्यमेखला में होने के कारण उनसे अलग है ही, और इसीलिए हम उसे अलग रखते हैं।

अवध या अवधी बोली का क्षेत्र बोली की दृष्टि से कुरुक्षेत्र आदि से अलग है, और मनुस्मृति के ब्रह्मर्षि-देश में भी वह नहीं आता। बौद्ध ग्रन्थों में हम काशी-कोशल का नाम इकट्ठा सुनते हैं। वास्तव में कोशल और काशी अन्तर्वेद और बिहार के बीच एक का दूसरे में ढलना सूचित करते हैं, कोशल अधिक अन्तर्वेद की तरफ़ है और काशी बिहार की तरफ़। बोली की दृष्टि से भी समूचा पूरबी हिन्दी क्षेत्र (अवध, प्रयाग, बघेलखण्ड, छत्तीसगढ़) अन्तर्वेद और बिहार के बीच मध्यवर्त्ती अवस्था को सूचित करता है। या तो हम समूचे पूरबी-हिन्दी-क्षेत्र को एक प्रान्त कहें, अन्यथा, यदि उत्तरी मैदान और विन्ध्यमेखला के हिस्सों को अलग अलग रखना हो तो अवध-प्रयाग और बघेलखण्ड-छत्तीसगढ़ दो स्वतन्त्र प्रान्त नहीं हो सकते, वे बहुत छोटे हैं, अवध-प्रयाग को अन्तर्वेद में और बघेलखण्ड-छत्तीसगढ़ को बुन्देलखण्ड के साथ रखना होगा[2]।

---

१. ऐक्टा ओरियंटेलिया, पूर्वोक्त निर्देश।

२. यदि समूचे पूरबी-हिन्दी-क्षेत्र को एक प्रान्त मानना अभीष्ट हो तो उसका नाम कोशल बहुत ही सार्थक होगा, क्योंकि अवध प्राचीन उत्तर कोशल है और छत्तीसगढ़ दक्षिण कोशल, दोनों के बीच कौशाम्बी या वत्सभूमि (प्रयाग प्रदेश) और कारूष देश (बघेलखण्ड) में भी

अन्तर्वेद के पूरब बिहार है। बिहार में तीन बोलियाँ हैं—भोजपुरी, मैथिली और मगही। भोजपुरी गंगा के उत्तर दक्खिन दोनों तरफ़ है; बस्ती, गोरखपुर, चम्पारन, सारन, बनारस, आज़मगढ़, बलिया, मिर्ज़ापुर और शाहाबाद ज़िले, अथवा प्राचीन मल्ल और काशी राष्ट्र, उसके अन्तर्गत हैं। अपनी एक शाखा नागपुरिया बोली के द्वारा उसने शाहाबाद से पलामू होते हुए छोटा नागपुर के दो पठारों में से दक्खिनी अर्थात् रांची के पठार पर भी कब्ज़ा कर लिया है। मैथिली मिथिला अथवा तिरहुत (आधुनिक उत्तर बिहार) की बोली है, किन्तु पूरबी छोर पर वह गंगा के दक्खिन भागलपुर (प्राचीन अंग देश) में भी चली गई है। मगही प्राचीन मगध या दक्खिनी बिहार की बोली है। छोटा नागपुर के उत्तरी पठार हज़ारीबाग पर भी उसका दख़ल हो गया है। इस प्रकार आज़मगढ़ से राजमहल और रक्सौल से रांची तक बिहार प्रान्त होता है, और उसमें बिचले गंगा-काँठे के मैदान के साथ विन्ध्यमेखला के सबसे पूरबी प्रदेश—झाड़खण्ड—का मुख्य अंश भी सम्मिलित है।

झाड़खण्ड की जातिकृत अवस्था वैसे बड़ी पेचीदा थी, क्योंकि उसमें मुण्डा, ओरांव आदि आरम्भिक जातियाँ बड़ी संख्या में रहती हैं, और उनका प्रदेश एक तो इकट्ठा नहीं, दूसरे सब मिला कर इतना भी नहीं कि वह एक प्रान्त बन सके। मध्ययुगीन हिन्दू इतिहास में झाड़खण्ड का पच्छिमी अंश—सरगुजा आदि - छत्तीसगढ़ राज्य में रहा है; आजकल भी उस

उत्तर कोशल की ही बोली है। उस दशा में हमारे अन्तर्वेद और चेदि-कोशल के बजाय इस प्रकार तीन प्रान्त होंगे—अन्तर्वेद, बुन्देलखण्ड, कोशल। और कोशल में ये चार प्रदेश होंगे—उत्तर कोशल, कौशाम्बी, कारुष, दक्षिण कोशल। यह प्रश्न विद्वानों की आलोचना के लिए छोड़ा जाता है।

की बोली छत्तीसगढ़ी है, जिसका यह अर्थ है कि दक्खिन कोशल से आर्य प्रवासी उसमें जा कर बस चुके हैं। उसके बंगाल और उड़ीसा के साथ लगे हुए पूरबदक्खिनी अंशों में बंगला और उड़िया बोलियाँ भी पहुची हैं, किन्तु उस पर मुख्यतया बिहार की मगही और भोजपुरी बोलियों ने, और उनमें से भी अधिक भोजपुरी ने अधिकार किया है। इस प्रकार मुंडा और ओराँव लोगों की बस्तियों के बीचोंबीच और आरपार आर्य बोलियाँ चली गई हैं और उनमें से बहुतों ने अपनी बोली छोड़ उन्हें अपना लिया और बहुत से दुभाषिये बन गये हैं। इसी कारण झाड़खण्ड की समस्या अब लगभग पूरी तरह हल हो चुकी है।

विन्ध्यमेखला के प्रदेशों में से बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़ को हम चेदिकोशल प्रान्त में सम्मिलित कर चुके हैं। झाड़खण्ड का पच्छिमी अंश (सरगुजा और उसका पड़ोस) भी छत्तीसगढ़ी बोली के क्षेत्र में आ गया। उस का पूरबी अंश बिहार में चला गया। बाकी राजपूताना और मालवा के प्रदेश रहे। उन दोनों में राजस्थानी बोलियां बोली जाती हैं जिन का पछांही हिन्दी मे अन्तर नैरुक्तों के मत में उतना भी नहीं है जितना पूरबी हिन्दी का। राजपूताना और मालवा[1] को मिला कर

---

१. सन् १९३० के शुरू में जातीय भूमियों का नक्शा तैयार करने तक मैं राजपूताना और मालवा को दो अलग अलग प्रान्त गिनता था। नक्शा बनने पर यह दीखा कि मालवा बहुत छोटा प्रान्त रह जाता है। वैसे मालवी बोली भी राजस्थानी के अन्तर्गत है, और मेवाड़-मालवा में जहाँ ऐतिहासिक सम्बन्ध बहुत पुराना है वहाँ उनकी जनता भी प्रायः एक ही है। भौगोलिक दृष्टि से भी मेवाड मालवा का केवल उत्तरी छोर है, बनास और चम्बल के बीच का दोआब समूचा एक है। मुस्लिम काल से पहले मुंज भोज आदि मालवा के प्रसिद्ध परमार राजाओं के समय मेवाड़ उन्हीं के अधीन रहा है, उनके स्मारक विशाल

अर्थात् राजस्थानी और राजस्थान की भीली बोलियों के पूरे क्षेत्र को राजस्थान प्रान्त कहना चाहिए। सिन्ध के थर पारकर ज़िले का ढाट वाला थोड़ा सा अंश भी राजस्थान में आ जाता है; लेकिन जैसलमेर का कुछ पच्छिमी अंश सिन्ध में चला जाता है। उसी तरह सरकारी पंजाब की बहावलपुर रियासत और हिसार-रोहतक ज़िलों का दक्खिनी अंश— बागड़—राजस्थान में आ जाता है, और उसके बदले अबोहर के दक्खिन लगा हुआ राठी बोली वाला बीकानेर का अंश पंजाब में चला जाता है।

भीली बोलियों में से कौन सी राजस्थान में और कौन सी गुजरात में पड़ती हैं, उसकी विवेचना की यहाँ ज़रूरत नहीं। उन सब में कुछ समान लक्षण हैं जिनके कारण वे भीली कही गई हैं; अन्यथा यदि उन सब का एक नाम न रक्खा जाय और

मन्दिर अब तक चित्तौड़ में खड़े हैं। इस प्रकार अब मेरी यह लगभग निश्चित धारणा है कि राजपूताना मालवा मिला कर एक राजस्थान प्रान्त गिनना चाहिए। किन्तु यदि मालवा को अलग प्रान्त गिनना हो तो खानदेशी बोली का क्षेत्र, जो अब महाराष्ट्र में है, उसी में लेना होगा, क्योंकि नैरुक्तों के मत में वह मालवी और भीली के अधिक नज़दीक है। नीमाड़ तो मालवा का अंग है ही।

नीमाड़ी-मालवी बोलने वाले कुल ४८$\frac{1}{4}$ लाख हैं, और भीली के मालवा अंश तथा खानदेशी बोलने वालों की संख्या उन में मिला देने से भी कुल संख्या ७० लाख के करीब बनेगी। लभानी और गूजरी बोलने वालों की, जो राजस्थान से बाहर रहते हैं, संख्या निकाल देने के बाद राजस्थानी बोलने वाले कुल १५८$\frac{1}{2}$ लाख हैं, जिनमें से मालवी नीमाड़ी के अंक निकाल देने से बाकी राजपूताना के ११०$\frac{1}{4}$ लाख बचते हैं। इस प्रकार मालवा आसाम, केरल और सिंहल प्रान्तों से तो अब भी बड़ा बन जाता है, तो भी उसका राजस्थान में सम्मिलित होना ही मुझे अधिक ठीक प्रतीत होता है।

उनके दूसरे लक्षणों पर ध्यान दिया जाय तो वे आप से आप मेवाड़ी, मालवी और गुजराती में बँट जाती हैं। उनका मुख्य अंश मालवा में और इसलिए राजस्थान में ही आता है।

इस प्रकार समूचा हिन्दाखण्ड या मध्यमण्डल चार प्रान्तों में बँट गया —अन्तर्वेद, बिहार, चेदिकोशल और राजस्थान।

§ २७. पूरब-खण्ड के प्रान्त

पूरब-खण्ड में उड़ीसा बंगाल और आसाम तीन प्रान्त हैं, जिन में से पहले दो भाषाओं की सीमा के अनुसार हैं। (उड़ीसा में आधुनिक उड़ीसा विभाग के अतिरिक्त छोटा नागपुर विभाग के सिंहभूम ज़िले का बड़ा अंश, मेदिनीपुर ज़िले का थोड़ा सा अंश रायपुर ज़िले का कुछ अंश और वहाँ से उड़ीसा विभाग तक की रियासतें, गंजाम ज़िला, वंजागपट्टम की जयपुर एजन्सी और बस्तर का उत्तरपूरबी अंश सम्मिलित है।) आजकल यह प्रान्त चार सरकारी प्रान्तों में टुकड़े टुकड़े कटा हुआ है। उसका मुख्य अंश प्राचीन कलिंग, अर्थात् बंगाल और आन्ध्र के बीच का समुद्रतट का मैदान, है, जिसका उल्लेख पहले पहल प्राचीन अनुश्रुति में[1] और फिर महाजनपद-काल में[2] मिलता है। कालिदास के समय कलिंग और उत्कल की उत्तरी सीमा कापिशा नदी (आधुनिक कसई) रही प्रतीत होती है,[3] आजकल भी लगभग वही है।

(विद्यमान बंगाल से मेदिनीपुर का उक्त अंश निकाल कर उसमें छोटा नागपुर के सिंहभूम ज़िले का दलभूम अंश, और झरिया-धनबाद अंश के सिवाय समूचा मानभूम ज़िला,

---

१. प्रा० अ०, पृ० २७२.

२. कुरुधम्म जातक (२७६). चुल्लकलिंग जातक (३०१)।

३. रघुवंश, ४, ३८

सन्थाल परगना का पूरबी अंश, पुर्णिया ज़िले का महानन्दा नदी से पूरब का अंश, तथा विद्यमान आसाम के सिलहट कछार ज़िले (सुरमा का कांठा) और ग्वालपाड़ा ज़िले का पच्छिमी अंश सम्मिलित करने से असल बंगाल बनता है।

आसाम में आसमिया भाषा का पूरा दखल अभी तक मुख्यतः ब्रह्मपुत्र के मैदान में ही है। उसके उत्तर और पूरब-दक्खिन सीमान्त के पहाड़ हैं, उसके पच्छिमार्ध के दक्खिन गारो, खासी और जयन्तिया पहाड़ियाँ हैं। न केवल सीमान्त के पहाड़ों में प्रत्युन उन पहाड़ियों में भी भिन्न भिन्न जंगली बोलियाँ बोली जाती हैं। खासी-जयन्तिया की बोलियों का सम्बन्ध तो झाड़-खण्ड की मुंडा बोलियों से है, किन्तु गारो पहाड़ियों और सीमान्त के अन्य पहाड़ों की बोलियां तिब्बत और बर्मा की भाषाओं के परिवार की हैं। उन बोलियों के क्षेत्र को बंगाल और आसाम में से किसमें कितना रक्खा जाय अथवा उन्हें भारतवर्ष के एकदम बाहर बरमा में रक्खा जाय, यह एक समस्या है। स्पष्ट है कि गारो के समान जो प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष के अन्दर आ गये हैं, वे तो भारतवर्ष के ही भाग हैं। इस प्रकार बाड़ा जाति पूरी तरह आसाम के बीचों-बीच आ गई है. और नागा भी बहुत कुछ उसके अन्तर्गत हैं। किन्तु लुशेई की स्थिति ऐसी है कि उन्हें चाहे आसाम और भारत-वर्ष में गिना जाय चाहे बरमा में। इन सब भिन्न भिन्न जातियों में सभ्यता का प्रवेश आसमिया, बंगला अथवा बर्मी भाषा में से किसके द्वारा किस अंश तक होगा[1], या कुछ और ही होगा, सो

1. यदि उन जंगली बोलियों का जो ठीक सीमान्त पर हैं बरमी से निकट सम्बन्ध हो तो उनके प्रदेशों को बरमा में डालना चाहिए। इस समस्या को सुलझाने के लिए वहाँ रह कर स्थिति का अध्ययन करने की आवश्यकता है।

भविष्य के गर्भ में छिपा है। मणिपुर की रियासत यद्यपि सुरमा-काँठे के साथ लगी है तो भी उस में एक आसमिया बोली का प्रवेश हुआ है। इसलिए फ़िलहाल हम पूर्वोक्त बंगला-भाषी हिस्सों को निकाल देने के सिवाय विद्यमान आसाम प्रान्त को ज्यों का त्यों रखते हैं।

§ २८. दक्खिन-खण्ड के प्रान्त

दक्खिन भारत का उत्तरपच्छिमी प्रान्त सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, महाराष्ट्र को वहाँ के निवासी तीन हिस्सों में बाँटते हैं—कोंकण, घाटमाथा और देश। कोंकण सह्याद्रि और समुद्र के बीच दमन से गोआ तक मैदान का फ़ीता है। घाटमाथा पच्छिमी घाट की ऊँची श्रृंखला के ऊपर का प्रदेश है। 'देश' घाटमाथा के पूरब उतार का पहाड़ी मैदान है। कोंकण और घाटमाथा तो फैल नहीं सकते थे, लेकिन 'देश' का कलेवर मराठी सत्ता और भाषा के साथ साथ दूर तक फैलता गया है। बराड तो मूल महाराष्ट्र था ही, किन्तु अब 'देश' में उसके पच्छिम खानदेश तथा उसके पूरब वर्धा, नागपुर, भण्डारा और चान्दा ज़िले ही नहीं, प्रत्युत बस्तर का मुख्य अंश भी समा गया है। मराठी भाषा ने यह पूरबी इलाका उस प्राचीन जंगल-प्रदेश में से काटा है, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, और जो गुप्त-काल के अटवी-राज्यों तथा मुस्लिम ज़माने के गोंडवाना में सम्मिलित था। आजकल का बस्तर उसका मुख्य अंश है। अब उसमें महाराष्ट्र, उड़ीसा और चेदिकोशल की सीमायें परस्पर छूती हैं। सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन की भाषा-पड़ताल प्रकाशित होने के पहले तक वह झाड़खण्ड से भी अधिक धुँधला प्रदेश था। बस्तर के मुख्य अंश में हलबी बोली है जो एक अनाथ बच्ची थी, मराठे उसे छत्तीसगढ़ी की और छत्तीसगढ़ी उसे मराठी की बोली मानते थे। वह दोनों की खिचड़ी है, किन्तु

ग्रियर्सन के मत में उसकी रीढ़ मराठी की है। उसके उत्तरपूरब भत्री बोली है जो हलबी और उड़िया के बीच कड़ी, किन्तु तो भी उड़िया का अंग, है, यद्यपि मराठी के सान्निध्य के कारण वह नागरी में लिखी जाती है न कि उड़िया लिपि में। बस्तर के मध्य में दक्खिन तरफ़ तेलुगु है[1]।

(महाराष्ट्र के पूरबदक्खिन तेलुगु भाषा का समूचा क्षेत्र तेलंगण या आन्ध्र-देश है। उसमे वैजागपट्टम से नेल्लूर, कडपऽ, अनन्तपुर और कुर्नूल तक मद्रास अहाते के सब ज़िले, तथा औरंगाबाद, परभणी, नान्देर, भार, उस्मानाबाद, रायचूर, लिंगसुगूर ज़िलों तथा बिदर और गुलबर्गा के पच्छिमी बड़े हिस्से को छोड़ कर समूची हैदराबाद रियासत, और बस्तर का दक्खिनी अंश सम्मिलित है।)आन्ध्र जाति का उल्लेख भारतीय वाङ्मय में पहले पहल उत्तर वैदिक काल[2] में पाया जाता है। जातकों के समय तक वह और उत्तर रहती थी, और उसकी राजधानी तेलवाह नदी पर थी[3] जो छत्तीसगढ़-उड़ीसा की सीमा की आधुनिक तेल है।

(महाराष्ट्र के दक्खिन कनाडी भाषा का क्षेत्र कर्णाटक है।) कोडुगु (कुर्गी) और तुलु कनाडी की ही दो बोलियाँ हैं। (कर्णाटक में बीजापुर, बेलगाम, धारवाड़, उत्तर और दक्खिन कनाडा, कोडुगु, नीलगिरि, बल्लारी, रायचूर और उस्मानाबाद ज़िले, समूची मैसूर रियासत, गुलबर्गा और बिदर ज़िलों का मुख्य पच्छिमी हिस्सा, अनन्तपुर ज़िले का मदगसिर, सेलम ज़िले के होसूर और कृष्णा-

१. भा० भा० प०, १, १, पृ० १४१–१४६।

२ ऐतरेय ब्राह्मण, ७, १८।

३. सेरिववाणिज जातक (३); तेलवाह = तेल शिनाख़्त जायसवाल की है जिसे भण्डारकर ने स्वीकार किया है, दे० इण्डियन आंटिक्वेरी १९१९, पृ० ४२।

गिरि, कोइम्बटूर ज़िले का कोलेगाल तथा शोलापुर ज़िले का शोलापुर तालुका सम्मिलित हैं। कर्णाटक भी बहुत पुराना प्रान्त है। उसका पुराना नाम कुन्तल है। उसकी एकता का विचार पहले पहल हमें कुन्तल के कादम्ब राजाओं के समय चौथी शताब्दी ई० में स्पष्ट रूप से मिलता है।

हिन्दू राज्यकाल के अन्तिम भाग में वह भारतवर्ष का अग्रणी था। नौवीं शताब्दी के अन्त या दसवीं के आरम्भ से उत्तर भारत में कर्णाटक के सैनिक विशेष पसन्द किये जाते थे, ऐसा प्रतीत होता है। मगध और बंगाल के सुप्रसिद्ध राजा धर्मपाल के तीसरे उत्तराधिकारी नारायणपाल की सेना में कर्णाटक के सिपाही भरती होते थे[1], सो बात विद्वानों के ध्यान में आ चुकी है। किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि ग्यारहवीं शताब्दी के शुरू में अलबेरूनी ने भी कनाडे सिपाहियों के विषय में सुना था। कर्णाट लिपि का परिचय देते हुए वह कहता है कि वह उस "कर्णाट देश में चलती है जहाँ से वे सिपाही आते हैं जो सेनाओं में कनार कहलाते हैं"[2]—मानो कर्णाटक की सबसे प्रसिद्ध चीज़ कनाडे सिपाही ही थे! अलबेरूनी को भारतवर्ष के उत्तरपच्छिमी प्रान्तों—अफ़गानिस्तान और पंजाब—से ही वास्ता पड़ता था, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समय में शायद उस पंजाब में भी, जिसके सैनिक आज भारत भर में प्रसिद्ध हैं, कनाडे सैनिक पसन्द किये जाते थे। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि अलबेरूनी ने पंजाब में उन्हें देखा न हो, उनके विषय में केवल सुना हो। जिस बरस सुलतान महमूद सोमनाथ की चढ़ाई के लिए गज़नी से रवाना हुआ था (१०२३ ई०) ठीक उसी बरस राजेन्द्र चोल ने दक्खिन से बंगाल पर चढ़ाई की थी! और दोनों विजेताओं ने एक दूसरे के विषय में सुना हो, और राजेन्द्र चोल की कनाडी सेना की कीर्त्ति

१. इंडियन आंटिक्वेरी, १५, पृ० ३०६।
२. तहकीके-हिन्द, अंग्रेजी अनुवाद, जि० १, पृ० १७३।

विशेष रूप से अलबेरूनी के कानों में पड़ी हो, सो भी सम्भव है। जो भी हो नारायणपाल के समय से अलबेरूनी के समय तक कनाडे सिपाहियों की इस प्रकार की ख्याति बने रहना एक ध्यान देने लायक बात है। फिर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतवर्ष के सबसे प्रबल राजा चेदि के कर्ण ने कर्णाटों की सहायता से ही मालवा और उत्तर भारत को जीता था[1]। ग्यारहवीं सदी के अन्त में फिर हम कर्णाट सैनिकों को उत्तर भारत में अपने राज्य स्थापित करते देखते हैं। करीब १०८० ई० में विजयसेन ने बंगाल में सुप्रसिद्ध सेन राज्य की स्थापना की, उसके दस बारह बरस बाद नान्यदेव ने मिथिला में एक नये राज्य की नींव डाली जिसने नेपाल को भी जीत लिया। विजयसेन और नान्यदेव दोनों कर्णाट थे। नान्यदेव-वंश के राज्य में मिथिला में हिन्दू संस्कृति सवा दो सौ बरस फलती फूलती रही, वह गंगा काँठे का अन्तिम हिन्दू राज्य था। विजयसेन और नान्यदेव के समय ही सुदूर कश्मीर के राजा हर्ष (१०८९–११०१ ई०) के दरबार में कर्णाटक के सिक्कों और चाल-ढाल की नकल की जाती थी[2]। उसके बाद सायण जैसे प्रसिद्ध वैदिक विद्वान ने कर्णाटक में ही जन्म लिया। जब हम इन बातों की तरफ़ ध्यान देते हैं, तब समझ आता है कि समूचे भारत में मुस्लिम सत्ता जम जाने पर भी कर्णाटक में विजयनगर का साम्राज्य जो बना रहा वह एक आकस्मिक घटना न थी। किन्तु भारतवर्ष के जातीय जीवन की इन इकाइयों पर ध्यान दिये विना इन सब बातों की परस्पर संगति किसी को कैसे सूझ सकती है ?

नेल्लूर के दक्खिन पूरबी तट पर तामिल भाषा का समूचा क्षेत्र तामिलनाडु या तामिलनाड[3] और पच्छिमी तट पर मलया-

१. एपिग्राफ़िया इंडिका, जि. २, पृ. १८५।
२. राजतरंगिणी, ७, ९२६।
३. नाडु या नाड = देश।

लम का क्षेत्र केरल या मलबार है। लकऽदिव भी केरल में सम्मिलित है। तामिलनाड और केरल की स्वतन्त्र सत्ता कम से कम अशोक के समय से चली आती है। तामिलनाड में उस समय चोल और पाण्डय दो राज्य थे; पाण्डय राज्य, जिसकी राजधानी मधुरा (आधुनिक मदुरा) थी. निश्चय से एक आर्य उपनिवेश था। तामिल वाङ्मय का विकास पहले पहल उसी राज्य में हुआ।

दक्खिनी प्रान्तों के विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि दक्खिन के भौगोलिक प्रदेश तथा ये भाषाकृत प्रान्त जिनके नाम एक ही हैं, परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं, पर हूबहू नहीं।

सिंहल द्वीप के उत्तरी अंश में तामिल बोली जाती है, और शेष में सिंहली। भूगोल और इतिहास की दृष्टि से हम पूरे सिंहल को एक प्रान्त कहते हैं। मालऽदिविन अर्थात् मालऽदिव द्वीपसमूह और मिनिकोई द्वीप भी उसी में सम्मिलित हैं।

§ २६. पच्छिम-खण्ड के प्रान्त

पच्छिमी राजस्थान के भी हिन्दी-मण्डल में चले जाने से पच्छिम-खण्ड में गुजरात और सिन्ध प्रान्त बचे। गुजरात गुजराती भाषा का क्षेत्र है।

कच्छ भी गुजरात में ही सम्मिलित है। वैसे कच्छी बोली नैरुक्तों की सम्मति से सिन्धी की एक शाखा है जिसमें गुजराती मिश्रण हो गया है। किन्तु सिन्धी भाषा आजकल अरबी अक्षरों में लिखी जाने लगी है, और इस कारण भारतीय वर्णमाला से परिचित कच्छी लोगों ने गुजराती को अपने पढ़ने लिखने की भाषा बना लिया है।

सिन्ध सब दृष्टियों से एक पृथक् और स्वतन्त्र प्रान्त है। उसकी भाषा सिन्धी है जो आजकल के 'बलोचिस्तान' की लास-बेला रियासत में भी बोली जाती है, और पच्छिमी पंजाब

की बोली से बहुत मिलती है। सिन्धी मैदान का उत्तरपच्छिमी बढ़ाव कच्छी गन्दाव भी, जो मूला, बोलान, नारी आदि बरसाती नदियों का कच्छ है, और आजकल 'बलोचिस्तान' में शामिल है, वास्तव में सिन्ध का अंग है। उसी में सिवी जिला या सिविस्तान है जो बहुत पुराने समय से सिन्ध का अंग समझा जाता रहा है। आठवीं शताब्दी ई० में मुहम्मद इब्न कासिम ने देवल और नेरूं के युद्ध में जीतने के बाद सिन्ध नदी के पूरब जाने से पहले उत्तर बढ़ कर सिबिस्तान लिया था, और उसे लेने के लिए उसे सिबि राजपूतों का सख्त मुकाबला झेलना पड़ा था। क्या वे सिवि राजपूत दक्खिनपच्छिम पंजाब के सिकन्दर-कालीन शिवि लोगों, सोलह महाजनपद (७वीं शताब्दी ई० पू०)-कालीन सिविरट्ठ (शिवि-राष्ट्र) के निवासियों और ऋग्वेद के शिवों के सगोत्र या वंशज न थे? दक्खिन पंजाब में शोरकोट में गुप्त-संवत् ८३ (४०२-३ ई०) का एक बड़ा देगचा मिला है जिस पर के अभिलेख[1] से सिद्ध हुआ है कि शोरकोट का पुराना नाम शिविपुर था, किन्तु शिवि लोगों की एक शाखा और पच्छिम बढ़ कर सिबिस्तान में भी बस गई हो यह बहुत स्वाभाविक बात है। आगे अफ़गानिस्तान-प्रसंग में हम ऋग्वेद के एक प्रतीक पर विचार करेंगे जिससे यह प्रतीत होगा कि शिवि लोग सम्भवतः ऋग्वेद के समय में ही सिविस्तान में पहुँच चुके थे। जो भी हो, सिबिस्तान का सिन्ध से बहुत पुराना सम्बन्ध है, और वह उसी का एक अंग है।

§ २०. उत्तरपच्छिम खंड

प्राचीन परिभाषा में जिसे 'उत्तरापथ' कहा जाता था, उसके

१. जर्नल औफ़ दि पंजाब हिस्टौरिकल सोसाइटी, जि० १, पृ० १७४।

मैदान अंश में केवल पंजाब का प्रान्त बचता है, और उसे अब उत्तरपच्छिम कहना अधिक ठीक है। पंजाब की भाषा-विषयक स्थिति कुछ पेचीदा है। साधारण जनता मोटे तौर पर पंजाबियों की बोली को पंजाबी कहती है, और वह यह भी जानती है कि मुलतानी बोली साधारण पंजाबी से कुछ भिन्न और सिन्धी से मिलती है। आधुनिक नैरुक्त लोग 'पंजाबी' नाम केवल उस बोली को देते हैं जो पूरबी पंजाब में बोली जाती है, और पच्छिम पंजाब की बोली को, जिसका एक रूप मुलतानी है, वे 'पछांही पंजाबी' भी नहीं कहना चाहते, क्योंकि वैसा कहने से उसका पूरबी पंजाबी से नाता दीख पड़ेगा, जो कि है नहीं। इस पछांही बोली का ठीक नाम हिन्दकी[1] है। नैरुक्तों के मत में 'पंजाबी' तो हिन्दी की खड़ी बोली के इतनी नजदीक है जितनी राजस्थानी भी नहीं, लेकिन हिन्दकी इतनी दूर है जितनी बिहारी हिन्दी या मराठी। लेकिन इन

1. पच्छिम पंजाब की बोली का नाम डा. ग्रियर्सन ने 'लँहदा' रक्खा है। 'लँहदा' का शब्दार्थ है 'उतरता', और उसका दूसरा अर्थ है सुरज के उतरने की दिशा अर्थात् पच्छिम। भा. भा. प., १, १. पृ. १३६ टि. २ में ग्रियर्सन लिखते हैं कि ठीक नाम लँहदोचढ़ बोली, लँहदे दी बोली या डिलाही होना चाहिए, लँहदा केवल संक्षिप्त संकेत है। अंग्रेज़ी में वह संकेत भले ही चल सके, पर हिंदी में उसे लँहदा कहना ऐसा ही है जैसे पछांही हिंदी को पच्छिम या पछाँह कहना! तो भी कुछ मक्खी पर मक्खी मारने वाले भारतीय लेखकों ने वह शब्द बर्त डाला है। पच्छिम पंजाब में पूरब पच्छिम को डिम्भार, डिलाह (डीं-उभार, डीं-लाह; डीं=दिन) भी कहते हैं। इसलिए डिलाही शब्द भी अच्छा है। पर वह उतना प्रचलित नहीं है। डिलाही की टकसाली बोली शाहपुर (प्राचीन केकय देश) की है, उसके सिवाय मुलतानी या उच्ची, थली, उत्तरपच्छिमी, उत्तरपूरबी बोलियां हैं,

बारीक भेदों के बावजूद अपनी भौगोलिक स्थिति और अपने इतिहास के कारण पंजाब की प्रान्तीय एकता ऐसी स्पष्ट और निश्चित है जैसी सिन्ध या गुजरात की। और पंजाब प्रान्त की इस स्वाभाविक अन्दरूनी एकता के ही कारण हिन्दकी और पंजाबी आपस में ऐसी मिल जुल गई हैं—और भारतवर्ष में और कहीं भी एक बोली का दूसरी में इस प्रकार चुपचाप ढलना नहीं हुआ—कि उनकी ठीक पारस्परिक सीमा भी निश्चित नहीं की जा सकती।

और एक गौण बोली खेतरानी-जाफ़री सुलेमान की पहाड़ियों में है। इन में से शाहपुरी तो हिंदकी कहीं नहीं कहलाती, पर थली को डेरा इस्माईलख़ां में, और मुलतानी को मुज़फ़्फ़रगढ़, डेरा गाज़ीख़ां में हिंदकी कहते हैं। सिन्ध में वही सिराइकी हिंदकी अर्थात् उपरली हिंदकी कहलाती है। उत्तर-पच्छिमी बोली हज़ारा में और उत्तरपूर्वी कोहाट में हिंदको कहलाती है, जो हिंदकी शब्द का दूसरा रूप है। इस प्रकार पांच मुख्य बोलियों में से चार हिंदकी कहलाती हैं। उस शब्द की व्याख्या यह की जाती है कि सिंध नदी के पच्छिम पठानों की बोली पश्तो तथा हिंदुओं की डिलाही है, जो हिंदुओं की होने के कारण हिंदकी कहलाती है! खेद है कि डा० ग्रियर्सन ने भी असावधानी की झोंक में यह व्याख्या स्वीकार कर ली है (वहीं पृ. १३६)। हमें यह व्याख्या ऐसी ही लगती है जैसे टक्करी=ठाकुरों की (ज. रा. ए. सो. १९११, पृ. ८०२-३), या कोल=सुअर ! हिंदकी को बोलने वाले हिंदुओं की अपेक्षा डिलाही मुसलमान अधिक हैं, और सिंध में उसके हिंदकी कहलाने का क्या कारण हो सकता है ? 'हिंदू' और 'हिंदकी' का मूल भले ही एक है—सिन्धु। स्पष्टतः वह सिंध-कांठे की बोली होने के कारण हिंदकी कहलाती है, और यह भी ठीक है कि वह 'हिंदुओं' की अर्थात् सिंध-काँठे के निवासियों की बोली है। सचमुच वहाँ हिंद शब्द का यही अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि दूसरे अर्थ

व्यथ (जेहलम नदी) और सिन्ध के बीच का पहाड़ी हज़ारा ज़िला और सिन्ध पार के पेशावर, कोहाट, बन्नू और डेरा इस्माईलखाँ ज़िले जो अब सरकारी सीमा प्रान्त में हैं, असल में पंजाब के ही हैं। पेशावर, कोहाट, और बन्नू ज़िलों में अब पश्तो-भाषी जनता पंजाबी जनता से अधिक है, तो भी उन ज़िलों का ऐतिहासिक सम्बन्ध पंजाब से है।

पंजाब की पूर्वी सीमा घग्घर नदी है। अम्बाला ज़िले की खरड़ रोपड़ तहसीलें तो उसके पच्छिम सतलज-काँठे में आ जाती हैं, पर बाकी अम्बाला ज़िला और बांगर-हरियाना प्रदेश जो सरकारी पंजाब के पूरबी छोर पर टंका हुआ है, पंजाब का नहीं है।

हज़ारा के अतिरिक्त पंजाब के पहाड़ी अंश का विचार हम पर्वत-खण्ड में करेंगे।

§३१. पर्वतखण्ड के प्रान्त

अ. पच्छिम अंश—लास-बेला, कलात, 'बलोचिस्तान'—

पहाड़ी सीमान्त के प्रदेशों का विचार करना बाकी रहा। उसके पच्छिमी छोर पर आजकल का सरकारी प्रान्त बलोचिस्तान है। हम देख चुके हैं कि उसका पच्छिमी भाग जो लास-बेला और कलात-अधित्यका के पच्छिम तरफ़ है, भारतवर्ष

में तो उस इलाके में किराड़ शब्द प्रयुक्त होता है। सिंधी भी सिंध-काँठे की है, इसलिए सिंध में उसे सिंधी से भिन्न करने के लिए सिराइकी-हिन्दकी—अर्थात् ऊपरले सिंध काँठे की—कहा जाता है। हिंदकी प्राचीन केकय गांधार और सिंधु देशों की बोली है, जिनमें से सिंधु देश के नाम से उसका नाम हिंदकी पड़ा है। सिंधु देश उसी बोली के क्षेत्र का पच्छिम-दक्खिनी प्रदेश था, जब कि आजकल का सिंध सौवीर देश कहलाता था। (दे० ऊपर, पृ० ३७)। इसीलिए मैंने 'लँहदा' या डिलाही को सब जगह हिंदकी कहा है।

का अंश नहीं है। लास-बेला लास राजपूतों और जटों¹ का घर है, और वहाँ की बोली लासी सिन्धी का एक रूप है। इसमें सन्देह नहीं कि उस रियासत में बलोच भी काफी आ गये हैं, तो भी बलोची बोलने वालों की संख्या सिन्धी बोलने वालों की एक तिहाई से कम है। इसी कारण लास-बेला सिन्ध का ही एक अंग है।

उसके उत्तर कलात की स्थिति जनता और भाषा की दृष्टि से बड़ी विचित्र है। कलात ब्राहूई लोगों का घर है। ब्राहूई भाषा का न तो सिन्धी से कोई सम्बन्ध है, न उत्तर की पश्तो से, न पच्छिम की बलोची से; उसका सम्बन्ध दक्खिन भारत की तामिल तेलुगु आदि भाषाओं से है। कलात की अधित्यका का एक तो क्षेत्रफल ही बहुत अधिक नहीं; दूसरे उसकी आबादी भी सब से घने बसे हुए उत्तरी जिलों—सरवान और बोलान—में १० से १५ आदमी प्रति वर्ग मील है, जब कि दक्खिनी जिले झलवान में वह ५ और पच्छिमी जिले खरान में १ प्रति वर्ग मील है। इस दशा में कलात को एक स्वतन्त्र प्रान्त कहना उचित नहीं। ब्राहूई लोग प्रायः फिरन्दर हैं, और वे जाड़े के मौसम में बड़ी संख्या में सिन्ध में उतर आते हैं। इस कारण भाषा का भेद रहते हुए भी कलात को सिन्ध में सम्मिलित करना चाहिए

हमने देखा था कि बलोच लोग कलात के पूरब सिन्ध और पंजाब के सीमान्त पर भी आ बसे हैं, इस कारण वहां एक पूरबी या भारतीय बलोचिस्तान' बना हुआ है। यह पूरबी 'बलोचिस्तान' दर्रा बोलान से शुरू हो कर उसके दक्खिन सिबी और कच्छी में और कच्छी के ठीक पच्छिम सुलेमान और शीनग़र पर्वतों के दक्खिनी छोर के घुमाव तक जाता है। सरकारी बलोचिस्तान के पूरबी अंश में इसके उत्तर लोरालाई और झोब ज़िले भी हैं, पर उनके निवासी बलोच नहीं पठान हैं।

¹. (हिन्दी) जाट = (पंजाबी) जट्ट = (सिंधी) जटऽ।

इन प्रदेशों में से बोलान कलात का अंश है, और आजकल वहाँ बलोची जनता ब्राहुई से कुछ ही अधिक है। कच्छी सिन्ध का अंश है, और अब भी वहाँ सिन्धी बोलने वाले बलोची बोलने वालों के दूने से अधिक हैं। दोनों के बीच सिब्री में बलोची-भाषी जनता सिंधी-भाषी जनता से दूनी है। उसके पूरब सुलेमान-शीनगार के दक्खिनी चरणों में तो एक तरह से केवल फिरन्दर बलोचों के माड़ी और बुग्ती क़बीले ही घूमा करते हैं, इसीलिए वह माड़ी-बुग्ती प्रदेश कहलाता है। इस प्रकार सिबी और माड़ी-बुग्ती ही असल भारतीय 'बलोचिस्तान' हैं। सिबी की बलोचीभाषी जनता जितनी हमने कही असल मे बलोच उससे अधिक हैं, क्योंकि बहुत से बलोच वहाँ की मूल भाषा सिन्धी सीख गये हैं, और बाकी भी सीख लेंगे। सिब्री सिन्ध का बहुत पुराना टुकड़ा है, उसे हम सिन्ध में ही रख चुके हैं। बाकी केवल माड़ी-बुग्ती प्रदेश रहे। बुग्ती प्रदेश में आबादी की घनता १० प्रति वर्ग मील से कम और माड़ी में ७ प्रति वर्ग मील से कम है। वे प्रदेश सिन्ध और पंजाब के ठीक बीच हैं; उनके उत्तरी छोर पर सुलमान के पच्छिम बृटिश बलोचिस्तान की बरखान तहसील में हिन्दकी बोलने वाले खेतरान लोगों की आबादी मुख्य है; इस प्रकार वे सिन्ध और पंजाब में बांटे जायेंगे। किन्तु दक्खिनपच्छिमी पंजाब और सिन्ध में परस्पर इतनी समानता है कि उनके बीच माड़ी-बुग्ती प्रदेश का कितना अंश किसमें बाँटा जाय सो निश्चय अभी नहीं किया जा सकता। तो भी कुछ अंश पंजाब में ज़रूर जायगा।

सुलेमान पर्वत के साथ साथ डेरा गाजीख़ाँ, डेरा इस्माईलखाँ जिलों की सीमा पर आजकल के पच्छिमोत्तर सीमा प्रान्त में भी पश्तो- और हिन्दकी-भाषियों के बीच एक बलोच फ़ीता चला गया है। किन्तु उसके बहुत जल्द हिन्दकी में मिल जाने के लक्षण हैं। सन्

१९०१ की गणना में डे० इ० खाँ की कुलाची तहसील के दक्खिन भाग में कासरानी गाँवों में कुछ बलोची बोलने वाले थे जो १९११ में हिन्दकी बोलते थे। उसके बाद अब सुलेमान के पच्छिम तरफ़ लोरालाई के पठान प्रदेश के ठीक साथ लगी हुई बरखान तहसील में भी हिन्दकी का पूरा अधिकार हो गया है। पंजाब और अफ़गानिस्तान के बीच का वह बलोच फ़ीता इस प्रकार धीरे धीरे मिटता जा रहा है।

इ. *उत्तरपाच्छिमी अंश*—

(१) *अफगानस्थान*,—दर्रा बोलान के उत्तर ब्रि० बलोचिस्तान के क्वेटा-पिशीन, लोरालाई और झोब ज़िले, तथा सरकारी पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के वज़ीरिस्तान, कुर्रम, अफ़्रीदी तीरा और मोहमन्द इलाके वस्तुतः ब्रिटिश अफ़गानिस्तान हैं। हम जिसे अफ़गान प्रदेश कहते हैं उसमें और आजकल के अफ़गानिस्तान में गड़बड़ न हो, इसलिए हम असल अफ़गानिस्तान को अफगानस्थान कहेंगे। हमारा अफगानस्थान वास्तव में पक्थ-कम्बोज देश है। उस में जहाँ पूर्वोक्त ब्रि० अफ़गानिस्तान गिनना चहिए, वहां काफ़िरिस्तान या कपिश देश वास्तव में उसका अंग नहीं है। ओबेह के नीचे (पच्छिम) और सब्ज़वार के उत्तरपच्छिम हरी-रूद की घाटी अर्थात् ख़ास हेरात को और सीस्तान को भी फ़ारस में गिनना अधिक ठीक है। हिन्दूकुश के उत्तर तरफ़ बलख़-प्रदेश अथवा अफ़गान तुर्किस्तान अब जनता की दृष्टि से पक्थ-कम्बोज नहीं रहा किन्तु कम्बोज देश का जो अंश अब रूसी पंचायत-संघ में है उसे भी अफगानस्थान में गिनना चाहिए।

अफ़गान लोगों की भाषा पश्तो या पख़्तो है। वे अपने को अफ़गान नहीं कहते, वे 'फ़' उच्चारण ही नहीं कर सकते, उनके जिस क़बीले को लोग अफ़्रीदी कहते हैं वे ख़ुद उसे अप्रादी कहते हैं। पश्तो या पख़्तो भाषा विभिन्न अफ़गान क़बीलों में एकता का

मुख्य सूत्र है, उसके बोलने वाले पश्तान या पख़्तान कहलाते हैं जिससे हमारा पठान शब्द बना है। सब पठानों या पश्तो-पख़्तो-भाषियों की एक परम्परागत अलिखित आचार-पद्धति भी है जिसे वे पश्तूँ वाली या पख़्तूँ वाली कहते हैं और जिसमें राजपूतों के रीति-रवाज से बड़ी समानता है। लेकिन अफ़गानस्थान की जनता में हज़ारा, ताजिक आदि जातियां भी हैं जो पश्तो या पख़्तो नहीं बोलतीं, और बहुत से अफ़ग़ानों ने भी शायद अपनी भाषा छोड़ कर फ़ारसी अपना ली है। पठान लो उन्हें पार्सीवान कहते हैं। अफ़गानिस्तान की राजभाषा भी फ़ारस है। इसीलिए हेरात जैसे प्रान्त को अफ़गानस्थान में गिना जाय य फ़ारिस में सो कहना कठिन हो जाता है। तो भी पठानों और पार्सीवानों का देश एक है; अफ़ग़ानिस्तान के पार्सीवान जिन्हें फ़ारिस वाले अफ़ग़ानों में गिनते हैं ईरानियों से भिन्न हैं।

अफ़गानिस्तान का काफ़िरिस्तान या कपिश प्रदेश जनता और इतिहास की दृष्टि से अफगानस्थान का भाग नहीं है। ठीक ठीक कहें तो काबुल नदी के दक्खिन निंग्रहार भी कपिश का ही अंश है। कपिश के पूरब बाजौर, स्वात, बुनेर और यूसुफ़ज़ई का इलाका प्राचीन पच्छिम गान्धार देश है; उसका पूरब गान्धार अर्थात् उत्तरपच्छिमी पंजाब से अत्यन्त पुराने समय से सम्बन्ध है; किन्तु १५ वीं शताब्दी ई० में उस पर यूसुफ़ज़ई पठानों ने पहले पहल चढ़ाई की, और तब से पठान लोग काबुल नदी के उत्तर बढ़ने लगे; वहाँ के पुराने निवासी स्वाती लोग हज़ारा चले गये। यूसुफ़ज़ई इलाका अब पेशावर ज़िले में है, उसमें अब भी पश्तो और हिंदकी दोनों बोली जाती हैं। पीछे कह चुके हैं कि पेशावर, कोहाट और बन्नू ज़िले पंजाब का ही अंग हैं। इसी प्रकार बाज़ौर, स्वात और बुनेर का भी, जिन्हें मिला कर

यागिस्तान[1] कहा जाता है, कपिश से अधिक सम्बन्ध है।

जिसे हमने कम्बोज देश कहा है, उसमें आजकल ग़ल्चा बोलियां बोली जाती हैं और उनका पश्तो-पख्तो से निकट सम्बन्ध है। कम्बोज उर्फ़ तुखार देश के पच्छिमी अंश बदख्शां में भी पहले उनसे मिलती कोई बोली ही थी, लेकिन अब बदख्शीं लोगों ने फ़ारसी अपना ली है। तुखार या कम्बोज की जनता अब ताजिक कहलाती है। कम्बोज देश का मुख्य भाग आज रूसी पंचायत-संघ के अन्दर है, पर वास्तव में वह अफगानस्थान का एक अंश है।

आमू नदी के दाहिने बदख्शां के उत्तर बोखारा प्रान्त में तो तुर्कमान और उज़बक रहते हैं, किन्तु आमू के मोड़ के पूरब पामीर में ताजिक। उस मोड़ के उत्तरी छोर से, अर्थात् बदख्शां के उत्तरपूरबी छोर से आमू की धारा ज़रफ़्शां नदी के स्रोत से उसके साथ साथ और आमू के दाहिने दाहिने ताजिकों की एक बस्ती समरकन्द शहर के करीब तक पहाड़ों में चली गई है—उस बस्ती और बदख्शां के बीच आमू-काँठे का उज़बकिस्तान एक फाने की तरह घुस गया है। अन्यत्र मैंने यह दिखलाया है[2] कि ज़रफ़्शां-घाटी के ये ताजिक सम्भवतः प्राचीन भारत के 'परम काम्बोज' हैं। वे लोग आर्य और आर्य-भाषी हैं, किन्तु बलख-बोखारा में तुर्क-जातीय जनता के आ जाने से उनका देश दूसरे आर्यों से लगभग कट गया है, केवल बदख्शां के उत्तरपूरबी और पामीर के उत्तरपच्छिमी छोर से वह ज़रा सा जुड़ा रह गया है। परम काम्बोजों का वह देश जनता की दृष्टि से तो अफगानस्थान का

१. यागिस्तान का अर्थ है अराजक देश। पंजाबी लोग इन इलाकों को यागिस्तान ही कहते हैं।

२. रघु० दि०। दे० परिशिष्ट १ (७ इ, उ)।

ा है ही, पर भौगोलिक दृष्टि से वैसा हो सकेगा कि नहीं सो ना अभी कठिन है।

यह कहा जा सकता है कि अफगानस्थान पठानों पार्मीरानों और ताजिकों का देश है। पठानों और पार्मीरानों को मिला कर फ़गान भी कहा जाता है; कम्बोज देश का जब तक लोग भूले थे तब तक वहाँ के निवासियों को कम्बोह भी कहते थे. यद्यपि ब वह शब्द केवल उत्तर भारत की कम्बोज से आइ हुई एक रादरी के लिए रह गया है। इस प्रकार अफगानस्थान को फ़गानों और कम्बोहों का देश भी कह सकते हैं।

पठान भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त प्राचीन जाति हैं। क्थों का सबसे पहला उल्लेख ऋग्वेद में राजा सुदास की ड़ाई के प्रकरण में है[1]। वहाँ उनके साथ भलाना (भलानसः) लिन, विषाणी, और शिव जातियों के भी नाम हैं, जिनमें से शिव पक्थों के पड़ोसी थे, और बाकी जातियां शायद पक्थ-वर्ग हीं रही हों। भलाना के नाम का अवशेष दर्रा बोलान के नाम ोने का सन्देह वैदिक विद्वानों ने किया है[2]। शिव या शिवि ग ऋग्वेद के उक्त उल्लेख से पक्थों के पड़ोसी मालूम होते हैं, र हमारी शिवि = सिबि शिनाख्त के अनुसार आज तक सिबि पक्थ-देश की ठीक सीमा पर है। पठान लोग अपने देश की परम्परागत सीमा आज तक उसी सिबि को मानते हैं। ऋग्वेद के बाद दारयवहु (दारा) के अभिलेख में पक्थों और उनकी सजातीय कई जातियों के नाम आते हैं। उसी राजा के यूनानी वैद्य हिरोदोत ने अप्रीतों या अप्रुतों का उल्लेख किया है जो आजकल के अप्रीदियों के पूर्वज ही थे[3]। पुराणों में भारत-

१. ऋग्वेद ७, १८, ७।
२. कैम्ब्रिज हिस्टरी औफ़ इण्डिया, जि० १, पृ० ८२।
३. भा. भा. प. १०, पृ० ५।

वर्ष के पच्छिम-खण्ड को अपरान्त कहा है। पर उत्तरापथ के देशों में भी एक अपरान्त का नाम है। वायुपुराण में, जिसका पाठ प्रायः और पुराणों की अपेक्षा शुद्ध होता है, उसके बजाय 'अपरीताः' पाठ है। पार्जीटर कहते हैं कि वह पाठ गलत है[1]। मेरा कहना है कि 'अपरीताः' ही ठीक पाठ है, और 'अपरान्ताः' गलत है। उत्तरापथ के अपरीत आधुनिक अपरीदियों के पूर्वज थे। भारतवर्ष के पहले 'युइची' या ऋषिक राजा कुजुल कफ्स कुषण के जाते प्रदेशों में चीनी ऐतिहासिकों ने 'पो-ता' का भी नाम लिखा है, वह 'पो-ता' पक्थ का ही रूपान्तर प्रतीत होता है।

पाणिनि मुनि मेरे विचार में पठान नहीं पंजाबी थे, क्योंकि उनकी जन्मभूमि स्वात-कांठे में पठानों का दखल बहुत नया है। किन्तु चीन में पहले पहल बुद्ध का उपदेश ले जाने वाले कश्यप मातंग और धर्मरक्षित भिक्खु अफगानस्थान के थे, या कपिश-कश्मीर के, या पंजाब के गान्धार-देश के, इस का निश्चय करना लगभग असम्भव है। गुप्त राजाओं के गुरु और महायान के आचार्य वसुबन्धु और आसंग भी शायद पाणिनि की तरह पेशावरी पंजाबी ही थे न कि पठान, यद्यपि उनके विषय में वैसी निश्चित बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि पेशावर के दक्खिन पठानों का प्रदेश बहुत दूर नहीं है। मध्यकालीन और अर्वाचीन इतिहास में भी पठानों का बड़ा हिस्सा है। अर्वाचीन भारतीय साम्राज्य का जन्मदाता शेरशाह, जिसका भारतवर्ष के राष्ट्र-निर्माताओं में एक प्रमुख स्थान है, पठान ही था।

इन सब उदाहरणों में जब हमने पठान शब्द का प्रयोग किया है, तब हमारा मतलब अफगानस्थान के निवासी से नहीं, प्रत्युत असल पश्तान-पख़्तान लोगों से है। पश्तो-पख़्तो भाषा के क्षेत्र में

१. वायु पु० ४५, ११९; मार्कण्डेय पु० ५७, ३६; तथा उस पर पार्जीटर की टिप्पणी पृ० ३१३ पर।

इस समय पूरबी और दक्खिनी अफ़गानस्थान आता है। सुलेमान के पच्छिम झोब नदी की घाटी उस भाषा का मूल घर है। झोब घाटी से सफ़ेद कोह तक हिन्दकी-प्रदेश के पच्छिम भी पक्थ लोग शायद प्राचीन काल से हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि वहां से पूरब और उत्तर पेशावर, कोहाट, बन्नू ज़िलों में तथा यागिस्तान में वे निकट अतीत में ही फैले हैं। उन सब ज़िलों में अब पश्तो और हिन्दकी बोलने वाले साथ साथ रहते हैं, वस्तुतः बहुत प्राचीन काल से वे ज़िले पंजाब के, तथा कोहिस्तानी या मैंयाँ बोली का प्रदेश कपिश का है। उन्हें प्राचीन इतिहास के अनुसार पंजाब और कपिश में ही रखना चाहिए।

अफ़गान शब्द अब कई बार अफ़गानिस्तान के सब निवासियों के लिए प्रयुक्त होता है। तब वह पठान शब्द से अधिक विस्तृत होता है, पर कई बार पठान शब्द का समानार्थक भी समझा जाता है। वह पठानों का अपना शब्द नहीं है। उसका मूल अभी तक संदिग्ध है। सबसे पहले हम छठी शताब्दी ई० में वराहमिहिर की बृहत्संहिता[1] में उसे अवगाण या आवगाण रूप में पाते हैं। फिर ७ वीं शताब्दी ई० में य्वान च्वाङ भारतवर्ष से चीन लौटता हुआ 'फ-ल-न' से 'अ-पो-कन'[2] अर्थात् अपकान या अवगान-प्रदेश हो कर गया था। चीनी उच्चारण फ-ल-न, का मूल 'वरण' माना गया है जो पाणिनि का वर्णु[3] = आधुनिक बन्नू है। इसलिए ७ वीं शताब्दी ई० में बन्नू के ठीक पच्छिम का प्रदेश अवगान या अपगान कहलाता था। ४ थी शताब्दी ई. पू. में सिकन्दर के समय काबुल नदी के उत्तर की जातियों का नाम यूनानी लेखकों ने अस्सकन,

१. अध्याय ११. श्लो. ६१; १६, ३७।

२. वैटर्स—य्वान च्वाङ, जि. १, पृ. २६५।

३. अष्टाध्यायी, ४, ३, ९३; ४, २, १०३।

असकन या अस्पकन, इस तरह का कुछ लिखा है, जिसे महाभारत के अश्वक से मिलाया जाता है। उन दोनों शब्दों को अपगान शब्द से भी मिलाने का जतन किया गया है, पर विद्वानों ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे जातियां निश्चय से कपिश में रहती थीं, और जब तक विपरीत प्रमाण न मिले उन्हें विद्यमान 'काफ़िर' जातियों का पूर्वज मानना चाहिए, जिन्हें अफ़गान नहीं कहा जा सकता। किन्तु जातियों और राष्ट्रों के नाम कई बार असल जगह से विचित्र ढंग से उठ कर दूसरी जगह पर भी जा लगा करते हैं। तामिल तट का 'कर्नाटिक' कहलाना उसका एक उदाहरण है। जो भी हो, अफ़गान शब्द का मूल अभी तक अनिश्चित है, इसलिए यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि वह पठान का पूरा पूरा पर्याय है, या उस में पार्शीवान भी सम्मिलित हैं।

अफ़गानिस्तान को मध्य काल में रोह भी कहते थे। दूसरी जगह मैंने दिखलाया है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में भी वह लोहित कहलाता था[१], और कि संवत् १४४५ विक्रमी के एक संस्कृत अभिलेख में जिन 'रोहेला' राजपूतों का उल्लेख है, वे शायद अफगानिस्तान से ही आये रहे हों[२]।

कम्बोज देश को मैंने इतिहास, भाषा और जाति की दृष्टि से अफगानस्थान में रक्खा है। वह भारतवर्ष का बहुत ही पुराना टुकड़ा है। वंश-ब्राह्मण में कम्बोज औपमन्यव नाम के वैदिक आचार्य का उल्लेख है। यास्क के निरुक्त में कम्बोज भाषा का मध्य-देश की भाषा से भेद दिखलाया गया है। फिर महाजनपद-काल में कम्बोज एक महाजनपद था, और अशोक के साम्राज्य में भी वह सम्मिलित था। आठवीं

१. रघु. दि.; दे. परिशिष्ट १ (७ इ)।

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नया संस्करण, भा. ३, पृ. ३५३।

शताब्दी ई० में कश्मीर के राजा ललितादित्य ने भी उसे दखल किया था।

(२) *कपिश-कश्मीर,*—काफ़िरिस्तान या कपिश की कती (बशगोली) आदि 'काफ़िर' बोलियों, चितराल की बोली खोवार, कोहिस्तान की बोली मैयाँ, दरद देश की शिना बोलियों और कश्मीर की कश्मीरी में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मरुवर्द्धान और कष्टवार की घाटियों में कश्मीरी जनता रहती और कश्मीरी भाषा बोली जाती है। इसीलिए काफ़िरिस्तान, चितराल, कोहिस्तान, दर्दिस्तान, कश्मीर और कष्टवार को मिला कर एक ही कपिश-कश्मीर प्रान्त कहना चाहिए। इन सब प्रदेशों का इतिहास की दृष्टि से भी कश्मीर से पुराना सम्बन्ध है। कोहिस्तान का कुछ अंश और दरद-देश तथा कष्टवार अब भी कश्मीर राज्य में ही हैं। हुंज़ा-नगर के पास बुरुशास्की भाषा का छोटा सा क्षेत्र भी दरद-देश के अन्दर है।

कपिश-देश का उल्लेख पहले पहल ५ वीं शताब्दी ई० पू० में पाणिनि के व्याकरण में[1], और उसके बाद भारतीय इतिहास में लगातार मिलता है। कश्मीर अशोक के साम्राज्य में था, उसकी मरुवर्द्धान नदी का नाम ऋग्वेद में है। अपने एक अन्य लेख में मैंने यह विचार प्रकट किया है कि आधुनिक चितराल या काष्कार ही प्राचीन भारत का कारस्कर देश है[2]। यदि यह बात ठीक हो तो कपिश-कश्मीर प्रान्त की चितराल घाटी का भी आर्यावर्त्त से सम्बन्ध कम से कम धर्मसूत्रों के समय—३ री, ४ थी शताब्दी ई० पू०—से है।

कपिश और कश्मीर का परस्पर निश्चित सम्बन्ध मध्य काल में, खास कर ९ वीं शताब्दी ई० में, रहा है। भाषा और जाति की

---

१. अष्टाध्यायी, ४, २, ९९।

२. रघु. दि ; दे. परिशिष्ट १ (८)।

दृष्टि से भी उन्हें एक प्रान्त गिनना चाहिए। उन दोनों के बीच पंजाब का पश्चिम गान्धार और उरशा (मुग़ल युग का पखली) प्रदेश फाने की तरह चला गया है, और उसी में से उन दोनों के बीच का मुख्य सरल रास्ता जाता है। बहुत बार वह भी कश्मीर के अधीन रहा है, तो भी भाषा और जाति की दृष्टि से वह पंजाब का ही है।

डा० फ्रांके ने सिद्ध किया है[1] कि दरद देश की पूरबी सीमा सिन्ध-घाटी में लदाख के उत्तरपच्छिमी भाग में कम से कम खलचे के पूरब सस्पोला तक थी, जहाँ अब तिब्बती भाषा ने अधिकार कर लिया है। वहाँ के लोग अब भी दरद हैं, पर उन्हों ने तिब्बती रंग ढंग और भाषा अपना ली है।

कष्टवार के दक्खिनपूरब भद्रवा और चम्बा से शुरू कर नेपाल के पूरबी छोर तक पहाड़ी बोलियां बोली जाती हैं। उनका सम्बन्ध यदि किसी भाषा से है तो हिन्दी की राजस्थानी बोली से। इनमें से भद्रवा से जौनसार तक की बोलियां पच्छिम पहाड़ी, फिर गढ़वाल-कुमाऊँ की मध्य पहाड़ी, और नेपाल की पूरबी पहाड़ी कहलाती हैं। चम्बा के दक्खिन कांगड़ा में पंजाबी बोली जाती है, और वहाँ से पूरब तरफ़ वह ऊपर पहाड़ों में भी चम्बा और कुल्लू-मण्डी के बीच पच्चर की तरह जा घुसी है। इस प्रकार वह भद्रवा-चम्बा को अपने असल परिवार से अलग कर देती है। चम्बा की चमियाली बोली में कश्मीरी झलक काफ़ी है, और भद्रवाही तो चमिआली और कश्मीरी का मिश्रण ही है। भद्रवा तो अब भी कश्मीर राज्य में है, उस के अतिरिक्त हम चम्बा को भी कपिश-कश्मीर में ही गिनेंगे।

---

१. ए लैंग्वेज मैप ऑफ़ दि वैस्ट तिबेत विद नोट्स, ज० ए० सो० बं०, १९०४, भाग १, पृ० ३६२ आदि।

(३) *पंजाब का पहाड़ी अंश*,—पीछे कह चुके हैं कि हज़ारा ज़िला पंजाब का अंश है। मुग़ल ज़माने के पखली इलाके में उसके साथ साथ कृष्णगंगा घाटी का निचला अंश भी शामिल था। वास्तव में समूचा पखली इलाका अर्थात् पंजाब के पोठोवार (रावलपिंडी) प्रदेश के उत्तर नंगा पर्वत के नीचे तक सिन्ध और व्यथ के बीच का प्रदेश, ऊरी शहर के पच्छिम व्यथ-घाटी और उसके उत्तर कृष्णगंगा-घाटी का निचला हिस्सा भाषा की दृष्टि से पंजाब का अंग है। इसके सिवा उपत्यका के छिभाल (अभिसार) प्रदेश अर्थात् पुंच, राजौरी और भिम्भर रियासतों की बोली भी हिन्दकी है, और उसके पूरब डुगर की पंजाबी। कश्मीर रियासत के ये दोनों प्रदेश इसी कारण वास्तव में पंजाब के हैं। डुगर के दक्खिनपूरब ठेठ कांगड़ा तो पंजाब का अपना हिस्सा है ही; वह प्राचीन त्रिगर्त्त देश का एक अंश है, और उसका दूसरा अंश आजकल का 'द्वाबा' या जलन्धर-हुशियारपुर ज़िले हैं, जिनके साथ काँगड़ा का पुराना अटूट नाता है। होशियारपुर के दक्खिनपूरब कहलूर की और सतलज पार नलगढ़ की बोली भी पंजाबी है; वहाँ से उसकी सीमा बघाट के सुबाथू कस्बे के नीचे पहुँच कर कालका के पच्छिम घग्घर के स्रोत को जा छूती है, और फिर मैदान में उस नदी के साथ साथ चलती है। अर्थात् मंडी, सुकेत, क्युँठल और बघाट के नीचे की उपत्यका पंजाब में है।

उ. मध्य अंश—

हिमालय के मध्य अंश से हमारा अभिप्राय उस अंश से है जो मध्य-देश या हिन्दी-खण्ड के उत्तर लगा है, और जिसमें पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं। इन बोलियों के रिश्ते नाते की चर्चा अभी हो चुकी है।

(१) अन्तर्वेद का अंश,—इस प्रदेश में से कुमाऊं गढ़वाल और कनौर का अन्तर्वेद के साथ बहुत ही पुराना सम्बन्ध है। गढ़वाल में ही वह प्रयागों की परम्परा शुरू होती है जो अन्तर्वेद के पूरबी छोर प्रयागराज पर जा कर पूरी होती है। और गंगा के स्रोत जिस प्रकार गढ़वाल में हैं, जमना के उसी तरह जौनसार, जुब्बल और क्युँठल में, तथा सरसुती के सरमौर में हैं। कुमाऊँ-गढ़वाल ही प्राचीन इलावृत-वर्ष है, और यदि किन्नर=कनौर की शिनाख्त ठीक है तो कनौर तक का प्रदेश भी उस में सम्मिलित था, क्योंकि इलावृत-वर्ष में गन्धर्व और किन्नर रहते थे। पार्जीटर ने दिखलाया है कि वही अन्तर्वेद के आरम्भिक आर्यों का पवित्र देश और स्वर्ग था, और इलावृत से आने के कारण ही शायद वे ऐल कहलाते थे[1]।

इन प्रदेशों के उत्तरपच्छिम सतलज पार के सुकेत, मंडी और कुल्लू प्रदेशों का भी भाषा की दृष्टि से पंजाब की अपेक्षा इन्हीं प्रदेशों से और हिन्दीखण्ड से अधिक सम्बन्ध है। इसी कारण उन्हें अन्तर्वेद में गिनना चाहिए।

इस बात के प्रमाण हैं[2] कि मध्य काल के इतिहास में कीरग्राम अर्थात् बैजनाथ तक पहाड़ों में कनौज-साम्राज्य की सत्ता थी। कश्मीर के राजा मुक्तापीड ललितादित्य (७३३–७६९ ई०) ने कन्नौज

---

१. प्रा० भा० ऐ० अ०, पृ० २९८, ३००।

२. मगध के राजा धर्मपाल ने चक्रायुध को जब कन्नौज की गद्दी पर बैठाया (लगभग ८०० ई०), तब जिन सामन्तों ने उसे अपना अधिपति स्वीकार किया उनमें कीर का नाम भी है; दे० धर्मपाल का खलीमपुर-तामपत्र, एपिग्राफ़िया इंडिका, ४, पृ. २५२। कीरग्राम=बैजनाथ, यह बैजनाथ के दो अभिलेखों से सिद्ध है, दे० एपि० इं०, १, पृ० १०४, ११२।

के राजा यशोवर्मा को हरा कर उससे काली नदी तक का प्रदेश ले लिया था[१]। विद्वानों ने अब तक उस काली की शिनाख्त जमना और गंगा के बीच मैदान में की एक तुच्छ धारा से कर रक्खी है जो किसी स्वाभाविक सीमा को सूचित नहीं करती। यदि वहां तक का प्रदेश ललितादित्य ले पाता, तो आगे गंगा तक का क्यों छोड़ देता? मेरे विचार में वह कुमाऊं की सीमा की काली है, और ललितादित्य का तमाम दिग्विजय केवल पहाड़ी प्रदेशों में था, उसकी कन्नौज-साम्राज्य से मुठभेड़ भी कश्मीर के दक्खिनपूरब पहाड़ी प्रदेशों के लिए ही हुई थी—और कहीं कश्मीर और कन्नौज के स्वार्थ नहीं टकराते थे। ललितादित्य ने मध्य-देश के राजा के साथ मिल कर तिब्बत के पाँचों रास्ते छेंकने की जो बात चीन-सम्राट् को लिखी थी, उस से भी सूचित होता है कि कश्मीर और कन्नौज साम्राज्यों की सीमायें पहाड़ों में मिलती थीं, और उन दोनों के बीच तीसरा कोई राज्य न था। ललितादित्य के पोते जयापीड विनयादित्य के नेपाल में कैद होने की कहानी है। ऐसा प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी ई० में कश्मीर के राजाओं ने अपने साम्राज्य की सीमाओं को पहाड़ों के अन्दर नेपाल तक पहुँचाने का उसी प्रकार जतन किया था जैसे उन्नीसवीं शताब्दी में गोरखों ने नेपाल-साम्राज्य की सीमाओं को कश्मीर तक पहुँचाने का। दोनों के परिणाम चिरस्थायी न रहे। नौवीं शताब्दी के अन्त में कश्मीर के राजा शंकरवर्मा को हम वह प्रदेश वापिस लेते हुए पाते हैं जो पहले 'भोजाधिराज' ने छीन लिया था[२]। भोजाधिराज बहुत सम्भवतः कन्नौज का मिहिर भोज ही था, और यदि वैसा

---

१. राजतरंगिणी, ४, १४५।

२. वहीं, ५, १५१।

हो तो उसने जो इलाका छीना और शंकरवर्मा ने वापिस लिया वह उसी बीच वाले पहाड़ी इलाके का कोई टुकड़ा रहा होगा।

जो भी हो, उक्त सब बातों से यह प्रकट है कि मध्य-देश का कुल्लू तक के पहाड़ों से सम्बन्ध पुराना है। कश्मीर और मध्य-देश की सीमायें मध्य काल में एक दूसरे से पहाड़ों में लगती थीं, और उसी प्रकार हमारे स्वाभाविक प्रान्तों के नक़शे में भी लगती हैं। उपत्यका और मैदान में पंजाब की सीमा जैसे सतलज के पूरब चली गई है, भीतरी शृंखला के पहाड़ों में अन्तर्वेद की सीमा वैसे ही सतलज के पच्छिम लाँघ गई है।

(१) *नेपाल*.—कुमाऊं के पूरब गोरखों का नेपाल राज्य अफ़गानस्थान और कपिश-कश्मीर की तरह एक स्वतंत्र प्रान्त है। गोरखों का नेपाल पर दखल बिलकुल आधुनिक है, और उसी दखल के कारण उस राज्य के छोटे छोटे विभिन्न प्रदेशों में अब एकता आ गई है। उनकी भाषा पर्बतिया, गोरखाली या खसकुरा कहलाती है, क्योंकि खस लोग भी गोरखों के साथ साथ नेपाल में गये हैं। तो भी समूची जनता ने अभी उस भाषा को पूरी तरह अपनाया नहीं है।

नेपाल-तराई में कपिलवास्तु आदि आर्य बस्तियां बहुत पुराने समय से थीं, ख़ास नेपाल घाटी अशोक के राज्य में सम्मिलित थी और उसके बाद उसमें लिच्छवि आदि अनेक आर्य राज्य बने रहे हैं। गोरखों की भाषा पहुँचने से पहले वहां मैथिली का एक रूप प्रचलित था[१]। किन्तु प्राचीन और मध्य-कालीन इतिहास पढ़ते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि तब नेपाल एक प्रान्त न था, और गोरखा राज्य से पहले नेपाल शब्द का अर्थ नेपाल की घाटी ही थी। यदि गोरखों की पैदा की हुई नेपाल प्रान्त की यह नई एकता न होती तो उसके भिन्न

१. भा० भा० प०, १, १, पृ० १८१।

भिन्न प्रदेश अपने दक्खिन के मैदान के प्रान्तों में ही गिने जाते।

ऋ. पूरब अंश—

नेपाल के पूरब सिक्किम में भी नेपाली जनता बढ़ रही है, और वह नेपाल में ही गिना जा सकता है। किन्तु चुम्बी घाटी और भूटान तिब्बती या भोटिया प्रदेश हैं; वह तिब्बत का ल्होखा अर्थात् दक्खिन प्रान्त है। उनके पूरब आसामोत्तर जातियों का भी तिब्बत से ही अधिक सम्बन्ध है। ये प्रदेश केवल भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष में गिने जाते हैं।

§ ३२. भारतीय प्रान्तों का परिगणन

पर्वत-खण्ड में इस प्रकार तीन स्वतंत्र प्रान्त हुए—अफगानस्थान, कपिश-कश्मीर और नेपाल। भूटान और आसामोत्तर प्रदेश केवल भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष में हैं। कश्मीर और नेपाल के बीच का प्रदेश पंजाब और अन्तर्वेद में बँट गया।

पर्वत-खण्ड को हमने केवल समझने की सुविधा के लिए अलग खण्ड कह कर अन्त में उसका वर्णन किया है, असल में उसके प्रान्तों को पहले पांच खंडों में ही बाँट देना चाहिए। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में कुल प्रान्त इस प्रकार हुए—

मध्यमण्डल या हिन्दीखण्ड में—(१) अन्तर्वेद, (२) राजस्थान, (३) चेदिकोशल, (४) बिहार, (५) नेपाल; पूरब खण्ड में (६) भूटान तथा आसामोत्तर प्रदेश, (७) आसाम, (८) बंगाल, (९) उड़ीसा; दक्खिन खण्ड में—(१०) आन्ध्र या तेलंगण, (११) तामिलनाड, (१२) सिंहल, (१३) केरल, (१४) कर्णाटक, (१५) महाराष्ट्र; पच्छिम खण्ड में—(१६) गुजरात (१७) सिंध या सिन्ध-कलात; उत्तरपच्छिम खण्ड में—(१८) अफगानस्थान, (१९) कपिश-कश्मीर, (२०) पंजाब।

आठवाँ प्रकरण

भारतवर्ष की प्रमुख भाषायें और नस्लें

§ ३३. आर्य और द्राविड

भारतवर्ष के प्रान्तों की चर्चा करते हुए हमने प्रत्येक प्रान्त की भाषा और बोली का उल्लेख किया है। इन भाषाओं के मूल शब्दों और धातुओं की, तथा व्याकरण के ढांचे की—अर्थात् संज्ञाओं और धातुओं के रूप-परिवर्त्तन के, उपसर्गों और प्रत्ययों की योजना के, और वाक्यविन्यास आदि के, नियमों की—परस्पर तुलना करने से बड़े महत्त्व के परिणाम निकले हैं। हिन्दी की सब बोलियों का तो आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है ही, उसके अतिरिक्त आसमिया बंगला और उड़िया का, मराठी और सिंहली का, गुजराती और सिन्धी का, पंजाबी और हिन्दकी का, तथा पहाड़ी बोलियों अर्थात् नेपाल की गोरखाली भाषा और कुमाऊँ-गढ़वाल की तथा जौनसार से चम्बा तक की सब बोलियों का—अर्थात् हिन्दीखण्ड, पूरब खण्ड, पच्छिम खण्ड और उत्तर-पच्छिम-खण्ड की सब मुख्य भाषाओं, दक्खिन खंड में मराठी और सिंहली, तथा पर्वतखंड में नेपाल से चम्बा तक की बोलियों का—एक दूसरे के साथ गहरा नाता है। "बंगाल से पंजाब तक ...समूचे देश में, और राजपूताना, मध्य भारत और गुजरात में भी जनता का समूचा शब्दकोष, जिसमें साधारण बर्त्ताव के लगभग सब शब्द हैं, उच्चारण-भेदों को छोड़ कर एक ही है।"[१] इन सब

१. भा० भा० प०, १, १, पृ० २३।

भाषाओं और बोलियों को आधुनिक निरुक्तिशास्त्री आर्यावर्त्ती भाषायें कहते हैं। फिर कपिश-कश्मीर की और अफगानस्थान की बोलियों का भी इन आर्यावर्त्ती भाषाओं से बहुत ही निकट सम्बन्ध है। यह समूचा आर्य भाषाओं का परिवार है। हमारी प्राचीन भाषायें—संस्कृत, पालि, प्राकृतें और प्राकृतों के 'अपभ्रंश'—जिनसे कि विद्यमान बोलियां निकली हैं, सब उसी परिवार की थीं।

दक्खिन खण्ड में मराठी और सिंहली के अतिरिक्त तेलुगु, कनाडी, तामिल और मलयालम भाषाओं का हमने उल्लेख किया है। उनमें भी, विशेष कर तेलुगु कनाडी और मलयालम में, बहुत से संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु वे सब शब्द उधार लिए हुए हैं। उनके मूल धातुओं और व्याकरण के ढाँचे का आर्य भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है; किन्तु आपस में, कलात की ब्राहूई के साथ, तथा महाराष्ट्र उड़ीसा और चेदिकोशल के सीमान्त जंगलों में रहने वाले गोंड तथा कुई लोगों की बोलियों के साथ सीधा और स्पष्ट नाता है। वे सब द्राविड परिवार की भाषायें हैं।

साधारण तौर पर भाषाओं से मानव वंशों या नस्लों की पहचान होती है। इसलिए आर्य और द्राविड नाम केवल भाषाओं के परिवारों या वंशों को ही नहीं, प्रत्युत मानव वंशों या नस्लों को भी सूचित करते हैं।

§३४. द्राविड वंश

द्राविड भाषायें केवल भारतवर्ष में ही पाई जाती हैं। संसार के पुराने इतिहास और इस समय की हालत की जहाँ तक खोज-पड़ताल अभी तक हुई है, उससे भारतवर्ष के बाहर द्राविड भाषाओं का कोई निश्चित रिश्ता-नाता नहीं मिला। द्राविड वंश

या नस्ल का मूल और एकमात्र घर दक्खिन भारत ही है। एक द्राविड बोली, ब्राहूई, भारतवर्ष के पच्छिमी दरवाजे पर है, इस से यह कल्पना की गई थी कि द्राविड लोग भारतवर्ष में उत्तर पच्छिम से आये हैं। किन्तु इस कल्पना के पक्ष में कुछ भी प्रमाण नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि ब्राहूई लोग दक्खिन भारत के समुद्रतट के पच्छिमी देशों के साथ होने वाले व्यापार के सिलसिले में उत्तरपच्छिम जा बसे एक द्राविड उपनिवेश को सूचित करते हों।

विद्यमान द्राविड भाषायें चार वर्गों में बँटती हैं—(१) द्रविड वर्ग, (२) आन्ध्र भाषा, (३) बिचला या मध्यवर्त्ती वर्ग, और (४) ब्राहूई बोली। तामिल, मलयालम और कनाडी, तथा कनाडी की बोलियाँ तुलु और कोडगु ('कुर्ग' की बोली) सब द्रविड वर्ग में हैं। तेलुगु या आन्ध्र भाषा अकेले एक वर्ग में है। इन परिष्कृत भाषाओं की उत्तरी सीमा महाराष्ट्र का चान्दा ज़िला है। बिचले वर्ग में सब अपरिष्कृत बोलियाँ हैं जो दूसरी सभ्य भाषाओं के प्रवाह में द्वीपों की तरह घिर कर रह गई हैं। वे किसी भी एक पूरे प्रान्त की बोलियाँ नहीं, और उनमें से बहुत सी धीरे धीरे मर रही हैं।

उन बोलियों में से सब से मुख्य और प्रसिद्ध गोंडी है। गोंडी अपनी पड़ोसन तेलुगु की अपेक्षा द्रविड वर्ग की भाषाओं से अधिक मिलती है। उसके बोलने वाले गोंड लोग कुछ आन्ध्र में, कुछ उड़ीसा में, कुछ बराड में, और कुछ चेदिकोशल और मालवा की सीमा पर हैं, किन्तु सब से अधिक चेदिकोशल में हैं। गोंड एक बहुत प्रसिद्ध जाति है, और उनकी बोली गोंडी कहलाती है, जिसकी न कोई लिपि है, न कोई साहित्य या वाङ्मय। परन्तु 'गोंडी' एक भ्रमजनक शब्द है। क्योंकि बहुत से गोंड अब अपने पड़ोस की आर्यभाषा से मिली खिचड़ी बोली बोलते हैं,

और साधारण बोलचाल में उन खिचड़ी बोलियों को भी गोंडी कह दिया जाता है। इसी कारण गोंडी बोलने वालों की ठीक संख्या जानना कठिन है, सन् १६२१ की गणना के अनुसार वह संख्या १६ लाख से ऊपर थी, पर निश्चित रूप से १२½ लाख आदमी ज़रूर असल गोंडी बोलते हैं। गोंड लोग अपने को 'कोइ' कहते हैं।

उनके पड़ोस में उड़ीसा में कुई नाम की इसी वर्ग की एक और बोली है, जिसके बोलने वालों की संख्या ४ लाख ८४ हज़ार है। कुई लोगों में अभी तक नर-बलि देने की प्रथा प्रचलित है। उड़िया लोग उन्हें 'कान्धी' कहते हैं, उसी शब्द का दूसरा रूप खोंध भी है।

कुई के ठीक उत्तर छत्तीसगढ़ और छोटा नागपुर में अर्थात् चेदिकोशल और बिहार के सीमा-प्रदेशों में कुरुख लोग रहते हैं जो ओराँव भी कहलाते हैं। ओरांवों की संख्या ८ लाख ६६ हज़ार, अर्थात् इस वर्ग में गोंडों से दूसरे दर्जे पर, है। चेदिकोशल के अपने इलाके में वे लोग खेती की मज़दूरी और विशेष कर ज़मीन कोड़ने का काम करते हैं, इसलिए वहाँ किसान और कोढा शब्द कुरुख के समानार्थक हो गये हैं। गंगा के ठीक तट पर राजमहल की पहाड़ियों में मल्तो नाम की एक जाति है, जिसकी संख्या कुल ६६ हज़ार है। मल्तो बोली भी कुरुख की ही एक शाखा है। कुरुख और मल्तो लोग कहते हैं कि उनके पूर्वज पहले इकट्ठे कर्णाटक में रहते थे जहाँ से वे नर्मदा घाटी होते हुए सोन घाटी में आये। फिर मुसलमानों के दबाव से उनकी एक टुकड़ी राजमहल चली गई और दूसरी सोन की धारा के और ऊपर छोटा नागपुर में। यह वृतान्त बिलकुल ठीक है।

गोंडी, कुरुख और कुई इन तीन मुख्य बोलियों और चौथी मल्तो के सिवाय कोलामी नाम की इसी वर्ग की एक और बोली पूरबी बराड में है। उसके बोलने वाले कुल २४ हज़ार हैं।

सुदूर कलात में ब्राहूई लोग रहते हैं जो एक द्राविड बोली बोलते हैं। वह बोली अकेली एक अलग वर्ग में है। ब्राहूइयों के अनेक फ़िरकों ने अपनी बोली छोड़ कर बलोची या सिंधी अपना ली है, और जो अपनी बोलते हैं वे भी प्रायः दुभाषिये हैं। एक ही घर में पति बलोची या सिन्धी और पत्नी ब्राहूई बोले ऐसी दशा भी होती है। ब्राहूई बोलने वालों की कुल संख्या १ लाख ८४ हज़ार है।

जहां सभ्य द्राविड भाषायें (तेलुगु, तामिल, कनाडी, मलयालम) बोलने वालों की कुल संख्या सन् १९२१ में ६ करोड़ २१ लाख ९१ हज़ार थी[1], वहाँ बिचले वर्ग की अपरिष्कृत द्राविड बोलियां बोलने वालों की केवल ३० लाख ५६½ हज़ार थी।

§ ३५. आर्य 'वंश' और आर्य 'स्कन्ध'

हमारी आर्य भाषायें जिस वंश को सूचित करती हैं, वह संसार में सब से बड़ा और विस्तृत है। प्राचीन इतिहास की और आज की सुदूर देशों की अनेक सभ्य भाषायें उसमें सम्मिलित हैं। प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी, केल्त, त्यूतनी या जर्मन और स्लाव आदि भाषाओं का हमारी संस्कृत के साथ बहुत ही निकट सम्बन्ध था, और वह नाता उनकी आजकल की वंशजों के साथ भी चला आता है। लातीनी प्राचीन इटली की भाषा थी, और अब इटली, फ्रान्स और स्पेन आदि में उसकी वंशज भाषायें मौजूद हैं। प्राचीन केल्त की मुख्य वंशज आजकल की गैलिक

1. अंग्रेज़ों के भारतवर्ष में ६,०८,८६,०८६ + सिंहल के तामिल भाषी १२,०५,०२१।

अर्थात् आयर्लैंड की भाषा है। जर्मन, ओलन्देज़ (डच), अंग्रेज़ी, डेन, स्वीडिश आदि भाषायें जर्मन या त्यूतनी परिवार की हैं; आधुनिक रूस तथा पूर्वी युरोप की भाषायें स्लाव परिवार की। इन सब भाषाओं का परिवार आर्य वंश कहलाता है। उसमें कई अन्य प्राचीन और नवीन भाषायें भी सम्मिलित हैं, जैसे हैक[1] (आर्मीनियन), खत्ती या हत्ती[2], थ्रूस-फ्रुजी[3], तुखारी आदि। हैक और खत्ती प्राचीन लघु एशिया के निवासी थे, थ्रूस-फ्रुजी यूनान के उत्तरपूरब थ्रूस प्रदेश के, तुखार मध्य एशिया के।

लौकिक भाषा में तो आर्य शब्द इस अर्थ में बर्त्ता जाने ही लगा है, किन्तु बहुत से विद्वान् शास्त्रीय व्यवहार में उसका इतना विस्तृत अर्थ नहीं लेते। उनका कहना है कि केवल आर्यावर्त्त (भारतीय आर्य भूमि) और ईरान के लोग अपने को आर्य कहते थे, इसलिए आर्य शब्द उक्त समूचे वंश के लिए नहीं प्रत्युत उसके केवल उस स्कन्ध (Sub-family) के लिए बर्ता जाना चाहिए जिसकी आर्यावर्त्ती और ईरानी ये दो प्रमुख शाखायें हैं। शास्त्रीय परिभाषा में प्रायः आर्य शब्द इसी हिन्द-ईरानी या भारत-पारसी स्कन्ध के लिए काम आता है। हमें उक्त समूचे वंश के लिए भी आर्य शब्द का प्रयोग करना वैसा अशास्त्रीय नहीं दीखता, क्योंकि यद्यपि यह ठीक है कि केवल आर्यावर्त्त और ईरान के लोग अपने को स्पष्ट रूप से आर्य कहते थे, तो भी सुदूर आयर्लैंड या 'ईरन' में भी वह शब्द ('aire') था, चाहे उसका अर्थ वहां सरदार या राजा का था। दूसरी तरफ़, केवल आर्यावर्त्त और ईरान के लोगों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग करना इन

१. हैक प्राचीन पारसी अभिलेखों का शब्द है, और शायद आर्मीनियन लोगों का अपना शब्द वही है।

२. आधुनिक अंग्रेज़ी रूप Hittite.

३. आधुनिक अंग्रेज़ी रूप Thraco-Phrygian.

दोनों देशों की प्राचीन परिपाटी के अनुकूल है। उस दशा में उस बड़े वंश के लिए अनेक नाम गढ़े गये हैं, और उन में से मुख्य हैं हिन्द-यूरुपी तथा हिन्द-जर्मन। हिन्द-यूरुपी शब्द हमें निकम्मा लगता है, क्योंकि उसमें आर्य वंश के तीन मुख्य घरों, अर्थात् भारत ईरान और युरोप, में से दो का नाम आता है और तीसरे का रह जाता है। हिन्द-जर्मन शब्द का जर्मनी में बहुत प्रयोग होता है, और उसमें यह गुण है कि वह आर्य वंश की उन दो शाखाओं के नाम से बना है जो पूरब और पच्छिम के अन्तिम किनारों पर रहती हैं तथा जिनमें से एक इतिहास में उस वंश की सब से प्राचीन और दूसरी सब से नवीन जाति है। वह पाणिनीय व्याकरण के प्रत्याहारों के नमूने पर गढ़ा गया है। आगे हम हिन्द-जर्मन शब्द का प्रयोग करेंगे, और यदि आर्य शब्द को इस अर्थ में बर्त्तेंगे तो वंश शब्द उसके साथ लगा कर ही। जहां अकेला आर्य शब्द आयगा, वहां उस से आर्य स्कन्ध ही समझना होगा।

हिन्द-जर्मन परिवार के सब लोग किसी बचपन के जमाने में एक साथ रहते थे, सो लगभग निश्चित है। वह मूल घर कहाँ था, इस विषय पर बेहिसाब विवेचना हुई है, किन्तु अभी तक उसका अन्त नहीं हुआ, और न बहुत काल तक हो सकेगा। हमारे विषय से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। उस वंश की विभिन्न शाखाओं के अलग हो जाने के बाद भी आर्य स्कन्ध की शाखायें बहुत समय तक एक जगह रहीं, सो भी निश्चित है। वह जगह कहाँ थी इस पर भी बेहद विवाद है जिसे हम यहाँ नहीं छेड़ सकते। इस प्रश्न पर कोई सम्मति आर्यों के समूचे इतिहास के अध्ययन के बाद ही बनाना चाहिए, न कि पहले से एक सम्मति रख कर इतिहास पढ़ने बैठना। इसलिए यहां हमें केवल उन्हीं परिणामों को कहने का वास्तविक अधिकार है जो

इतिहास का अध्ययन करने से पहले भारतवर्ष की भाषा और नस्ल-विषयक विद्यमान स्थिति की छानबीन से ही निकल आते हैं।

आधुनिक निरुक्तिशास्त्रियों ने इस विषय में जो सिद्धान्त निश्चित किये हैं, वे ये हैं। हिन्द-जर्मन वंश का एक बड़ा स्कन्ध है आर्य। उस स्कन्ध की तीन शाखायें प्रतीत होती हैं— आर्यावर्त्ती, ईरानी और दरदी या दरद-जातीय।

§ २६. दरदी शाखा

दरदी शाखा की भाषायें अब कपिश-कश्मीर भर में बची हैं, किन्तु पहले उत्तरपूरबी अफ़गानस्थान में और अधिक फैली हुई थीं, और काबुल नदी के दक्खिन भी थीं जहाँ अब उनकी एक आध बोली वज़ीरिस्तान में बची है। उसके अतिरिक्त हिन्दकी और सिन्धी पर दरद-जातीय भाषा का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। पंजाबी पर वह प्रभाव अपेक्षया कम है, और राजस्थान के मालवा प्रदेश की भीली बोलियों में भी थोड़ा बहुत झलकता है। कश्मीरी भाषा यद्यपि दरदजातीय है, तो भी उस में आर्यावर्त्ती रंगत कुछ हद तक आ गई है।

आधुनिक दरदजातीय भाषाओं के तीन वर्ग हैं—(१) कपिश या काफ़िर वर्ग, (२) खोवार वर्ग, और (३) दरद वर्ग। कपिश वर्ग में कपिश या काफ़िरिस्तान की, और खोवार वर्ग में चितराल की बोलियाँ सम्मिलित हैं। ख़ास दरद-वर्ग में शिना, कश्मीरी और कोहिस्तानी (मैंयाँ) तीन बोलियाँ हैं, जिन में से शिना आधुनिक दरदों की ठेठ बोली है। कश्मीरी समूची शाखा में सब से मुख्य और एकमात्र परिष्कृत भाषा है।

ठेठ दरद प्रदेश में हुंज़ा और नगर नाम की बस्तियों में, अर्थात् गिल्गित नदी की उत्तरपूरबी धारा हुंज़ा की घाटियों में, बुरुशास्की नाम की एक बोली है। वह भाषाविज्ञानियों के लिए

एक पहेली है, क्योंकि संसार भर के किसी वंश से भी उस बोली का सम्बन्ध अभी तक दीख नहीं पड़ता। उसके बोलने वालों के पूर्वज शायद दरद प्रदेश के सब से पुराने निवासी थे।

दरदी भाषाओं में से कपिश और खोवार वर्ग की बोलियां बोलने वालों का अन्दाज़ नहीं किया गया, बाकी दरद वर्ग की भाषायें बोलने वाले सन् १९२१ में लगभग १३ लाख थे।

डा० सर ज्योर्ज ग्रियर्सन का कहना है कि प्राचीन भारतीय पण्डित जिसे पैशाची प्राकृत कहते थे, और जिस में गुणाढ्य ने बृहत्कथा नामक ग्रन्थ लिखा था, वह आधुनिक दरदी की पूर्वज भाषा थी। किन्तु डा० स्टेन कोनौ इस मत को स्वीकार नहीं करते[1]। उनका कहना है कि पैशाची उज्जैन के पास की एक बोली थी।

§ ३७. ईरानी शाखा

ईरानी शाखा में दो वर्ग हैं—पारसीक और मदी। पारसीक का पुराना रूप पारसी थी जिसका नमूना दारयवहु (पाँचवीं

---

१. ग्रियर्सन—दि पिशाच लैंग्वेजेज़ औफ़ नौर्थवेस्ट इंडिया (उत्तर-पच्छिम भारत की पिशाच भाषायें), एशियाटिक सोसाइटी के मौनोग्राफ़ (निबन्ध), जि० ८, लंडन १९०६; भा० भा० प०, जि० 1, 1, अ० 10, तथा जि० ८, २ की भूमिका; तथा जर्मन प्राच्य परिषद की पत्रिका, जि० ६६, पृ० ४९ आदि। कोनौ—दि होम औफ़ पैशाची (पैशाची का अभिजन), ज़ाइटशिफ़्ट डर डयूशन मौर्गनलांडिशन गेस्सलशाफ़्ट (जर्मन प्राच्य परिषद की पत्रिका), जि० ६४, पृ० ९५-११८। कोनौ इस मत में हार्नली के अनुयायी हैं, और ग्रियर्सन पिशल के। पिशल का मत उनके 'ग्रामटिक डर प्राकृत स्प्राशन' ('प्राकृत भाषाओं का व्याकरण') नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में, तथा हार्नली का उनके ग्रन्थ 'कम्पैरेटिव् ग्रामर औफ़ दि गौडियन लैंग्वेजेज़ विद स्पेशल रिफरेंस् टु ईस्टर्न हिन्दी' ('गौड भाषाओं विशेषतः पूरवी हिन्दी का तुलनापरक व्याकरण') नामक ग्रन्थ में मिलेगा।

शताब्दी ई० पू०) के अभिलेखों में पाया जाता है। उसी का मध्यकालीन रूप सासानी राजाओं (तीसरी-छठी शताब्दी ई०) के समय की पहलवी थी, तथा आधुनिक रूप विद्यमान फ़ारसी है। मदी प्राचीन मद या मन्द (Media) प्रदेश की तथा ईरान के पूरबी आँचल के प्रदेशों की भाषा थी। पारसी धर्म का पवित्र ग्रन्थ अवस्ता उसी भाषा में है । उसके मध्यकालीन रूप का कोई नमूना नहीं मिलता । उसकी आधुनिक प्रतिनिधि कुर्दिस्तान की बोलियाँ तथा अफ़गानस्थान की पश्तो ग़ल्चा आदि हैं।

भारतवर्ष के क्षेत्र में मदी वर्ग की मुख्यतः पश्तो और ग़ल्चा भाषायें ही आती हैं। पश्तो के विषय में बहुत देर तक यह विवाद रहा कि वह आर्यावर्त्ती भाषा है या मदी । सन् १८९० ई० तक आधुनिक नैरुक्तों का रुझान उसे आर्यावर्त्ती मानने का था, किन्तु उसके बाद से अब उसे निश्चित रूप से मदी माना जाता है। एक ग़ल्चा बोली युइद्ग़ा चितराल के सामने दोरा जोत द्वारा हिन्दूकुश के दक्खिन भी उतर आई है, और चितराल और दोरा के बीच लुदखो घाटी में बोली जाती है । उसकी रंगत चितराल की दरद-जातीय खोवार बोली में भी कुछ पड़ गई है । पश्तो बोलने वालों की संख्या अन्दाज़न ४० लाख है। अफगानस्थान के पार्सीवानों और ग़ल्चा-भाषियों की ठीक संख्या नहीं मिल सकती, पर वह अन्दाज़न १०-१२ लाख होगी।

उनके अतिरिक्त अफगानस्थान में शायद कुछ तुर्की बोलने वाले भी हैं। तुर्क और हूण तातारी जातियां हैं जो आर्य जाति से एकदम भिन्न हैं। अफगानस्थान और भारतवर्ष पर उनके बहुत आक्रमण हुए हैं, पर यहां जो तुर्क-हूण आये, उनके वंशजों में से अफ़गानस्थान के उक्त कुछ तुर्की-भाषियों को छोड़ सब आर्य भाषायें अपना चुके हैं ।

§ ३८. आर्यावर्त्ती शाखा

आर्यावर्त्ती शाखा बहुत फैली हुई है। आजकल के निरुक्तिशास्त्री उसे तीन उपशाखाओं में बाँटते हैं—भीतरी, बिचली और बाहरी। भीतरी उपशाखा के दो वर्ग हैं—केन्द्र वर्ग और पहाड़ी वर्ग। केन्द्रवर्ग का केन्द्र वही पछाँहीं हिन्दी है जिसका महत्त्व हम पिछले प्रकरण में दिखला चुके हैं। पछाँहीं हिन्दी में, जैसा कि कह चुके हैं, पाँच बोलियाँ हैं—कनौजी, बुन्देली, ब्रजभाखा, खड़ी बोली और बांगरू। इन सबका भी केन्द्र ब्रजभाखा है। और खड़ी बोली, जिस के आधार पर कि राष्ट्रभाषा हिन्दी बनी है, पछाँहीं हिन्दी का पंजाबी में ढलता हुआ रूप है। प्राचीन वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत तथा शौरसेनी प्राकृत भी पछाँहीं हिन्दी-क्षेत्र की बोलियां थीं।

हमने तमाम हिन्दी-क्षेत्र को मध्यमण्डल कह कर उसके चारों तरफ़ भारतवर्ष के प्रान्तो का बँटवारा किया है। वह बँटवारा भौगोलिक और व्यावहारिक दृष्टि से है। निरुक्ति-शास्त्रीय बँटवारा उससे कुछ बदलता है। उसके अनुसार केन्द्र-वर्ग में पछाँहीं हिन्दी के अतिरिक्त पंजाबी, राजस्थानी और गुजराती ये तीन मुख्य भाषायें आती हैं। पंजाबी केवल पूरब पंजाब की। राजस्थानी और गुजराती के बीच भीली बोलियां हैं, उन्हीं का एक रूप खानदेशी भी है; खानदेश असल में मालवा का अंग है, अब महाराष्ट्र में आ जाने से उसमें पढ़ने लिखने की भाषा मराठी हो गई है। भीली और खानदेशी भी केन्द्रवर्ग में हैं। राजस्थानी और गुजराती चार पांच सौ बरस पहले एक ही भाषा थीं। मारवाड़ और गुजरात के इतिहास में भी परस्पर बड़ा सम्बन्ध रहा है।

उत्तरपूरबी राजस्थान में दिल्ली के ठीक दक्खिन-पच्छिम आधुनिक अलवर रियासत में मेव लोग रहते हैं, जिनके कारण

वह प्रदेश मेवात कहलाता है। मेवाती राजस्थानी की एक बोली है। उसका एक रूप गूजरी है, जो राजस्थान के बाहर भी बहुत दूर दूर तक जहाँ जहाँ गूजरों की बस्तियाँ हैं बोली जाती है। इन बस्तियों का सिलसिला मेवात से उत्तर तरफ़ जमना के दोनों ओर हिमालय के चरणों तक चला गया है, और वहाँ से हिमालय की उपत्यका के अन्दर अन्दर स्वात नदी तक जा पहुँचा है। सभी जगह फिरन्दर गूजर लोग अपनी गूजरी बोली, जो मेवाती और जमना-कांठे की खड़ी बोली का मिश्रण है, बोलते हैं। स्वात और कश्मीर के पहाड़ों में उनमें से जो गाय-भैंस चराते वे गूजर और जो भेड़-बकरी चराते वे अजिड़[1] कहलाते हैं। भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास में गूजर या गुर्जर एक प्रसिद्ध जाति रही है। वे कौन थे, कहाँ से आये, इन प्रश्नों पर बड़ा विवाद है। किन्तु वर्त्तमान भाषाविषयक स्थिति से केवल इतना निश्चित होता है कि किसी समय वे पूर्वी राजस्थान से उत्तरपच्छिम तरफ़ ज़रूर फैले हैं।

राजस्थानी का सम्बन्ध समूचे पहाड़ी वर्ग से भी है। पहाड़ी वर्ग में पूरवी पहाड़ी अर्थात् नेपाल की पर्बतिया (गोरखाली) या खसकुरा बोली, मध्य पहाड़ी अर्थात् कुमाँउनी और गढ़वाली तथा पच्छिम पहाड़ी अर्थात् जौनसार से चम्बा तक की बोलियाँ सम्मिलित हैं। ये सभी राजस्थानी से विशेष मिलती हैं। इनमें दरद रंगत भी है, अर्थात् कश्मीर का प्रभाव पूरव तरफ़ नेपाल तक पहुँचा है। इन पहाड़ों की जनता में खस जाति का एक बड़ा अंश है। और ये खस, खख या खसिया लोग दरद शाखा के हैं। पहाड़ी बोलियों की दरद रंगत का मूल कारण यही है।

भीतरी उपशाखा के पूरब, दक्खिन और उत्तरपच्छिम बाहरी उपशाखा की भाषायें हैं। पच्छिम तरफ़ उसे घेरने वाली कोई

---

१. हिन्दकी में आजड़ी।

भाषा नहीं, उधर गुजरात द्वारा भीतरी उपशाखा समुद्र तक जा पहुँची है। गुजरात और सिंध भूगोल की दृष्टि से पच्छिम खण्ड में हैं; परन्तु भाषा की दृष्टि से गुजरात केन्द्र वर्ग में और सिन्ध उत्तरपच्छिम वर्ग में है।

पूरब तरफ़ भीतरी और बाहरी उपशाखा के बीच एक बिचली या मध्यवर्त्ती उपशाखा है। उसमें एक ही वर्ग और एक ही भाषा है—पूरबी हिंदी, जिसमें अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियां हैं। अवधी और बघेली वास्तव में एक ही बोली है, केवल स्थानभेद से उसके दो नाम हो गये हैं। प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत जिसमें जैनों का सब पवित्र वाङ्मय है इसी बिचली भाषा की पूर्वज थी।

बाहरी उपशाखा के तीन वर्ग हैं—पूरबी, दक्खिनी और उत्तरपच्छिमी। पूरबी वर्ग की भाषायें बिहारी, उड़िया, बंगला और आसमिया हैं जो सब मागधी प्राकृत की वंशज हैं। दक्खिनी वर्ग में मराठी और सिंहली हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में प्राचीन महाराष्ट्र की बोली थी। उत्तरपच्छिमी वर्ग में सिन्धी और हिन्दकी बोलियाँ हैं। उनका पूर्वज व्राचड अपभ्रंश था जिसके मूल प्राकृत का नाम अब मालूम नहीं है।

तमाम आर्यावर्त्ती भाषायें बोलने वालों की संख्या सन् १९२१ में अन्दाज़न २३ करोड़ ४५ लाख[१] थी। यदि उसमें हम दरदी और मदी-भाषियों का पूर्वोक्त अन्दाज़ मिला दें तो तमाम आर्य भाषियों की २४$\frac{३}{४}$ करोड़ के कुछ ऊपर या नीचे।

१. ब्रिटिश और रियासती 'भारतवर्ष' में २२, ९५, ६०, ५५५ तथा सिंहल के सिंहली-भाषी ३०, १६, १५६। नेपाल के गोरखाली-भाषियों की संख्या भारतवर्ष की संख्या में नहीं है; उनका पौने बीस लाख अन्दाज़ करने से उक्त जोड़ बना है। नेपाल की कुल आबादी ५२ लाख कूती जाती है।

§ ३९. आर्य नस्ल का मूल अभिजन और भारत में आने का रास्ता

आर्य लोगों का आदिम घर, जहाँ आधुनिक आर्यावर्त्ती, दरदी, मदी और पारसीक भाषायें बोलने वालों के पूर्वज इकट्ठे रहते थे, कहाँ था ? उस घर में वे कब तक और किस दशा में साथ रहे ? फिर कैसे अलग हुए ? और किन दशाओं में, कैसे तथा किन रास्तों से अपने विद्यमान घरों में पहुँचे ? विशेष कर आर्यावर्त्त की सब से शुद्ध और केन्द्रिक भाषा उत्तर भारतीय मैदान के मध्य में कैसे आ पहुँची ? इन प्रश्नों का उत्तर मिलने से इन जातियों का परस्पर सम्बन्ध समझने में हमें सहायता मिलेगी, इस में सन्देह नहीं । किन्तु वह विवाद यहाँ छेड़ा नहीं जा सकता। मैं यहाँ केवल उस मत का निर्देश भर किये देता हूँ जिसे मैंने अपने ग्रन्थ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में अपनाया है; वह मत एक अंश के मुख्य भेद के सिवाय तथा एक गौण अंश के अलावा स्व० जस्टिस पार्जीटर का है । वह यह है कि ईसवी सन् से लगभग ३००० (पार्जीटर के अनुसार २२००)[1] बरस पहले आर्य लोगों ने इलावृत अर्थात् मध्य हिमालय या कनौर-जौनसार-गढ़वाल-कुमाऊँ के रास्ते भारतवर्ष के अन्तर्वेद में प्रवेश किया । शायद उसी समय उनकी एक शाखा या तो मध्य हिमालय से पच्छिम तरफ़ पहाड़ों-पहाड़, अथवा पामीर से सीधे दक्खिन, कपिश-कश्मीर की ओर चली गई—वही दरद और खस लोगों के पूर्वज थे (दरदों विषयक अंश पार्जीटर का नहीं है) । जो आर्य अन्तर्वेद में आये वे अपने को ऐल कहते थे । उन से पहले भी भारतवर्ष में मान्व वंश के आर्य (यही मुख्य मतभेद है) आ चुके थे । ऐल आर्य जल्द चारों तरफ़ बढ़ने लगे, और आधुनिक आर्यावर्त्त के तमाम प्रदेशों में

---

1. प्रा० भ०, पृ० १८२-१८३ ।

फैल गये। अन्तर्वेद में उनके पैर जमाने के लगभग २५ पुश्त बा उनकी एक शाखा गन्धार देश अर्थात् उत्तरपच्छिमी पंजाब से पच्छिम और उत्तर तरफ़ हिन्दूकुश और उसके पार के प्रदेशों में चली गई। उनमें से जो नजदीक रह गये वे आधुनिक अफ़गा आदि जातियों के पूर्वज थे, जो और दूर चले गये वे फ़ारिस तथा पच्छिम एशिया के पुराने आर्य थे।

इस वाद के सम्बन्ध में यहाँ केवल इस बात पर ध्यान दिलाया जा सकता है कि आर्यावर्त्त की शुद्धतम और केन्द्रि भाषा उत्तरपच्छिम न रह कर अन्तर्वेद में कैसे चली आई, औ मिश्रित भाषायें उस के चारों तरफ़ कैसे फैल गईं, दूसरा कोई वा इस प्रश्न का ऐसा सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता जैसा कि यह। उत्तरपच्छिम से आर्यों का भारत में प्रवेश मानने वालों के इस सम्बन्ध में बड़ी विचित्र और पेचीदा कल्पनाओं की शरण लेनी पड़ती है।

नौवां प्रकरण

भारतवर्ष की गौण भाषायें और नस्लें

§४०. मुण्ड (शाबर) और किरात (तिब्बतबर्मी)

ऊपर की विवेचना से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भूटान और आसामोत्तर प्रदेश को छोड़ कर भारतवर्ष के तमाम प्रान्तों में या तो कोई आर्य भाषा चलती है या द्राविड भाषा। दक्खिन के साढ़े चार प्रान्तों अर्थात् आन्ध्र, कर्णाटक केरल, तामिलनाड और आधे सिंहल में सभ्य द्राविड भाषायें हैं, बाकी समूचे भारत में आर्य भाषायें। आन्ध्र, उड़ीसा, बिहार, चेदिकोशल, राजस्थान और महाराष्ट्र के सीमान्तों के वन्य प्रदेशों में तथा सिन्ध की सीमा पार कलात में कुछ अपरिष्कृत द्राविड बोलियां भी हैं। किन्तु वे अपरिष्कृत द्राविड बोलियां ही उन मुख्य सभ्य भाषाओं का एकमात्र अपवाद नहीं हैं। विन्ध्यमेखला के पूर्वोक्त वन्य प्रदेशों तथा उनके पड़ोस में, हिमालय के उत्तरी छोर पर तथा आसाम के सीमान्त पर कुछ और गौण बोलियां भी बोली जाती हैं जिनके बोलने वालों में से बहुतों का अभी तक सभ्यता से विशेष सम्पर्क नहीं हुआ है। उनकी कुल संख्या एक करोड़ के अन्दर अन्दर है, और उन में से करीब ४२ लाख आग्नेय बंश के हैं, तथा बाकी तिब्बतबर्मी या किरात परिवार के। आग्नेय वंश की मुख्यतः मुण्ड या शाबर शाखा ही भारतवर्ष में है, और वह भी सब मुख्यतः झाड़खण्ड में, जहां अब द्राविड ओरॉंव लोग भी जा पहुँचे हैं। तिब्बतबर्मी या किरात वंश केवल हिमालय

के उपरले हाशिये में तथा मुख्यतः उत्तरपूरबी और पूरबी सीमा पर है। इन दोनों वंशों की हम अलग अलग विवेचना करेंगे।

§ ४१. आग्नेय वंश और उसकी मुंड या शाबर शाखा

जनविज्ञान के आचार्य द्राविड और मुण्ड नस्लों के रंगरूप की बनावट में कोई भेद नहीं कर पाते, किन्तु भाषाविज्ञानि (निरुक्तिशास्त्रियों) का कहना है कि द्राविडों और मुण्डों की भाषायें एक दूसरे से एकदम अलग और स्वतंत्र हैं।

मुण्ड या शाबर जाति जिस बड़े वंश की शाखा है, नैरु ने उसका नाम आग्नेय (Austric) इसलिए रक्खा है क्योंकि वह आग्नेय (दक्खिनपूरब) कोण में पाया जाता है मदागास्कर और विन्ध्यमेखला से शुरू कर प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक आज आग्नेय वंश फैला हुआ है, और उसकी भाषा के प्रभाव के चिन्ह हिमालय में सतलज-तट के कनौर प्रदेश तक पाये गये हैं। उस वंश के दो बड़े स्कन्ध हैं—आग्नेय-देशी (Austro-Asiatic) तथा आग्नेय-द्वीपी (Austronesian)। आग्नेयद्वीपी स्कन्ध की फिर तीन शाखायें हैं—सुवर्णद्वीपी या मलायुद्वीपी (Indonesian), पपूवा-द्वीपी (Melanesian) तथा सागरद्वीपी (Polynesian)।

सुमात्रा जावा आदि द्वीपपुञ्ज के आजकल युरोपी भाषाओं में कई[1] नाम हैं, जिन में से एक 'मलय' द्वीपावली भी है। वह नाम वहां की मुख्य जाति 'मलय' के नाम से पड़ा है। उसी जाति के कारण उस द्वीपावली के उत्तर तरफ़ का प्रायद्वीप भी 'मलय' प्रायद्वीप कहलाता है। भारतवर्ष में मलय शब्द तामिलनाड के एक विशेष पर्वत का नाम है, और

१. मलय आर्किपेलगो, मलैसिया, इंडियन आर्किपेलगो, ईस्ट इंडीज़, इंडोनीसिया, इंसुलिंड (जर्मन शब्द)।

इसका मूल तामिल मलै शब्द है। 'मलय' प्रायद्वीप और द्वीपावली के 'मलय' लोग अपने देश को 'ताना मलायु:' और अपनी जाति को 'ओरांग मलायु:' कहते हैं, अंग्रेजी 'मलय' उसी 'मलायु' का रूपान्तर है। हम ताना मलायु को 'मलायु द्वीप' कहना पसन्द करते हैं, क्योंकि एक तो वह शब्द का ठीक रूप है, दूसरे मलय शब्द के प्रयोग से हमारे देश में भ्रम हो सकता है। प्राचीन भारत में उसके मुख्य अंशों को सुवर्णद्वीप और यवद्वीप भी कहते थे—यवद्वीप में न केवल जावा प्रत्युत सुमात्रा भी शामिल होता था। मलायु द्वीपों में ओरांग मलायु के अतिरिक्त उनसे मिलती जुलती और जातियां भी हैं, और उन सब को मिला कर हम मलायुद्वीपी या सुवर्णद्वीपी कहते हैं। वहां के थोड़े से मूल निवासी, जैसे सुमात्रा के बतक, बोर्नियो के मुरुत, मलायु-प्रायद्वीप के सेमांग, उन से भिन्न हैं। भारतवर्ष में केवल सिंहल में १३ हज़ार मलायु रहते हैं।

मलायु लोग अपने से पूरबी द्वीपों के निवासियों को "पुवा: पुवा:" या "पपूवा:" कहते हैं, जिसका अर्थ है गुच्छेदार केशों वाले। उन लोगों के केश नीग्रो लोगों की तरह ऊन के से गुच्छेदार और रंग एकदम काला होता है, जिस कारण युरोपी लोग उनके द्वीपों को 'मेलानीसिया' अर्थात् कालद्वीप कहते हैं, जिन में न्यू गिनी भी सम्मिलित है। हम उन्हें पपूवा द्वीप कह सकते हैं। प्रशान्त सागर की द्वीपावली पपूवा के पूरब है।

आग्नेयदेशी स्कन्ध में पूरबी भारत तथा हिन्दचीनी प्रायद्वीप के प्राचीन मुख्य निवासी सम्मिलित हैं, जिन की भाषायें अब उन देशों के विशेष विशेष अंशों में बची हैं। उस स्कन्ध की दो बड़ी शाखायें हैं—एक मोन-ख्मेर, दूसरी मुंड या शाबर। मोन-ख्मेर के चार वर्ग हैं—(१) मोन-ख्मेर, (२) पलौंग-वा, (३) खासी, और (४) निकोबारी। इन में से मोन-ख्मेर मुख्य हैं। मोन या तलैंग

एक संजी हुई वाङ्मय-सम्पन्न भाषा है जो अब बर्मा के तट प पगू थतोन और एम्हर्स्ट ज़िलों में पाई जाती है। ख कम्बुज देश के मुख्य निवासी ख्मेर लोगों की भाषा है। उसमें अच्छा वाङ्मय है। मोन और ख्मेर लोग एक ही जाति के हैं पलौंग और वा उत्तर बर्मा की जंगली बोलियां हैं। निकोबारी निकोबार द्वीप की बोली है जो मोन और मुण्ड बोलियों के बीच कड़ी है। खासी बोलियां भी उसी शाखा की हैं और वे आसाम के खासी-जयन्तिया पहाड़ों में बोली जाती हैं। भारतवर्ष के क्षेत्र में मोन-ख्मेर शाखा की केवल खासी बोलियां, और यदि निकोबार को भारत में गिनना हो तो निकोबारी है। खासी बोलियां बोलने वाले कुल २ लाख ४ हज़ार, और निकोबारी ८½ हज़ार पिछली गणना में थे। निकोबार के उत्तर अन्दमान द्वीप हैं, जहां के लोग अभी तक बहुत ही असभ्य दशा में हैं, और जिनकी बोली भी एक पहेली है। बुरुशास्की की तरह उसका भी संसार के किसी वंश से सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता।

मुण्ड या शाबर शाखा की बोलियां विन्ध्यमेखला या उसके पड़ोस में विद्यमान हैं। उनमें से मुख्य बिहार में छोटा नागपुर तथा सन्थाल-परगने (विन्ध्यमेखला के पूरबी छोर) की खेरवारी बोली है, जिसके सन्ताली, मुण्डारी, हो, भूमिज, कोरवा आदि रूप हैं। खेरवारी के कुल बोलने वाले ३५ लाख हैं, जिनमें सन्ताली के २२·३ लाख मुंडारी के ६¼ लाख, और हो के ३·८ लाख हैं। ध्यान रहे कि खास सन्थाल-परगना में सन्थाल लोग छोटा नागपुर से १८ वीं शताब्दी ई० में ही आये हैं। मुण्डारी बोलने वाले मुण्डा लोग ओरॉंव लोगों के साथ एक ही प्रदेश में मिले जुले रहते हैं। कूरकू नाम की एक दूसरी बोली जिसके बोलने वाले कुल १·२ लाख हैं विन्ध्यमेखला के पच्छिमी छोर पर मालवा (राजस्थान) और चेदिकोशल की सीमाओं पर पचमढ़ी

के पच्छिम बेतूल ज़िले में तथा मेवाड़ में बोली जाती है। अन्य सब मुण्ड बोलियाँ खेरवारी के पड़ोस या दक्खिन में हैं। खड़िया (१·३ लाख) रांची में और जुआंग (१० हज़ार) उड़ीसा की केंदूझर और ढेंकानाल रियासतों में हैं; दोनों मरने के करीब हैं और आर्य भाषाओं में लुप्त हो रही हैं। जुआंग या पतुआ लोग मुण्ड लोगों में भी सब से असभ्य दशा में हैं। उनकी स्त्रियाँ अभी तक बदन के आगे पीछे पत्तों के दो गुच्छे बांध कर नंगी जंगलों में फिरती हैं। शबर (१·७ लाख) और गदबा (३३ हज़ार) नाम की जातियाँ और बोलियां उड़ीसा और आन्ध्र की सीमा पर हैं।

मुण्ड नाम हमारे संस्कृत वाङ्मय में पुराना चला आता है[1], और आज तक हम मुण्डारी बोलने वाले मुण्डा लोगों को अपने लिए वही नाम बर्त्ता हुआ पाते हैं। मैक्स मुइलर ने आजकल के नैरुक्तों की शब्दावली में उसी मुण्ड शब्द को 'मुण्डा' रूप में समूची शाखा के नाम के अर्थ में फिर से चला दिया है। हिन्दी में हम उसका मूल संस्कृत रूप 'मुण्ड' ही रक्खेंगे, 'मुण्डा' कहने की ज़रूरत नहीं। किन्तु शबर शब्द उस से कहीं अधिक प्राचीन[2] और भारतवर्ष में बहुत अधिक सुपरिचित है। वह भी मुण्ड शब्द की तरह आज तक चला आता है। ऐसा सन्देह करने के कारण हैं कि प्राचीन भारत में भी वह न केवल खास शबरों के प्रत्युत उन से मिलती जुलती अनेक जातियों के सामान्य नाम के रूप में भी बर्ता जाता था[3]। इसी कारण हम आधुनिक भारतीय भाषाओं में इस समूची वंश-शाखा के जातिवाचक नाम के रूप में बर्तने के

१. वायुपु. १, ४५, १२३; महाभारत ६, ५६, ६। महाभारत के सब प्रतीक कुम्भकोणम्-संस्करण के अनुसार हैं।

२. ऐतरेय ब्राह्मण ७, १८।

३. रघु. दि. है. परिशिष्ट १ (४)।

लिए 'शबर' के तद्धित 'शाबर' को अधिक सुबोध और स्पष्टार्थक पाते हैं। उत्तर भारत के ग्रामीण लोग इन जातियों को कोल कह कर भी याद करते हैं। कुछ लेखक उन्हें 'कोलरी' (अंग्रेज़ी-कोलरियन) भी लिखने लगे थे, जो कि एक निरर्थक भ्रान्त और लगव शब्द है।

मुण्ड या शाबर बोलियां बोलने वालों की कुल संख्या सन् १९२१ में ३६·७३ लाख थी; उनमें खासी, सिंहल के मलायुओं और निकोबारियों की संख्या जोड़ देने से कुल आग्नेय-भाषियों की संख्या ४२ लाख होती है।

यह एक बड़े मारके की बात है कि पूर्वी नेपाल की तथा चम्बा से अलमोड़ा तक की कुछ पहाड़ी बोलियों में, जिनका हम अभी उल्लेख करेंगे, मुण्ड या शाबर भाषाओं का तलछट स्पष्ट और निश्चित रूप से पकड़ा गया है। उन बोलियों में से सब से अधिक उल्लेख-योग्य कनौर की कनौरी या कनावरी है। आर्य और द्राविड भाषाओं पर भी शाबर प्रभाव हुआ है, विशेष कर बिहारी हिन्दी और तेलुगु में उसकी झलक प्रतीत होती है।

आग्नेय जातियों की स्थिति आज भारतवर्ष में और हिन्द-चीनी प्रायद्वीप में भी भले ही गौण हो, भारतवर्ष के पिछले इतिहास में उनका बड़ा स्थान है। समूची सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीपों में पहले वे ही फैले हुए थे, बरमी, स्यामी और आनामी लोगों के पूर्वज उस समय और उत्तर के पहाड़ों में रहते थे। इन्हीं आग्नेय जातियों में भारतवासियों ने अपने उपनिवेश स्थापित कर और अपनी सभ्यता और संस्कृति की कलम लगा कर उनके देश को दूसरा भारतवर्ष बना दिया था। उनकी सभ्यता, उनकी भाषा और उनके वाङ्मय पर भारतवर्ष की वह छाप आज तक लगी है।

§ ४२. चीन-किरात या तिब्बत-चीनी वंश

हिमालय के उत्तरी हाशिये और पूर्वी छोर में तथा उसके

साथ लगे हुए भारतवर्ष के उत्तरपूर्वी सीमान्त प्रदेश में अनेक छोटे छोटे गिरोहों और जातियों की बोलियां सुनाई पड़ती हैं, और वे सब एक और बड़े वंश की हैं। उस वंश, अथवा ठीक ठीक कहें तो वंशस्कन्ध, की शुद्ध नस्ल आजकल तिब्बत और बर्मा में मौजूद है।

तिब्बत शब्द न जाने कहां का है, स्वयं तिब्बती अपने देश को पोतयुल कहते हैं। वे लिखते 'पोत' पर बोलते 'बोद' हैं; युल माने देश। संस्कृत 'भौट्ट', कश्मीरी 'बुट्टुन', गढ़वाल कुमाऊँ और नेपाल का 'भोट' तथा पूर्वी हिमालय का 'भूटान' सब 'पोत' या 'बोद' के रूपान्तर हैं। लेकिन भारतवर्ष के पहाड़ी अपने सीमान्त के केवल उन लोगों को भोटिया कहते हैं जिनमें भारतीय रुधिर का तिब्बती के साथ मिश्रण हो चुका है। उन लोगों का घर भारत बन चुका है, पर उनका तिब्बत से सम्बन्ध भी बना हुआ है। नमूने के लिए कुमाऊँ के भोटिये हर साल गर्मी में व्यापार के लिए गारतोक जाते हैं, लौट कर कुछ दिन अपनी बस्तियों—मीलम, दार्मा आदि—में ठहर कर अलमोड़ा उतर आते तथा सर्दियों में और भी नीचे चले आते हैं; फिर वसन्त में अपने गाँवों में लौट कर खेती काटते और दूसरे साल फिर तिब्बत को रवाना होते हैं। प्रायः उनमें से प्रत्येक का एक तिब्बती और एक भारतीय नाम होता है। अपनी भोटिया बोली के अतिरिक्त वे उससे मिलती जुलती असल तिब्बत की तिब्बती, कुमाऊँ की पहाड़ी, और कोई कोई तो हिन्दी भी बोल सकते हैं। भोटियों के उत्तर तरफ़ ङरी-खोर्सुम में जो असल तिब्बती रहते हैं, उन्हें हमारे देश के पहाड़ी भोटिया नहीं कहते। न जाने क्यों वे उन्हें 'हूणिया' कहते हैं। हम तिब्बत को भोट कहना पसन्द करते, पर हमारे पहाड़ियों के 'भोट' में अब असल तिब्बत नहीं आता, इसलिए उसे तिब्बत कहना ही ठीक होगा। 'बर्मा' का असल रूप 'म्यम्म' है।

तिब्बत और स्यम्म-देश (बर्मा) के लोग एक ही नस्ल के हैं और उसे जनविज्ञान और भाषाविज्ञान के विद्वान् तिब्बत-बर्मी कहते हैं। तिब्बत-बर्मी स्कन्ध एक विशाल वंश का आधा हिस्सा है, उस समूचे वंश का नाम है तिब्बत-चीनी। वह वंश आज समूचे चीन, तिब्बत और हिन्दचीनी प्रायद्वीप में छाया हुआ है; उसके दो ही बड़े स्कन्ध हैं, एक तिब्बत-बर्मी जो आज तिब्बत और बर्मा में है, तथा दूसरा स्याम-चीनी जो आज स्याम और चीन में है। उस समूचे वंश का मूल घर होआङ-हो और याङ्च्चे-क्याङ के काँठे हैं, वहीं से उसकी कई शाखायें पच्छिम और दक्खिन तरफ़ फैल गई हैं। हिन्दचीनी और तिब्बत में जो शाखायें आती रहीं वे सब पहले उक्त नदियों के निकास के प्रदेश से मेकोङ, साल्वीन और इरावती के उद्गम-प्रदेश में आईं। वहां मानो उनका एक अक्षय कुण्ड बना रहता, जिसमें जब बाढ़ आती तब वह या तो उन नदियों के प्रवाह के साथ दक्खिन अथवा चाङ्पो (ब्रह्मपुत्र) की घाटी के साथ पच्छिम बह जाती रही। उस कुण्ड के अर्थात् दिहोग घाटी के पड़ोस के प्रदेश—सुरमा-काँठा से आसाम तक—इस प्रकार उन बाढ़ों में प्रायः डूबते रहे, और चाङ्पो घाटी के दक्खिन और पच्छिम हिमालय के घाटों में से भी उन बाढ़ों का कुछ अंश टपकता रहा। इस प्रकार तिब्बत-बर्मी स्कन्ध से तो हमारे देश को वास्ता पड़ता ही रहा, किन्तु स्याम-चीनी स्कन्ध भी हिन्दचीनी में जाते समय क्योंकि हमारे पूरबी पड़ोस से गुज़रता रहा इस कारण उसकी भी थोड़ी बहुत बाढ़ एक आध बार भारतवर्ष में आ गई।

§ ४३. स्यामचीनी स्कन्ध

स्यामचीनी स्कन्ध के दो वर्ग हैं—चैनिक (Sinitic) और तई। चैनिक वर्ग चीन में है; स्यामी लोग अपने को थई या तई कहते हैं। उन्हीं का दूसरा नाम शाम या शान भी है। हिन्दचीनी

प्रायद्वीप में इस समय तई या शान नस्ल के लोग संख्या में सब से अधिक हैं तथा सब से अधिक प्रदेश घेरे हुए हैं; आसाम से ले कर चीन के काङ्-सी प्रान्त तक अब उनका क्षेत्र है। मूल स्रोत से निकल कर बहुत ज़माने तक वे श्वेली नदी (इरावती की पूरबी धारा) के काँठे में—उसी कुण्ड में—रुके रहे। वहां से उन्होंने बहुत अर्वाचीन काल में—१४ वीं शताब्दी ई० में—उतर कर मेनाम का काँठा दख़ल किया। करीब उसी समय—१२२८ ई० में—उनका एक गिरोह, अहोम-नामक, ब्रह्मपुत्र के काँठे में आया। उन्हीं के कारण वह काँठा आसाम तथा मेनाम का काँठा स्याम कहलाने लगा, बरमा के 'शान' के नाम में भी वही मूल शब्द है। अहोम लोग १७ वीं शताब्दी ई० में पूरी तरह हिन्दू हो गये, उनकी भाषा भी अब आसमिया है, उनके नाम हिन्दू हैं, केवल उपनामों—फूकन, बरुआ आदि—में पुराने वंश की स्मृति बची हुई है। उनके थोड़े से पुरोहित अब पुरानी अहोम बोली जानते हैं। अहोम बोली के अतिरिक्त आसाम के पूरबी छोर और बरमा के सीमान्त पर खामती नामक एक और बोली है, जिसके बोलने वालों में से अन्दाज़न ५००० आसाम की सीमा में पड़ते हैं। वह भी तई वर्ग की बोली है, और १८ वीं शताब्दी ई० में वहां पहुँची है।

सुवर्णभूमि के भारतीय उपनिवेशों के इतिहास के अन्तिम युग में स्यामचीनी स्कन्ध से विशेष वास्ता पड़ता है। इसलिए इस प्रसंग में यह भी याद रहे कि तई लोग बहुत अर्वाचीन काल में उस प्रायद्वीप में गये हैं, उससे पहले तेनासरीम के मोन और कम्बुज के ख्मेर लोगों के बीच कोई व्यवधान न था, समूचे हिन्द-चीनी में मोन-ख्मेर जाति ही थी, और चीन की कोई जाति वहां न होने के कारण तब तक वह प्रायद्वीप हिन्दचीनी भी नहीं कहलाता या कहला सकता था।

§ ४४. तिब्बतबर्मी या किरात स्कन्ध

तिब्बत-बर्मी स्कन्ध का भारतवर्ष से विशेष सम्बन्ध है।

उसकी तीन शाखायें अभी तक मालूम हुई हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) आसामोत्तरक, तथा (३) आसाम-बर्मी या लौहित्य। तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषायें और बोलियां तथा हिमालय के उत्तरी आँचल की कई छोटी छोटी भोटिया बोलियां गिनी जाती हैं। लौहित्य या आसामबर्मी शाखा के भी नाम से ही प्रकट है कि उस में बर्मा की मुख्य भाषा तथा आसाम-बर्मा-सीमान्त की कई छोटी छोटी बोलियां शामिल हैं। आसामोत्तरक शाखा दोनों के बीच आसामोत्तर पहाड़ों में है, उसकी कल्पना और नाम अभी आरज़ी है; यह निश्चित है कि उसकी बोलियाँ उक्त दो शाखाओं में नहीं समातीं, किन्तु वे सब मिल कर स्वयं एक शाखा हैं कि नहीं इसकी छानबीन अभी नहीं हुई; वह केवल एक भौगोलिक इकाई है।

तिब्बत-हिमालयी शाखा में फिर तीन वर्ग हैं—एक तो तिब्बती या भोटिया जिस में तिब्बत की मंजी-सँवरी वाङ्मय-सम्पन्न भाषा और बोलियां सम्मिलित हैं, और बाकी दो वर्ग हिमालय की उन बोलियों के हैं जिनकी बनावट में सुदूर तिब्बती नींव दीख पड़ती है।

सातवीं शताब्दी ई० में जब तिब्बत में भारतीय प्रचारक बौद्ध धर्म ले गये तब उन्हों ने वहां की भाषा को भी माँजा सँवारा और उसमें समूचे बौद्ध तिपिटक का अनुवाद किया। तिब्बती भाषा में अब अच्छा वाङ्मय है, और वह है सब भारत से गया हुआ। उस भाषा की कई गौण बोलियां भारत की सीमा पर भी बोली जाती हैं। उन्हें दो उपवर्गों में बाँटा जाता है—एक पच्छिमी जिसमें बाल्तिस्तान या बोलौर की बाल्ती और पुरिक बोलियां तथा लदाख की लदाखी बोली गिनी जाती है। समूचा बोलौर तथा लदाख का पच्छिमी अंश पहले दरद देश में सम्मिलित था, और वहां की भोटिया-भाषी जनता का बहुत सा अंश वास्तव में दरद है। बाल्ती-पुरिक और लदाखी के कुल मिला कर बोलने वाले

१ लाख ८१ हज़ार हैं, लेकिन लदाख के पूरवी अंश को हमने भारतीय सीमा के बाहर गिना है। दूसरा उपवर्ग पूरवी है जिसमें भूटान की बोली ल्होखा, सिकिम की दान्जोङ्का, नेपाल की शर्पा और कागते, तथा कुमाऊँ-गढ़वाल की भोटिया बोलियां हैं। इन प्रदेशों को हमने भारतीय सीमा में गिना है, पर नेपाल और भूटान की संख्यायें न मिलने से इनके बोलने वालों का ठीक अन्दाज़ नहीं हो सकता।

इन सब बोलियों को बोलने वाले अपना तिब्बत से सम्बन्ध जानते हैं, उन्हें वहां से आये बहुत ज़माना नहीं हुआ। किन्तु हिमालय की भोटांशक बोलियों के विषय में वह बात नहीं है। उनके बोलने वाले बहुत पुराने समय से, तिब्बत में तिब्बती भाषा परिपक्व होने के भी बहुत पहले से, अपने वंश से अलग होकर हिमालय में बसे हुए हैं। वे नहीं जानते कि उनका तिब्बत से कोई सम्बन्ध है भी, वह सम्बन्ध नये निरुक्तिशास्त्रियों ने खोज निकाला है। उनकी बोलियों में कई लक्षण ऐसे हैं जो स्पष्ट अतिब्बतबर्मी बल्कि अतिब्बतचीनी हैं। और ठीक उन्हीं लक्षणों में उनकी मुण्ड या शाबर भाषाओं से पूरी अनुरूपता है। इन हिमालयी बोलियों के दो वर्ग किये जाते हैं; एक वर्ग उनका जिनमें धातु के रूप-परिवर्तन का एकमात्र उपाय सर्वनामों को साथ जोड़ना है, जो कि मुण्ड भाषाओं का मुख्य चिह्न है, उन्हें सर्वनामाख्यातिक (Pronominalized) कहते हैं; दूसरा वर्ग असर्वनामाख्यातिक (Non-Pronominalized) का जिनमें वैसी बात नहीं होती। इन भारी-भरकम परिभाषाओं से बचने के लिए हम पहले वर्ग को किराँत-कनावरादि वर्ग और दूसरे को नेवारादि वर्ग कहेंगे।

पहले वर्ग के फिर दो उपवर्ग हैं—एक पूरबी या किराँत, दूसरा पच्छिमी या कनौर-दार्मा उपवर्ग। नेपाल का सबसे पूरबी

भाग सप्तकौशिकी प्रदेश किराँत (किरात) देश भी कहलाता है, वहां की बोलियाँ पूरबी उपवर्ग की हैं। पच्छिमी उपवर्ग में मुख्य कनौर की कनौरी या कनावरी बोली तथा उसके पड़ोस की कुल्लू, चम्बा और लाहुल की कनाशी, चम्बा-लाहुली, मन-चाटी आदि बोलियाँ एक तरफ़, और कुमाऊँ के भोट प्रदेश की दार्मिया और अन्य क्षुद्र बोलियां दूसरी तरफ़ हैं। कनावरी के बोलने वाले २२ हज़ार हैं, तथा समूचे पच्छिमी उपवर्ग के मिला कर अन्दाज़न ३० हज़ार होंगे।

नेवारादि वर्ग की बोलियां नेपाल सिकिम और भूटान की हैं। गोरखे लोग असल में मेवाड़ी राजपूत हैं, और मुसलमानी ज़माने में भाग कर हिमालय में बसे हैं। उनसे पहले के ठेठ नेपाल के निवासी नेवार लोग हैं, और शायद उन्हीं के नाम से नेपाल का नाम हुआ है। ठेठ नेपाल से पच्छिम प्रदेश के पहले निवासी मगर, गुरुंग आदि लोग हैं। सिकिम के निवासी रोंग हैं जिन्हें गोरखे लेपचा कह कर छेड़ते हैं। इन सब जातियों की छोटी छोटी बोलियां मिला कर असर्वनामाख्यातिक नेवारादि वर्ग बनता है। इनमें से एकमात्र नेवारी वाङ्मय-सम्पन्न भाषा है[1], नेपाल में बहुत पुराने समय से बौद्ध धर्म रहने के कारण उस पर आर्यावर्ती प्रभाव भी खूब हुआ है। ध्यान रहे कि नेवारी तथा अन्य बोलियों को बोलने वाले नेपाल सिकिम भूटान की मुख्य जनता हैं। अब तक भी नेपाल में खेती-बाड़ी व्यापार-धन्दा सब नेवारों के हाथ में है, गोरखे खाली सैनिक और शासक हैं।

आसामोत्तरक शाखा में उन्हीं आसामोत्तर जातियों की बोलियां सम्मिलित हैं जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है।

---

१. कलकत्ते में एक नेपाल-भाषा-साहित्य-मण्डल नेवारी वाङ्मय की वृद्धि करने के लिए है। बुद्ध-धर्म नाम का एक त्रैमासिक उसकी तरफ़ से निकलता है।

लौहित्य या आसामबर्मी शाखा की भाषायें और बोलियां सात वर्गों में बांटी गई हैं। उनमें से मुख्य बर्मा या म्यम्म वर्ग है जिसमें म्यम्म (बर्मी) भाषा और उसकी बोलियां—अराकानी, दावे[1] आदि—हैं, जिनके सब मिलाकर बोलने वाले ९३ लाख ३५ हज़ार हैं। उन के अतिरिक्त सक वर्ग और कचीन वर्ग की बोलियां भी सब बर्मा में ही हैं। लोलो वर्ग चीन के युइननान प्रान्त में हैं। बाकी तीन वर्गों में से कूकी-चिन वर्ग भारत और बर्मा के सीमान्त पर पड़ता है, और बाड़ा वर्ग तथा नागा वर्ग पूरी तरह भारतवर्ष के अन्दर हैं।

बाड़ा या बोडो लोग आसाम की अनार्य-भाषी जनता में सब से मुख्य हैं। कोच उन्हीं का एक फ़िरका है जिसका राज्य कभी पूर्णिया ज़िले के पच्छिम तक होता था, किन्तु अब उनका कोच-बिहार या कूच-बिहार प्रदेश बंगला-भाषी है। उसमें और उसके साथ लगे ग्वालपाड़ा और कामरूप ज़िलों की जनता में अब १० फ़ी सदी संख्या बाड़ा-भाषियों की है. गारो पर्वत पूरी तरह उनके दखल में हैं। ब्रह्मपुत्र के दक्खिन नौगांव ज़िले में, शिवसागर ज़िले के मजूली द्वीप में, उत्तर लखीमपुर की दिकरोंग नदी पर, कछार, पहाड़ी त्रिपुरा और चटगाँव की पहाड़ियों में, जहां चटगाउंनी लोग उन्हें म्रुंग कहते हैं, तथा ढाका मयमनसिंह की सीमा के मधुपुर जंगलों में उनकी बस्तियां हैं। इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति सूचित करती है कि किसी युग में मणिपुर और नागा पर्वतों के पच्छिम सुरमा-काँठे से और खासी-जयन्तिया के ऊंचे पहाड़ों के सिवाय समूचे पच्छिमी आसाम में बाड़ा जाति की सत्ता थी। बंगला भाषा त्रिपुरा और गारो के बाड़ा प्रदेश के बीच सुरमा-काँठे में एक फाने की तरह धँस गई है, उसी प्रकार ब्रह्मपुत्र काँठे में बंगला और

१. दावे को अंग्रेज़ी में बिगाड़ कर Tavoy लिखते हैं।

आसमिया जा घुसी हैं। प्रायः सभी बाड़ा लोग अब दुभाषिये हैं, कोच लोग तो पूरी तरह बंगला-भाषी ही हैं। मधुपुर जंगलों के बाड़ा-भाषी 'छोटे कोच' सूचित करते हैं कि कूचबेहार के बड़े कोच भी मूलतः बाड़ा हैं, अन्यथा वे अब पूरी तरह आर्य-भाषी हैं। बाड़ा-भाषियों की कुल संख्या अब ७ लाख १५ हज़ार है।

नागा बोलियों और नागा जातियों का घर उत्तर कछार से पतकोई पहाड़ों तक अर्थात् नागा पहाड़ों के अन्दर है। नागा वर्ग में लगभग ३० छोटी छोटी बोलियां हैं जिनके सब मिला कर बोलने वाले कुल ३ लाख ३९ हज़ार हैं। पूर्वी सीमान्त के नागा तो अभी बिलकुल असभ्य दशा में हैं, और नंगे घूमते हैं।

कूकी-चिन वर्ग आधा भारत में और आधा बरमा में पड़ता है। कछार, तिपुरा और चटगाँव के पूरब पहाड़ियों को बंगाली और आसमिया लोग कूकी कहते हैं। उधर बरमी लोग अपने इन सीमान्त निवासियों को चिन या ख्यैंग कहते हैं। कूकी-चिन बोलियों का वर्ग दो उपवर्गों में बाँटा जाता है—एक मेईथेई, दूसरा चिन। मेईथेई भाषा मणिपुरियों की है, कुल बोलने वाले ३ लाख ४३ हज़ार। लुशेई और चिन पहाड़ों तथा पड़ोस के प्रदेश में चिन बोलियां हैं जिन में से मुख्य लुशेई है। भारतवर्ष की विद्यमान राजनैतिक सीमा के अनुसार यदि लुशेई पहाड़ों को भारतवर्ष में गिना जाय तो मेईथेई-समेत कूकी-चिन वर्ग की बोलियां बोलने वालों की कुल संख्या हमारे देश में ४ लाख ८६ हज़ार है।

इस प्रकार कुल लौहित्य भाषायें बोलने वाले भारतवर्ष में १५ लाख ५० हज़ार हैं, जिन का कुछ अंश बंगाल में किन्तु अधिकांश आसाम में है। उनके मुकाबले में आर्य आसमिया

भाषियों की कुल संख्या १७ लाख २७ हज़ार है। आसामोत्तर प्रदेश, भूटान और नेपाल के अंक न मिलने से हम तिब्बतबर्मी भाषियों का पूरा पूरा अन्दाज़ नहीं कर सकते तो भी हमारा अन्दाज़ है कि उनकी कुल संख्या ५० और ६० लाख के बीच होगी। और उनकी बोलियों में नेवारी जैसी एक परिष्कृत भाषा भी सम्मिलित है जिस पर आर्यावर्त्ती संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं की पूरी पूरी छाप लग चुकी है।

तिब्बत-बर्मी शब्द आधुनिक नैरुक्तों और जनविज्ञानियों का है। उस शब्द के प्रयोग से ऐसा भ्रम होता है कि मानो तिब्बत-बर्मी नस्ल का प्राचीन आदिम घर तिब्बत और बर्मा में ही रहा हो। असल बात यह है कि बरमा में वह बहुत नये समय में आई है, इसी कारण पुराने इतिहास में तिब्बत-बर्मी शब्द का प्रयोग करना बहुत असुविधाजनक है। किन्तु बरमा का उत्तरी और भारत का उत्तरपूरबी छोर इस जाति का सनातन घर कहा जा सकता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट और निश्चित रूप से भारतवर्ष के उस पूरबी सीमान्त के निवासियों को किरात कहा गया है। नेपाल का पूरबी अंश तो अब भी किराँत-देश कहलाता ही है, कूच बिहार उसके पड़ोस में ही है। प्राचीन किरात शब्द स्पष्ट रूप से नेपाल के किरातियों के लिए नहीं, प्रत्युत पूरबी सीमान्त के सभी अनार्यभाषियों के लिए है[1]। साथ ही वह हिमालय पार के तिब्बतियों के लिए भी प्रयुक्त होता था[2]। इसीलिए तिब्बत-बर्मी की अपेक्षा किरात शब्द कहीं अच्छा है। इसी प्रकार तिब्बत-चीनी वंश को हम चीन-किरात वंश कहना पसन्द करते हैं।

---

१. द्वीपो ह्युपनिविष्टोऽयं म्लेच्छैरन्तेषु नित्यशः ।
पूर्वे किराता ह्यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः । (वायु पु० १, ४५, ८२)
पूर्वे किराता यस्य स्युः पश्चिमे यवनाः... (विष्णु पु० २, ३, ८)
२. रघुवंश ४, ७६, दे० परिशिष्ट १ (२) ।

दसवां प्रकरण

भारतीय जातियों और नस्लों का समन्वय

§ ४५. भारतीय वर्णमाला और वाङ्मय

भारतवर्ष की पूर्वोक्त सभ्य भाषायें किन किन लिपियों में लिखी जाती हैं, उस ओर ध्यान देने से हम एक बड़े महत्त्व के परिणाम पर पहुँचते हैं।

भारतवर्ष की प्रमुख भाषा हिन्दी मुख्यतः नागरी लिपि में लिखी जाती है। भारतवर्ष के पच्छिमोत्तर आँचल पर अरबी लिपि आ गई है। हिन्दी को अरबी लिपि में भी लिखा जाता है, और तब उसे उर्दू कहते हैं। हिन्दी और उर्दू अलग अलग भाषायें नहीं, केवल दो शैलियां हैं। ऐसा भी नहीं कि किसी प्रान्त में केवल उर्दू शैली ही चलती हो, या किसी में केवल हिन्दी। हिन्दी के अतिरिक्त सिन्धी भाषा पर भी अरबी लिपि का प्रभाव पड़ा है। उसे कुछ लोग नागरी लिपि में लिखते हैं, पर आजकल उसे अरबी लिपि में लिखने की चाल अधिक है। दोनों लिखावटें क्रमशः नागरी-सिन्धी और अरबी-सिन्धी कहलाती हैं। पश्तो अभी तक केवल अरबी लिपि में ही लिखी गई है। ग़ल्चा बोलियां लिखित भाषायें नहीं हैं, और उसी प्रकार काफ़िरिस्तान की काफ़िर बोलियां तथा कलात की ब्राहूई। हिन्दकी की भी प्रायः वही हालत है।

हिन्दी की सभी बोलियां—राजस्थानी, पछाँही, पहाड़ी, पूरबी और बिहारी वर्गों की—जब कभी लिखी जाती हैं नागरी लिपि या उसके किसी विकृत रूप (जैसे कैथी या महाजनी)

में ही। बोलियों को अलग रख कर हम परिष्कृत भाषाओं पर ही ध्यान दें तो हिन्दी, मराठी और पर्वतिया (गोरखाली) इन तीन भाषाओं की लिपि हूबहू एक है—वही नागरी। इसके अलावा भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में ही नहीं प्रत्युत समूचे जगत् में संस्कृत प्रायः नागरी अक्षरों में ही लिखी पढ़ी जाती है। इस प्रकार नागरी का क्षेत्र हिन्दी-क्षेत्र से बहुत अधिक विस्तृत है।

पूरब तरफ़ बंगला और आसमिया दोनों एक ही लिपि में लिखी जाती हैं, जिसे बंगला कहते हैं। उड़िया की अपनी अलग लिपि है, जिस को विशेष पहचान वर्णों के सिर पर की चक्करदार पगड़ी है; ताड़पत्र पर लोहे की कलम से जब लिखना पड़ता था तब सिर की सीधी रेखा पत्ते की धारी के बराबर जा कर उसे फाड़ देती, इसी कारण गोल रेखा का चलन हुआ, किन्तु आजकल छापे के ज़माने में वह बहुत ही बेढब और बोझल दीखती तथा प्रत्येक अक्षर के असल रूप को छिपा देती है; उस घेरेदार पगड़ी को हटा देने से वर्णों का निचला भाग नागरी से बहुत कुछ मिलने लगता है। पच्छिम की भाषाओं में से सिन्धी का उल्लेख हो चुका है, गुजराती की गुजराती लिपि असल में कैथी नागरी है, उसका और नागरी का अन्तर बिल्कुल नाम-मात्र का है; नागरी वर्णों की सिर की लकीर हटा देने से प्रायः गुजराती वर्ण बन जाते हैं। उत्तर-पच्छिम तरफ़, कश्मीरी की अपनी लिपि शारदा है और उसी के आधार पर सिक्ख गुरु अंगददेव ने गुरमुखी लिपि तैयार की थी; पंजाब में सिक्ख लोग पंजाबी भाषा को गुरमुखी लिपि में लिखते हैं।

दक्खिनी भाषाओं में से तेलुगु और कनडी की अलग अलग लिपियां हैं, लेकिन उनमें परस्पर वैसी ही सदृशता है जैसी नागरी और गुजराती में। इसी प्रकार तामिल और मलयालम

की लिपियों में परस्पर गहरी सदृशता है। सिंहली लिपि में न केवल आधुनिक सिंहली की प्रत्युत प्राचीन पालि भाषा की भी पुस्तकें छपती हैं, जिस प्रकार संस्कृत की नागरी में। पालि के ग्रन्थ बर्मा की बर्मी और स्याम की स्यामी लिपि में भी छपते हैं।

भारतवर्ष की सब लिपियों का हम परस्पर मिलान करें तो एक बड़े महत्त्व की बात सामने आती है। हमारे बहुत से पाठक बंगला, गुजराती या गुरमुखी लिपियों से परिचित होंगे। उन्हें मालूम है कि नागरी और इन लिपियों की अक्षरमाला या वर्णमाला एक ही है, केवल उन अक्षरों के चिन्ह बदलते हैं। यह वर्णमाला की समानता केवल नागरी, बंगला, गुजराती और शारदा में ही नहीं, प्रत्युत उड़िया, तेलुगु, कनडी, तामिल, मलयालम और सिंहली में भी है। इतना ही नहीं। भारतवर्ष के बाहर तिब्बती, बर्मी, स्यामी और कम्बुजी लिपियों की तथा कम्बुजी से निकली हुई मलायु द्वीपावली की छः पुरानी लिपियों —रेचंग, कवि, लम्पोंग, बत्तक, बुगि और मकस्सर—की भी वही अक्षरमाला है। अ आ इ ई…क ख ग आदि वर्ण इन सब लिपियों में एक से हैं; स्वर-व्यञ्जन-विभाग, स्वरों का क्रम, व्यञ्जनों का वर्गीकरण, स्वरों की मात्रा बनाने का कायदा आदि सब कुछ एक ही है। किसी में दो एक उच्चारण अधिक हैं तो किसी में कम; जो भेद हैं वे बिलकुल नाम के। यह वर्णमाला मूलतः आर्यावर्ती भाषाओं की थी, और उनसे द्राविड और अन्य भाषायों ने अपनाई है। भारतवर्ष की लिपियों में चाहे जितने परिवर्त्तन होते रहे हैं, वर्णमाला लगभग वह एक ही रही है। आज वह समूचे भारत, तिब्बत, बर्मा, स्याम और कम्बुज की तथा अंशतः मलायु द्वीपावली की भी वर्णमाला है। किसी समय हिन्दचीनी के और मलायु द्वीपावली के बाकी अंश, अफगान-

स्थान और मध्य एशिया की भी वही वर्णमाला थी। इस प्रकार वर्णमाला के सम्बन्ध में आर्य और द्राविड का भेद कुछ नहीं है, आर्य वर्णमाला को द्राविड भाषाओं ने भी अपना लिया है। और वही वर्णमाला भारतवर्ष के पड़ोस की किरात भाषाओं (तिब्बती, नेवारी), स्यामी भाषा और आग्नेय भाषाओं (तलैंग, कम्बुजी, जावा द्वीप की कवि आदि) ने भी अपना ली है।

एक और बात बड़े मारके की है। हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि को जब नये पारिभाषिक शब्दों की जरूरत होती है, वे संस्कृत से लेती हैं; सिंहली संस्कृत के बजाय पालि से लेती है। संस्कृत और पालि इस प्रकार आर्यावर्त्ती भाषाओं की अक्षय खानें हैं, जिनमें से धातु निकाल कर नये शब्द टकसाले जाते हैं। किन्तु आर्य भाषाओं के सिवाय द्राविड भाषायें भी, विशेषतः तेलुगु कनाडी और मलयालम, उसी संस्कृत की खान की शरण लेती हैं। इन भाषाओं के साहित्यिक रूपों में आधे के करीब तक भी संस्कृत-मूलक शब्द बर्त्ते जाते हैं। इस प्रकार इस अंश में भी आर्य और द्राविड का कुछ भेद नहीं रहा। भारत के बाहर बर्मी स्यामी और कम्बुजी भाषायें पालि से नये शब्द लेने में संकोच नहीं करतीं, तथा मलायु भाषाओं के शब्दकोष पर भी संस्कृत की पूरी पूरी छाप लग चुकी है। तिब्बती का समूचा वाङ्मय यद्यपि भारतीय वाङ्मय का अनुवाद है तो भी अनुवाद करते समय वहाँ भारतीय व्यक्तियों और स्थानों के नामों तक का अनुवाद कर दिया जाता है! मंगोल भाषा का पुराना वाङ्मय भी भारतीय वाङ्मय का अनुवाद है; यद्यपि उस भाषा ने भारतीय वर्णमाला नहीं अपनाई, तो भी उसकी शब्दावली में काफ़ी संस्कृत शब्दों के विकार आ गये हैं।

पारिभाषिक शब्दावली से आगे बढ़कर हम इन सब भाषाओं के साहित्यों और वाङ्मयों का मिलान करते हैं तो फिर वही

बात पाते हैं कि समूचे भारतवर्ष का साहित्य और वाङ्मय लगभग एक ही है—उसके विषयों का विस्तार और उसकी विचार-पद्धतियाँ सब एक हैं; और वह वाङ्मय भी वर्णमाला की तरह भारतवर्ष की सीमाओं को लाँघ गया है।

§ ४६. भारतवर्ष की मुख्य और गौण नस्लें

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष की जनता मुख्यतः आर्य और द्राविड नस्लों की बनी है, और उसमें थोड़ा सा छौंक शाबर और किरात (मुण्ड और तिब्बतबर्मी) का है। उसमें कुल ७६'४ फ़ी सदी आर्यभाषी २०'६ फ़ी सदी द्राविडभाषी, तथा ३'० फ़ी सदी शाबर- और किरात-भाषी हैं[1]। जो आर्य-भाषी नहीं हैं उन पर भी आर्यों ने अपनी पूरी छाप लगा दी है। भारतवर्ष की मुख्य और गौण तमाम नस्ल इस वर्गीकरण में आ गईं, केवल मुट्ठी भर अन्दमानी और बुरुशास्की बचे जो नगण्य हैं। उनके सिवाय यदि कोई उल्लेखयोग्य अंश बचा तो वह अफ़गानस्थान के तुर्की-भाषियों का है, और बलख प्रान्त को भारतवर्ष में न गिनने से उनकी संख्या भी नगण्य रह जाती है। तुर्क या हूण तातारी वंश की एक शाखा हैं, और उस वंश का मूल घर अल्तई पर्वत के उस पार इर्तिश और आमूर नदियों के बीच उत्तरपूर्वी एशिया में है।

ध्यान रहे कि भाषा से नस्ल की ठीक ठीक पहचान हमेशा नहीं हो सकती। नमूने के तौर पर भील लोग अब केन्द्रवर्ग की एक आर्य भाषा बोलते हैं, पर उनका रंग-रूप बतलाता है कि वे सम्भवतः द्राविड या शबर-जातीय हैं। उनसे अधिक निश्चित दृष्टान्त अहोमों का है जो एक आर्य भाषा—आसमिया—बोलते हैं, पर जिनका मूल चीन-किराती रंग-रूप अब तक बना हुआ

१. २४'२५ करोड़ आर्य, ६'५५ करोड़ द्राविड, '४२ करोड़ आग्नेय, और '४८ करोड़ चीन-किरात।

है। आज जो लोग भारतवर्ष में आर्य भाषायें बोलते हैं उनमें काफ़ी अंश ऐसा है जो मूलतः आर्य नहीं हैं; किन्तु उन्होंने आर्य भाषायें अपना ली हैं। आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय को तो समूचे द्राविड भारत ने पूरा तरह अपना ही लिया है। किन्तु केवल आर्यों का ही प्रभाव अनार्यों पर हुआ हो, अथवा सदा अनार्यों ने ही आर्यों के संसर्ग में आने पर अपनी भाषा छोड़ दी हो, सो बात नहीं है। भारतवर्ष की प्रायः सब आर्य भाषाओं में किसी में थोड़ा किसी में बहुत द्राविड तलछट विद्यमान है। दूसरे, आज के द्राविड-भाषा लोगों में उन आर्यों के वंशज भी शामिल हैं जो द्राविड प्रदेश में पहले पहल आर्यावर्त्ती वर्णमाला, वाङ्मय, सभ्यता और संस्कृति ले गये थे, और जिनके प्रयत्न से ही द्राविड भाषायें पहले पहल लिखी जाने लगीं और माँजी गई थीं। बाद में भी द्राविड प्रान्तों में जा कर जो आर्य बसते रहे वे प्रायः अपनी भाषा छोड़ते रहे। आन्ध्रों के राजा सातवाहन लोग सम्भवतः, और तामिलों के राजा पल्लव लोग निश्चय से शुरू में आर्यभाषी थे। इस समय भी उत्तरी कर्णाटक के कनाडी-भाषियों में से काफ़ी ऐसे हैं जो नस्ल से मराठे हैं।

तब नस्ल की ठीक पहचान क्या है? रंग-रूप? किन्तु जहां नस्लों का मिश्रण हो चुका हो वहां उसकी कसौटी भी सदा सफल नहीं होती। नमूने के लिए अहोमों के विषय में रंग-रूप की कसौटी सफल हुई थी, पर उन्हीं के भाई-बन्द कोच लोगों की तरफ़ हम ध्यान दें तो भाषा की कसौटी की तरह वह भी विफल होती है। कोच न केवल बंगला बोलते हैं, प्रत्युत उनका रंग-रूप भी लगातार के मिश्रण से बंगालियों का सा हो गया है। नेपाल के गोरखों और खसों की मूल नस्ल को उनकी भाषा ठीक ठीक सूचित करती है, वे अब तक आर्यभाषी हैं; किन्तु तीन चार शताब्दियों के अन्दर ही खसों के रंग-रूप में बहुत कुछ और

गोरखों के में भी काफ़ी परिवर्तन हो गया है। किन्तु वह परिवर्तन भी तो असल मिश्रण का सूचक है।

भारतवर्ष में आजकल जात-पाँत के जो विवाह-बन्धन हैं, उन्हें देख कर यदि किसी का विचार हो कि यहां मिश्रण नहीं होता रहा तो वह बिल्कुल गलत है। जात-पाँत की ठीक जात-पाँत के रूप में स्थापना दसवीं शताब्दी ई० तक आ कर हुई है, और उसके बाद भी मिश्रण पूरी तरह बन्द नहीं हो गया। शहाबुद्दीन गोरी के समय तक हम हिन्दू जातों में बाहर के लोगों को सम्मिलित होता देखते हैं। सन् ११७८ ई० में गुजरात के नाबालिग राजा मूलराज दूसरे की माता से हार कर गोरी की मुस्लिम सेना का बड़ा अंश कैद हो गया था। उन कैदियों की दाढ़ी-मूंछ मुँडवा कर विजेताओं ने सरदारों को तो राजपूतों में शामिल कर लिया था, और साधारण सिपाहियों को कोलियों, खाँटों, बाब्रियों और मेड़ों में[1]। दूसरे यह सोचना भी कि जात के बाहर विवाह न करने से मूल नस्ल की शुद्धता बनी रहती है ठीक नहीं है। मूल नस्ल एक एक तुच्छ जात की अलग अलग तो नहीं प्रत्युत बहुत सी जातों की एक ही है। गति प्रवाह और व्यायाम के विना और सँकड़े दायरे में बन्द हो जाने से अच्छी से अच्छी नस्ल में भी सड़ाँद पैदा हो जाती है, और जहाँ उसे बाहर की छूत से बचाया जाता है वहां उसे अन्दर का घुन ही खा डालता है। भारतवर्ष में आज जैसी जात-पाँत है वह उसके प्राचीन इतिहास में कभी न थी। यवन (यूनानी), शक आदि अनेक बाहरी जातियां भारतवर्ष में

१. तारीख़े-सोरठ (बर्जेस कृत अंग्रेज़ी अनु०) पृ० ११२-११३; बेली-हिस्टरी औफ़ गुजरात पृ० ३५, तथा बम्बई गज़ेटियर १८९६, जि० १, भाग १, खण्ड २ (कर्नल वाटसन तथा खां साहेब फ़ज़लुल्लाह लतफुल्लाह फ़रीदी कृत गुजरात का मुस्लिम काल का इतिहास) पृ० २२९ पर उद्धृत।

आ कर यहां की जनता में ऐसी घुल मिल गई हैं कि आज उनके नाम-निशान का भी पता नहीं है। बहुत खोजने से केवल एक आध यूनानी शब्द कपिश प्रदेश की भाषा में मिला है।

मूल नस्लें आज हैं कहां ? क्या उनके मिश्रण से सब जगह नई नस्लें तैयार नहीं हो गईं ? और क्या मूल नस्लें भी किसी मिश्रण का परिणाम रही हों सो नहीं हो सकता ? भारतीय जनविज्ञान के एक विद्वान् का कहना है कि भारतवर्ष की मूल नस्लों में इतना मिश्रण हो चुका है कि सब भारतीय अब एक नस्ल हैं[1]। यह कथन शायद अतिरंजित हो, किन्तु हमने जिन्हें भारतवर्ष के स्वाभाविक प्रान्त कहा है उनमें से प्रत्येक की जनता में रंग-रूप के नमूने की भी बहुत कुछ एकता दीख पड़ती है।

किन्तु आज यदि कोई मिश्रित नई नस्लें बन भी गई हैं तो वे भी मूल नस्लों से बहुत भिन्न नहीं हैं, और उन्हीं के आधार पर हैं। इसलिए उन मूल नस्लों के मुख्य मुख्य लक्षण हमें जान लेना चाहिए। रंग-रूप की नाप-जोख करना वैसा सरल नहीं है जैसा भाषा का। तो भी जनविज्ञानियों ने कुछ मोटी मोटी कसौटियाँ बना ली हैं, और इस नाप-जोख की एक अलग विद्या —मानुषमिति (Anthropometry)—बन गई है।

सबसे पहली कसौटी रंग की है। किन्तु रंग बदल भी जाता है। पंजाबियों की शिकायत है कि बिहार-बंगाल की तरफ़ जा रहने से उनका रंग मैला होने लगता है, और कुलीन बंगालियों का कहना है कि पंजाब जाने से उनका रंग फिर चमक उठता है। फिर गोरे और पक्के काले के बीच रंगों की इतनी छाँहें हैं कि कहां एक रंग समाप्त हो कर दूसरा शुरू हुआ सो कहना कठिन है। तो भी एक कश्मीरी और एक हब्शी के रंग में स्पष्ट अन्तर

१. नेस्फ़ील्ड का मत रिस्ली की "पीपल ऑफ़ इण्डिया" पृ० २० पर उद्धृत।

दीख पड़ता है, और रंग की पहचान को बिलकुल निकम्मा नहीं कहा जा सकता।

खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई भी एक अच्छी परख है। एक पंजाबी या अन्तर्वेदिये और एक बंगाली का सिर देखने से ही बंगाली का सिर चौड़ा दीख पड़ता है। यदि खोपड़ी की लम्बाई को १०० माना जाय और चौड़ाई उसके मुकाबले में ७७.७ या उससे कम हो तो मानुषमिति वाले उसे दीर्घकपाल (dolicho-cephalic) नमूना कहते हैं, यदि चौड़ाई ८० तक हो तो मध्यकपाल (mesati-cephalic), और यदि और अधिक हो तो ह्रस्वकपाल या वृत्तकपाल (brachy-cephalic)। १०० लम्बाई पर जितनी चौड़ाई पड़े उसे कपाल-मान (cephalic index) कहा जाता है।

इसी प्रकार एक नासिका-मान (nasal index) है। नाक की लम्बाई को १०० कहें, तो चौड़ाई जो कुछ होगी वही नासिका-मान है। वह मान जिनका ७० से कम हो, अर्थात् नाक नुकीली हो, वे सुनास (leptorrhine) कहलाते हैं, ७० से ८५ तक मध्य-नास (mesorrhine), और ८५ से अधिक वाले स्थूलनास या पृथुनास (platyrrhine)। चौड़ी या नुकीली नाक के खुले या तंग नथनों का अन्तर साधारण आँख को भी सरलता से दीख जाता है।

दोनों आँखों के बीच में नाक के पुल का कम या अधिक उठान भी उसी तरह मनुष्य की मुखाकृति में झट नज़र आ जाता है। कई जातियों की नाकें ऊपर चिपटी सी होती हैं। नाक के उस चिपटेपन को संस्कृत में अवनाट[1] कहते हैं, उससे उलटा प्रनाट और दोनों के बीच का मध्यनाट शब्द गढ़ा जा

१. नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भटचः; पाणिनीय अष्टाध्यायी, ५, २, ३१।

सकता है। दोनों आँखों की थैलियाँ जिन हड्डियों में हैं, उनके मध्य में दो बिन्दु लगा कर उनके बीच की दूरी को १०० कहा जाय, और फिर नाक के पुल के ऊपर से वही दूरी मापने से उसका पहली दूरी से जो अनुपात आय उसे अवनाट-मान (orbitonasal index) कहते हैं। वह ११० से कम हो तो अवनाट (platyopic) चेहरा, ११२·९ तक हो तो मध्य-नाट (mesoopic)। यह हिसाब खास भारतवर्ष के लिए रक्खा गया है, अन्यथा १०७·५, ११०·०, और उससे ऊपर, ये तीन सीमायें हैं। अवनाट का चेहरा स्वभावतः चौड़ा दीखता है, और गालों की हड्डियाँ उभरी हुई।

आदमी का कद या डील भी मानुषमिति की एक परख है। १७० शतांशमीतर (५ फुट ७ इंच) से अधिक हो तो लम्बा, १६५ (५′ ५″) से १७० तक औसताधिक, १६० (५′ ३″) से १६५ तक औसत से नीचे, और १६० से कम हो तो नाटा।

मुँह और जबड़े का आगे बढ़ा या न बढ़ा होना एक और लक्षण है। एक प्रकार समहनु (orthognathic) है जहां जबड़ा माथे की सीध से आगे न बढ़ा हो या बहुत कम बढ़ा हो, दूसरा प्रहनु (prognathic) जहां वह बढ़ा हुआ हो।

संसार भर की जातियों में तीन मुख्य नमूने प्रसिद्ध हैं। एक गोरी जातियां, जिन में आर्य या हिन्द-जर्मन वंश, सामी (Semitic) और हामी (Hamitic) सम्मिलित हैं। सामी के मुख्य प्रतिनिधि अरब और यहूदी तथा कई प्राचीन जातियां हैं। हामी के मुख्य प्रतिनिधि प्राचीन मिस्र (ईजिप्ट) के लोग थे। गोरे रंग के सिवा ऊँचा डील, भूरे या काले मुलायम सीधे या लहरदार केश, दाढ़ी-मूँछ का खुला उगना, प्रायः दीर्घ कपाल, नुकीला चेहरा, नुकीली लम्बी नाक, सीधी आँखें छोटे दाँत और कोमल गात्र उनके मुख्य लक्षण हैं। गोरा रंग जलवायु

के भेद से गेहुँवाँ भी हो जाता है। दूसरी पीली या मंगोली जातियां हैं। उन में चीन-किरात, मंगोल, तातारी (तुर्क-हूण) आदि सम्मिलित हैं। उनके सीधे रूखे केश, बिना दाढ़ी-मूँछ के चौड़े और चपटे चेहरे, प्रायः वृत्त कपाल, ऊँची गाल की हड्डी, छोटी और चिपटी नाक (अवनाट), गहरी आँखें, पलकों का झुकाव ऐसा जिससे आँखें तिरछी दीख पड़ें, तथा मध्यम दाँत होते हैं। तीसरा नमूना काला, हब्शियों या नीग्रोई (Negroid)[1] नस्ल का है। उनके ऊन जैसे गुच्छेदार काले केश, दीर्घ कपाल, बहुत चौड़ी (स्थूल) चिपटी नाक, मध्यम दाढ़ी-मूँछ, मोटे बाहर निकले हुए होंठ, बड़े दाँत और लम्बा हाथ मुख्य लक्षण हैं। अफ़रीका के अतिरिक्त नीग्रोई नस्ल प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों में हैं। भारतवर्ष में उनके प्रतिनिधि केवल अन्दमानी हैं जो अत्यन्त नाटे हैं। लेकिन वे वृत्त कपाल हैं।

उक्त तीन मुख्य नमूनों का उलटफेर दूसरी अनेक जातियों में है। कपालमिति (Craniometry) के तजरबों से यह पाया गया है कि एक ही वंश की कुछ शाखायें दीर्घकपाल और दूसरी वृत्तकपाल हो सकती हैं, लेकिन जिस का जो लक्षण है वह बहुत स्थिर रहता है। आर्य वंश में ही स्लाव और केल्त लोग वृत्तकपाल हैं। पीली जातियां मुख्यतः वृत्तकपाल हैं, पर उन्हीं में अमरीका के एस्कीमो दीर्घकपाल हैं।

भारतीय आर्य और द्राविड दोनों दीर्घकपाल हैं, किन्तु बंगाल और उत्तरपूरबी सीमान्त पर वृत्तकपाल अधिक हैं जो किरात प्रभाव के सूचक हैं। उसके सिवाय सिन्ध और दक्खिन भारत के पच्छिमी तट पर भी वृत्तकपाल हैं, तथा बिहार में मध्यकपाल।

१. नीग्रोई (Negroid) अर्थात् नीग्रो-जातीय, जिन में नीग्रो तथा उनके सदृश सभी लोग सम्मिलित हैं।

आर्यावर्त्ती आर्यों का सब से अच्छा निर्विवाद नमूना अन्तर्वेद और पंजाब के अरोड़े, खत्री, ब्राह्मण, जाट, अराईं आदि हैं। औसत से अधिक डील, गोरा या गेहुँवां रंग, काली आंखें, दीर्घ कपाल, ऊँचा माथा, लम्बा नुकीला सम चेहरा, सीधी नुकीली नाक उनके मुख्य लक्षण हैं, लेकिन वह नाक बहुत लम्बी नहीं होती।

द्राविडों का शुद्ध खालिस नमूना नीलगिरि और अनमलइ पर्वतों की कुछ जंगली जातियां हैं। उनके विशेष चिन्ह हैं—कद औसत से कम, रंग पक्का काला, केश घने कभी कभी घुंघराने की प्रवृत्तियुक्त किन्तु नीग्रोइयों की तरह गुच्छेदार कभी नहीं, नाक बहुत ही चौड़ी—जो कि द्राविड का मुख्य चिन्ह है—, कभी कभी अवनाट, किन्तु चेहरा कभी किरात की तरह चपटा नहीं, कपाल दीर्घ, हाथ बड़ा। संसार की मुख्य नस्लों में किस में द्राविड को गिनना चाहिए सो अभी तक अनिश्चित है। ब्राहूइयों में छोटे कद के सिवा कोई भी द्राविड लक्षण नहीं बचा।

द्राविड और शाबर में भारतीय जनविज्ञानी भेद नहीं करते, पर मेरा विचार है कि अधिक खोज होने पर कुछ भेद अवश्य निकलेगा। शाबर का सबसे खालिस नमूना शबर मुण्डा और सन्ताल हैं, जिनका मूल अभिजन झाड़खण्ड और पूरबी प्रान्त है। उनके लक्षण द्राविडों के से हैं, किन्तु कपाल प्रायः मध्यम होता है, और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में जो 'खर्वटास्य'—छोटे चेहरे—वाले निषादों का वर्णन है,[1] वह भी मेरे विचार में उन्हीं का या किसी मिश्रित द्राविड-शाबर जाति का है। इस प्रसंग में खासी-जयन्तिया पहाड़ियों के खासी लोगों का उल्लेख

1. विष्णुपु० १, ३, ३४-३५। यह वर्णन जनविज्ञानियों के लिए विशेष काम की वस्तु है।

करना जरूरी है। या तो ऊँची ठंडी पहाड़ियों पर रहने और या पड़ोस के किरातों के मिश्रण के कारण उनका रंग-रूप शाबरों से बहुत कुछ भिन्न हो गया है। उनका रंग प्रायः गोरा, गेहुँवां, या लाली लिए हुए बादामी, और स्त्रियों का चेहरा विशेष कर सुन्दर गोलमटोल भरा हुआ होता है।

किरातों में वे सब लक्षण हैं जो हमने मंगोली नस्ल के कहे हैं। कद जरूर छोटा या औसत से कम, रंग पिलाहट लिये हुए, दाढ़ी-मूँछ न के बराबर, आँखें तिरछी, नाक नुकीली से चौड़ी तक सब किस्म की किन्तु चिपटी अवनाट, गाल की हड्डा उभरी हुई, और चेहरा नाक-गाल की इस बनावट के कारण चपटा।

उत्तरपच्छिम सीमान्त के अफ़गानों और पंजाब के जाटों आदि में आर्य्यावर्ती आर्य्यों की अपेक्षा विशेष लम्बी नाक पाई जाती है। अफ़गानों से मराठों तक पच्छिम की सब जातियों में वृत्त कपाल भी पाया जाता है। वृत्तकपाल किरातों तथा पच्छिमी छोर के इन वृत्तकपालों का मुख्य भेद यह है कि किरात जहां अवनाट हैं, वहाँ ये पच्छिमी जातियां प्रनाट हैं। उत्तरपच्छिम की विशेष लम्बी नाक और समूचे पच्छिम के वृत्तकपालो की व्याख्या शक मिश्रण से की जाती है। नई खोज ने बतलाया है कि शक भी एक आर्य जाति थे; आजकल उनका खालिस नमूना कहीं नहीं बचा, मध्य एशिया में वे हूणों-तुर्कों में घुल मिल कर नष्ट हो गये हैं, और भारतवर्ष और ईरान में अपने बन्धु आर्यों में। उनके सिक्कों आदि पर उनके जो चित्र मिलते हैं उनमें असाधारण लम्बी नाक शकों का विशेष चिह्न दीख पड़ता है। वे हूणों के पड़ोस में रहते थे; या तो उनसे मिश्रण होने के कारण और या आर्यों की कई अन्य शाखाओं की तरह शायद वे वृत्तकपाल थे। शकों की भाषा का कोई भिन्न भारतीय भाषाओं

की पड़ताल से अभी तक कहीं नहीं मिला, किन्तु मानुषमिति उनकी याद दिलाती है।

पच्छिमी तट पर सामुद्रिक व्यापार से अरब, हब्शी आदि जातियां आती रही हैं, उनका प्रभाव भी वहां हुआ है। अमरीका की युरोपियन बस्तियों में युरोपी लोग जैसे अफ़रीका के नीग्रो गुलामों को बड़ी संख्या में ले जाते रहे, जिनके वंशज आज अमरीका की जनता में धीरे धीरे घुल मिल रहे हैं, उसी प्रकार प्राचीन भारत के पच्छिमी तट पर अरब तथा फ़ारिस-खाड़ी के गुलाम और पच्छिमी देशों की गोरी बाँदियाँ ला कर सूरत, भरूच आदि बन्दरगाहों में बेची जाती थीं[1], उनकी नस्ल का प्रभाव भी हमें ध्यान में रखना होगा।

मोटे तौर पर हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं। पंजाब, राजस्थान और अन्तर्वेद में आर्यावर्त्ती आर्य का खालिस नमूना पाया जाता है; उत्तरपच्छिमी छोर पर उसमें शक लक्षण और कभी कभी हूण-तुर्क लक्षण भी दीख पड़ते हैं। अन्तर्वेद में ही समाज के निचले दर्जों में और पूरब तरफ़ शाबर झलक आने लगती है। बिहार और बंगाल में शाबर अंश आर्य से अधिक होने लगता है, और उत्तरपूरब से किरात लहर उसमें आ मिलती है। राजस्थान से मालवा, चेदिकोशल और उड़ीसा की तरफ़ शाबर और द्राविड अंश बढ़ता जाता है महाराष्ट्र की तरफ़ भी आर्य द्राविड का मिश्रण है, किन्तु उस में शक लक्षणों की झलक भी है। गुजरात में महाराष्ट्र की अपेक्षा द्राविड अंश कम है। कर्णाटक के दक्खिन भाग और उधर आंध्र के उत्तरी छोर से द्राविड रंग-रूप मुख्य हो जाता है, वहाँ केवल ऊँचे

---

1. शौफ़-सम्पादित पेरिप्लस औफ़ दि इरीथ्रियन सी, पैरा ३६ (पृ० ३६), और पैरा ४९ (पृ० ४२)।

दर्जों में आर्य झलक भर है। सिंहल के दक्खिन भाग में फिर आर्य-द्राविड मिश्रण है।

भारतीय जनविज्ञान, मानुषमिति और कपालमिति का अध्ययन अभी बिलकुल आरम्भिक दशा में है। अभी इतिहास के अध्ययन को उससे वैसा प्रकाश नहीं मिल सकता जैसा भाषाओं की पड़ताल से मिला है। मोटे तौर पर भाषाओं की पड़ताल हमें जिन परिणामों पर पहुँचाती है, जनविज्ञान और मानुषमिति उनमें विशेष भेद नहीं डालतीं

§ ४७. भारतवर्ष की विविधता और एकता

भारतवर्ष एक विशाल और विस्तृत देश है। ऊपर के पृष्ठों में हमने उसकी भूमि और उस के प्रदेशों, उसकी भाषाओं, नस्लों, लिपियों, वर्णमाला और वाङ्मय का विवेचन और दिग्दर्शन किया है। उस दिग्दर्शन से उसकी विविधता प्रकट है। उसके विभिन्न प्रान्तों और प्रदेशों में से कोई समथर मैदान है तो कोई पठार या पहाड़ी दून, कोई अत्यन्त सूखा रेगिस्तान है तो किसी में हद से ज्यादा पानी पड़ता है। अनेक किस्म के जल-वायु, वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी उसमें पाये जाते हैं। उसमें रहने वाले लोग, उनका रहन-सहन और उनकी बोलियां भी अनेक प्रकार की हैं।

भारतवर्ष के इन भेदों के रहते हुए उसमें गहरी एकता भी है। डिब्रूगढ़ से डेरा-इस्माईलखां तक समूचा उत्तर भारत एक ही विशाल मैदान है। फ़सल के मौसम में हम उसके एक छोर से दूसरे छोर तक लहलहाते खेतों में ऐसे रास्ते से जा सकते हैं जिसे एक भी कंकर या पत्थर का टुकड़ा कण्टकित न करे। यह तो उकता देने वाली एकता है! इस के अतिरिक्त, दक्खिन में समुद्र और उत्तर में हिमालय होने के कारण सारे भारत में एक खास किस्म की ऋतुपद्धति भी बन गई है। गर्मी की ऋतु में

समुद्र से भाप बादल बन कर उठती और हिमालय की तरफ़ आती है ; हिमालय की ऊँचाई को बादल पार नहीं कर सकते, वे लौट कर बरस जाते हैं । इस प्रकार हमारी बरसात होती और नदियों में पानी आता है । बरसात के अनुसार और ऋतुएँ आती हैं । यह ऋतुओं का खास सिलसिला भारतवर्ष में ही है, और हमारे सारे देश में एक सा है । भारतवर्ष की उस सुन्दर हद्दबन्दी का जिसके कारण समूचा देश स्पष्टतः एक दीख पड़ता है, पहले ही उल्लेख कर चुके हैं । हिमालय और समुद्र की उस हद्दबन्दी से ही ऋतु-पद्धति की समानता पैदा होती है ।

भारतवर्ष की जनता की जाँच में हमने देखा कि उसमें मुख्यतः आर्य और द्राविड दो नस्लों के लोग हैं ; किन्तु उन दोनों का सम्मिश्रण खूब हुआ है, और उस मिश्रण में थोड़ा सा छौंक शाबर और किरात का भी है । आज भारतवर्ष की कुल जनता में से आर्यभाषी अन्दाज़न ७६.४ फ़ी सदी, द्राविडभाषी २०.६ फ़ी सदी, और शाबर-किरात भाषी मिला कर ३.० फ़ी सदी हैं । किन्तु जनता और भाषाओं की विवेचना में हमने यह भी देखा कि द्राविड भाषायें आर्य साँचे में ढल गई हैं, और उन्होंने आर्यावर्त्ती वर्णमाला अपना ली है । यह देश मुख्यतः आर्यों का है, और उन्होंने इसे पूरी तरह अपना कर इस पर अपनी संस्कृति की पक्की छाप लगा दी है । दूसरी संस्कृतियां, विशेषतः द्राविड, नष्ट नहीं हो गईं, पर आर्यों के रंग में पूरी तरह रंगी गई हैं । बाद में जो जातियां आती रहीं, वे तो बिलकुल आर्यों के अन्दर हज़म ही होती गईं । आर्य और द्राविड का भारतवर्ष के इतिहास में इतना पूरा सामञ्जस्य हो गया है कि आज सारे भारत की एक वर्णमाला और एक वाङ्मय है, जो सभ्यता और संस्कृति की एकता का बाहरी रूप है । हम यों कह सकते हैं कि

भारतीय संस्कृति का प्राण आर्य है तो उपादान द्राविड, और आज उन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति एक है, और इसलिए भारतीय जाति एक है।

किन्तु यदि भारतीय जाति एक है तो उसकी एकता आज उसके सामाजिक और राजनैतिक जीवन में प्रकट क्यों नहीं होती ? भारतवर्ष के प्रदेशों, भाषाओं और जनता की विद्यमान अवस्था की छानबीन से जहां हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यहां संघात्मक राष्ट्रीय एकता की बढ़िया सामग्री उपस्थित है, वहां उसकी विद्यमान राजनैतिक और सामाजिक अवस्था पर जो कोई एक नज़र भी डालेगा उसे दीख पड़ेगा कि उसकी जनता में जातीय या राष्ट्रीय एकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा जान पड़ता है कि वह बत्तीस करोड़ का जमघट मानो तुच्छ जातों फ़िरकों और कबीलों का एक ढेर है, जिस समूचे ढेर में अपनी एकता का कोई चैतन्य और सामूहिक जीवन की कोई वेदना नहीं है। बहुत लोग इस स्थिति को देख कर कह देते हैं कि यह एक देश और एक जाति नहीं है। तो फिर क्या वह छोटे छोटे प्रदेशों या कबीलों का समुच्चय है ? क्या उन छोटे छोटे प्रदेशों में भी, जिनमें भौगोलिक और अन्य दृष्टि से पूरी एकता है, सचेष्ट सामूहिक जीवन के कोई लक्षण हैं ? यदि किसी छोटे से प्रदेश में भी वह उत्कट सचेष्ट सामूहिक जीवन होता तो वह अपनी स्वाधीनता को संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति के मुकाबले में भी बनाये रख सकता। यह बात नहीं है कि भारत में छोटे छोटे जीवित समूह हों और उन सबको मिला कर जिस जन-समुदाय को भारत कहा जाता है उसी में एकता का अभाव हो। सामूहिक जीवन की मन्दता न केवल उस समूचे समुदाय में प्रत्युत उसके प्रत्येक टुकड़े में भी वैसी ही है।

जब हम भारतीय जनता की विद्यमान अवस्था की पड़ताल कर रहे हैं, तब इस बात को आँखों से ओझल कैसे कर सकते हैं कि आज संसार की सब सभ्य जातियों के बीच वही एक-मात्र मुख्य गुलाम जनता है ? और उसके उस गुलाम जीवन पर ज़रा सा विचार करने से भी यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि भारतवर्ष के लोग न केवल जातीय चैतन्य से रहित हैं, प्रत्युत साधारण मनुष्य-धर्म से भी वे एकदम पतित हो चुके हैं। उनका आत्म-सम्मान का भाव तो मानो मर ही चुका है। उनके समाज की रचना ऐसी है जिससे आपस में अपने से कमज़ोर पर ज़ोर ज़ुल्म करने और ज़बर्दस्त के आगे गिड़गिड़ाने की उन्हें आदत ही हो जाती है, और इस आदत के कारण पराई गुलामी के जुए का बोझ भी उनके कन्धों को कुछ मालूम नहीं होता। दूसरे का साधन बनने और उसे कमज़ोर का शिकार कर ला देने में उन्हें तिल भर संकोच नहीं होता; उनका अपना कोई ध्येय, कोई साध्य, तुच्छ सांसारिक सुखों के सिवाय और अपनी जात-बिरादरी या फ़िरके के तुच्छ दायरे में अपने को ऊँचा मान सकने और कमज़ोरों को आँखें दिखा सकने के सिवाय कुछ है ही नहीं। यदि उन सांसारिक सुखों से भी उन्हें वंचित कर दिया जाय तो भी वे संगठन के अभाव, साहस की कमी और कायरता के कारण विरोध में नहीं उठ खड़े होते, प्रत्युत ऐसी दरिद्रता और गलाज़त में 'शान्ति' और 'सन्तोष' के साथ अपने 'जीवन' को—अथवा अपनी दोपायी सत्ता को—घसीटे जा सकते हैं कि जिसे सुन कर विश्वास करना कठिन होता है। ऐसी अवस्था में भी वे आपस में मिल नहीं सकते, क्योंकि उन्हें अपने पर विश्वास और एक दूसरे पर विश्वास नहीं है।

मनुष्य कहलाने वालों के उस जमघट में हर किसी के सामने अपनी अपनी चिन्ता, अपना अपना निकट स्वार्थ ही है;

सामूहिक हित और कल्याण का चिन्तन करने वाला, समूचे समूह में एक व्यक्तित्व लाने और सामूहिक आपत्तियों का निवारण करने वाला कोई अंग उसमें है ही नहीं। इसी कारण अपने समूह का भेद पराये को देना, उसके साथ मिल कर अपने समूह के विरुद्ध आचरण करना और पराये का साधन बनना यहां ऐसी निःशंकता निर्लज्जता और उद्दण्डता से होता है जैसा संसार की और किसी जाति में नहीं हो सकता। न तो ऐसे काम करने वाला स्वयं इन बातों में कोई पाप मानता है, न उसके पड़ोसी उसे घृणा से देखते हैं, और यदि उसके पास पैसे हों—जो कि इन कामों से हमेशा मिल जाते हैं—तो वह उसी समूह में जिसके विरुद्ध कि वह आचरण करता है ऐंठ ऐंठ कर विचर सकता है। सबसे बड़ा अचरज तो यह है कि ऐसा घृणित दरिद्र जीवन बिताते हुए भी वे लोग अपने दिल को भुलाने के लिए लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा की चर्चा कर के अपने को बड़ा धर्मात्मा मान सकते हैं, ठीक उसी तरह जैसे एक गंजेड़ी गलीज़ गन्दगी में धँसा हुआ दूर दूर के सपने देखता है !

इस अवस्था का कारण क्या है ? भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र का प्रत्येक विचारशील विद्यार्थी मुँह से कहे या न कहे, कुछ न कुछ कारण इस अप्राकृतिक अवस्था का अवश्य मन में सोचता है, और उसी के अनुसार भारतीय इतिहास की व्याख्या करता है। बहुतों का यह विश्वास प्रतीत होता है कि भारतीय नस्ल में या जलवायु में कोई सनातन त्रैकालिक दुर्बलता है। यदि ऐसी बात है, यदि सामूहिक जीवन इस भूमि या इस नस्ल में कभी पनप ही नहीं सकता है, तो एकता की वह उत्कृष्ट सामग्री जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है क्या केवल घुणाक्षर-न्याय से पैदा हो गई है ? चेतन और निरन्तर सामूहिक चेष्टाओं

के बिना वे अवस्थायें कभी उत्पन्न न हो सकती थीं। किन्तु वैसी सामूहिक चेष्टाओं के रहते फिर विद्यमान दरिद्रता कैसे आ गई ?

इन्हीं समस्याओं का उत्तर पाने के लिए हमें भारतीय इतिहास की सावधानी और सचाई से छानबीन करने की जरूरत है। यहाँ इस विवाद को विस्तार के साथ नहीं उठाया जा सकता, केवल संक्षेप से और आग्रह के बिना मैं अपना मत कहे देता हूँ। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास—लगभग ५५० ई० तक—एक जिन्दा जाति के सचेष्ट जीवन का वृतान्त जान पड़ता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की दृढ़ नींवें उसी काल में रक्खी गईं। उसके बाद मध्य काल में धीरे धीरे भारतीय जाति की जीवन-धारा मन्द हो गई, उसमें प्रवाह और गति न रही प्रवाह के अभाव से सड़ाँद पैदा होने लगी, और सड़ाँद से कमज़ोरी। अनेक प्रकार के सचेष्ट और जीवित आर्थिक व्यावसायिक राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक आदि समूह, जिनके समुच्चय से वह जाति बनी थी, पथरा कर निर्जीव और अचल जातें बनने लगे, और प्रवाह गति तथा पारस्परिक विनिमय ज्यों ज्यों और क्षीण होते गये, त्यों त्यों उन जातों के और टुकड़े होते गये, और एक सजीव जाति का पथराया हुआ पंजर बाकी रह गया जिसे कि जात-पांत में जकड़ा हुआ विद्यमान भारतीय समाज सूचित करता है। ऐसा निर्जीव समाज-संस्थान बाहर के हमलों का मुकाबला न कर सकता था और इसके वे परिणाम हुए जिनका होना कभी टल न सकता था।

किन्तु ध्यान रहे कि वह समाज-संस्थान रोग का निदान नहीं प्रत्युत लक्षण है, असल रोग तो जीवन की क्षीणता और गति का बन्द हो जाना ही है। वह समाज-संस्थान एक प्राथमिक समाज की अवस्था को सूचित नहीं करता, प्रत्युत एक परिपक्व समाज के जीर्ण पथराये सूख गये देह को; और इसी

कारण उसे प्राथमिक समाज समझ कर उसकी जितनी व्याख्यायें की गई हैं वे सब उसके स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सकीं। उस समाज-संस्थान के पक्ष मे यह कह देना आवश्यक है कि उसी ने भारतीय जाति के देह और संस्कृति के तन्तु को—सूखे पथराये रूप में ही सही—जैसे तैसे बनाये रक्खा है; और यह भारतीय जाति और संस्कृति के व्यक्तित्व की मज़बूती और दृढ़ता का ही परिणाम था कि अपने जीवन की मन्दता के समय भी उसने अपने ऊपर इस समाज-संस्थान के रूप में एक ऐसा खोल चढ़ा लिया जो इसे शत्रुओं के मुकाबले में जैसे तैसे बचाये और बनाये रख सका उस सूखे खोल के अन्दर भारतीय जाति की दुर्बल जीवन-धारा चौदह-पन्द्रह शताब्दियों तक जैसे तैसे बनी रही है। उस बीच, विशेष कर १५ वीं १६ वीं शताब्दी ई० में, उसके भिन्न भिन्न अंगों में परस्पर विनिमय और प्रवाह उत्पन्न कर उसमें फिर से एक व्यक्तित्व पैदा करने की चेष्टायें हुईं—उन्हीं को हम मध्यकालीन पुनर्जागृति कहते हैं। किन्तु जीवन की मन्दता ऐसी थी कि ये नई लहरें भी थोड़े ही समय में गति-शून्य हो गईं। समूची जाति को एक बनाने की चेष्टायें कुछ नई जातें और नये फ़िरके पैदा कर के ठंडी हो गईं। उस जाति में जीवन जगाने के लिए उसके जीवन के प्रत्येक पहलू में विक्षोभ पैदा कर देने की जरूरत थी, जो ये लहरें न कर सकीं। उस प्रकार का विक्षोभ पिछली डेढ़ शताब्दी की बाहर की चोटों से और पच्छिम की तरुण आर्य जातियों के संसर्ग से पैदा हो गया है, और आज वह फिर से अपने अन्दर अपने प्राचीन जीवन के स्रोत को उमड़ता और प्रकट होता अनुभव करती है।

इस प्रकार भारतवर्ष की आन्तरिक एकता और उसकी विद्यमान छिन्न-भिन्न जीर्ण-शीर्ण अवस्था में कोई विरोध नहीं

है। विद्यमान छिन्नता भिन्नता जातीय जीवन के अत्यन्ताभाव को नहीं, प्रत्युत उसकी मूर्च्छा को सूचित करती है। एकता की प्रमुख सामग्री प्राचीन इतिहास की सामूहिक चेष्टाओं का परिणाम है, वह सामग्री आज अपना प्रभाव नहीं दिखाती क्योंकि वह मूर्च्छित और निश्चेष्ट हुई पड़ी थी।

§४८. भारतीय जाति की भारतवर्ष के लिए ममता

हमने देखा कि भारतीय जाति की एकता—आर्य्य और द्राविड़ का सामञ्जस्य—शताब्दियों की कशमकश का, और देश को एक बनाने की चेतन चेष्टाओं का परिणाम है। उन्हीं चेष्टाओं से भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति में, प्रथाओं और संस्थाओं में, एवं जनता के रहन-सहन रीति-रवाज़ में बहुत कुछ एकता पैदा हो चुकी है। सच बात तो यह है कि केवल भौगोलिक एकता से या जनता की भी एकता से किसी देश के इतिहास में सजीव एकता या एक जीवन का ताँता पैदा नहीं होता, जब तक कि उस देश की जनता उस देश को ममता-पूर्वक अपना देश और एक देश न समझती रही हो। इस प्रकार की ममता हमारे पुराने पुरखों की भारतवर्ष में सदा रही है। वे उसे सदा अपनी मातृभूमि और देवभूमि मानते रहे हैं। समूचे भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक उन्होंने तीर्थों और देवस्थानों की स्थापना की थी। हिन्दू लोग भारतवर्ष के पर्वतों जंगलों और नदियों को पवित्र मानते हैं। हिन्दुओं के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में इतनी विविधता है कि हिन्दू शब्द का लक्षण करना भी आज बहुत कठिन समझा जाता है। सच बात यह है कि हिन्दुओं के अनेक और नानारूप धार्मिक सम्प्रदायों में एकमात्र एक लक्षण यही है कि प्रत्येक हिन्दू सम्प्रदाय की पवित्र भूमि और देवभूमि भारतवर्ष है। यही हिन्दूपन की एकमात्र पहचान है। मुसलमानों

के भी अनेक पीरों, औलियों, विजेताओं, बादशाहों और शहीदों की स्मृति भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों के साथ जुड़ी हुई है। हमारे सब तीर्थ और पवित्र स्थान इसी देश में हैं। हममें से जो सनातनी हिन्दू हैं, वे प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करते समय भावना करते हैं—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥
[यमुना गोदावरी नर्मदा कावेरी सरस्वती गङ्ग,
सिन्धु साथ ले मेरे जल में सातों छोड़ें प्रीति-तरंग!]

उसी प्रकार अपने ब्याह-शादी और अन्य संस्कारों में वे भारतवर्ष की सब नदियों से असीसें मांगते हैं। जो इस प्रकार भावना नहीं करते वे भी भारतवर्ष को उसी प्रकार अपनी मातृभूमि और अपने पुरखों की लीलाभूमि और कर्मस्थली करके जानते हैं। हमारे पुरखों ने तप, त्याग, ज्ञान, विचार और वीरता आदि के जो महान् अनुष्ठान किये थे, वो सब इसी भूमि में। भारतवर्ष की चप्पा चप्पा भूमि उनके महान् कार्यों की याद दिलाती है। हमारे पुरखा भी इसी प्रकार अपने पुरखों की याद इस देश के साथ साथ करते आये हैं। बहुत प्राचीन काल में उनके ये गीत थे—

जिसपे वीर नाचते गाते ऊलें जय-दुन्दुभी बजाय,
सुखदा हो सो भूमि हमारी मेट वैरियों का समुदाय[1]!

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

१. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥
—अथर्व-वेद, १२, १, ४१।

ये हेमाद्रि पहाड़ियां जंगल तरु-सम्पन्न
हे पृथ्वी हम को करें दे सुख-दान प्रसन्न[१]।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

जिसपे भूतपूर्व पुरुषों ने सफल किये विक्रम के काम,
जिस पर देवों ने असुरों को जीता अपना कर यश नाम,
जिसपे धेनु अश्व-गण पक्षी करते हैं सुख-भोग निवास,
तेज सौंप हम को कर देगी वह भू बड़भागी सविलास[२]।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

इसी प्रकार अगले काल में फिर वे कहते थे—

पुण्यश्लोक प्रतापी उनको बतलाते हैं देव उदार
स्वर्ग-मुक्ति-दाता भारत में जन्में जो मनुष्य-तन धार[३]।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

धर्म और संस्कृति के आचार्यों की तरह कालिदास जैसे कवियों ने भी भारतीय एकता का आदर्श बनाये रक्खा[४]। कर्मठ राजनीतिज्ञ, सैनिक, योद्धा और शासक उस आदर्श को किस प्रकार चरितार्थ करने का जतन करते रहे, सो भारतवर्ष का इतिहास बतलाता है।

---

१. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
—वहीं १२, १, ११।

२. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्त्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥
—वहीं, १२, १, ५।

३. गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
—विष्णु पु० २, ३, २४।

४. रघु० दि० । दे० [illegible] ४८, तथा परिशिष्ट १ (५)।

§४९. उसकी अपने पुरखों और उनके ऋण की याद

अपनी मातृभूमि को उक्त प्रकार से अपने पुरखों की कर्मस्थली के रूप में याद करना अथवा अपने देश के साथ साथ अपने पुरखों की याद करना राष्ट्रीय एकता और इतिहास की एकता का दूसरा आवश्यक लक्षण है।

केवल भूमि की ममता से, उसे अपना देश और एक देश समझने से, इतिहास में एक-राष्ट्रीय जीवन पैदा नहीं होता, जब तक कि उस भूमि में अपने से पहले हो चुके पुरखों की अनेक पीढ़ियों को भी ममतापूर्वक अपना समझ कर याद न किया जाय, और अपने बाद आने वाले वंशजों की पीढ़ियों के लिए भी वही ममता अनुभव न की जाय। क्योंकि इतिहास एक मनुष्य-समाज के किसी एक समय के खड़े जीवन का ही वृत्तान्त नहीं है, किन्तु अनेक पीढ़ियों की सिलसिलेवार और परम्परागत जीवन-धारा का चित्र है। और पिछली पीढ़ियों का जीवन-कार्य और चरित हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू में बुनियाद के रूप में विद्यमान है।

हम ज़रा सा भी सोचें तो हमारे पुरखों का हम पर कितना एहसान दीखता है! अपने देश की यह जो शकल आज हम देखते हैं यह उन्हीं की मेहनत का नतीजा है। जिस भूमि से हमें अपना भोजन मिलता और जो हमें रहने के लिए शरण देती है, उसे पहले पहल उन्हीं ने अपने भुजबल से जीता और खेती के लायक बनाया था। आज भी दो चार बरस हम उसकी सम्भाल करना छोड़ दें तो जंगली घास और बूटियाँ उसे घेर लें और जंगली जन्तु उस पर मँडराने लगें! भारतवर्ष की हरी भरी भूमि जिसमें आज हजारों लाखों खेत, बगीचे, तालाब नहरें, गाँव, बस्तियाँ, शहर, रास्ते, किले, कारखाने, राजधानियाँ, बाज़ार और बन्दरगाह विद्यमान हैं, कभी उसी

तरह के डरावने जंगलों से घिरी थी, और उसे हमारे पुरखों ने साफ़ किया और बसाया था। प्रत्येक पीढ़ी प्रयत्नपूर्वक उसकी सम्भाल और रक्षा न करती आय तो उसे फिर जंगल घेर लें या पराये लोग हथिया लें। सार यह कि अपने देश की जो बाह्य शकल आज हमें दीख पड़ती है, वह हमारे पुरखों के लगातार अनथक परिश्रम और जागरूकता का फल है।

और क्या केवल बाह्य भौतिक वस्तुओं के लिए हम अपने पुरखों के ऋणी हैं? हमारे समाज-संगठन, हमारी प्रथाओं और संस्थाओं, हमारे रीति-रवाजों, हमारे जीवन की समूची परिपाटी, नहीं नहीं, हमारी भाषा, हमारी बोलचाल और हमारी विचारशैली तक पर हमारे पुरखों की छाप लगी है। जिन विद्याओं और विज्ञानों को सीख कर आज हम शिक्षित कहलाते हैं उनके लिए भी तो हम उन्हीं के ऋणी हैं।

यह ऋण का विचार धार्मिक रंग में रंगा हुआ हमारे देश में बहुत पुराना चला आता है। हम पर देवों, पितरों, ऋषियों और मनुष्यों[1] का ऋण है,—ऋषियों का ऋण हमारे ज्ञान की पूंजी के रूप में—और उस ऋण को चुकाने का उपाय यह है कि हम अपनी सन्तति पर वैसा ही ऋण चढ़ा दें! लेकिन पूर्वजों का ऋण वंशजों को दे कर चुकाया जा सकता है इस विचित्र कल्पना से सूचित होता है कि पूर्वजों और वंशजों के सिलसिले में एक ताँता—एक धारावाहिक एकात्मकता—जारी है। ऋण पाने

---

१. बाद में केवल तीन ऋण गिने जाते थे, पर शुरू में चौथा—मनुष्यों या पड़ोसियों का—भी था; दे० शतपथ ब्राह्मण, १, ७, २, १—जहाँ यह विचार अपने सब से पहले रूप में दर्ज है।

और उतारने का यह ताँता हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकसूत्रता को और हमारे इतिहास की एक धारा को बनाये रखता है[1]।

और अपने उस ऋण का ठीक ठीक ब्यौरा हमें अपने देश के इतिहास ही से मिल सकता है।

---

१. चार ऋणों के सिद्धान्त की इस प्रकार की व्याख्या शायद यह पहली बार की जा रही है। बेशक इस व्याख्या में पुराने शब्दों में आधुनिक विचार डाल दिये गये हैं। किन्तु प्रत्येक नया व्याख्याकार और सम्पादक पुराने सिद्धान्तों की व्याख्या या सम्पादन करते समय सदा उन्हें नये रंग में और नई दृष्टि से प्रकट करता ही है, और उसके ऐसा करने पर तब तक आपत्ति नहीं की जाती जब तक उसकी व्याख्या सिद्धान्त के मूल अभिप्राय के प्रतिकूल न हो। यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि ऐसी व्याख्या मूल सिद्धान्त के अभिप्राय के अनुकूल है। भले ही ऋणों का सिद्धान्त धार्मिक विचारों या अन्धविश्वासों में भी लिपटा रहा हो, तो भी वह अपने मानने वालों में समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का विचार पैदा किये बिना न रह सकता था। उसके मानने वाले के लिए अपने को एक सामाजिक और राजनैतिक प्राणी या एक समूह का अंग समझना आवश्यक था, जिस समाज और समूह में वह अपने पूर्वजों और वंशजों को भी गिनता था। इस प्रकार के समाज को ही हम जाति या राष्ट्र कहते हैं। विशेष कर ऋषि-ऋण की कल्पना जिस कर्त्तव्य के विचार को पैदा करती थी वह तो आधुनिक दृष्टि से भी एक ऊँची कर्त्तव्य-भावना कहला सकता है।

परिशिष्ट

१.

प्राचीन भूगोल-विषयक नई बातें

—:※:—

(१) कम्बोज देश

प्राचीन भारत के इतिहास में कम्बोज एक बहुत प्रसिद्ध देश था, किन्तु आज तक उसकी ठीक पहचान नहीं हुई थी। उसकी ठीक शिनाख्त करने का कितना महत्त्व है यह इसीसे प्रकट होगा कि इस परिशिष्ट में शुक्तिमान् पर्वत के सिवाय प्राचीन स्थानों की जितनी पहचानें की गई हैं, उन सबकी कुंजी कम्बोज की पहचान से ही मिली है, और प्राचीन भूगोल और इतिहास के अनेक धुँधले पहलू उसकी पहचान से स्पष्ट हो गये हैं।

फूशे ने नेपाली अनुश्रुति के अनुसार कम्बोज को तिब्बत का कोई भाग माना है[1], किन्तु डा० ग्रियर्सन दिखला चुके हैं[2] कि वह कोई न कोई ईरानी आर्य-भाषी प्रदेश था। इसीलिए साधारणतया विद्वान लोग कम्बोज का अर्थ पूरबी अफ़गानिस्तान करते हैं। किन्तु पूरबी अफ़गानिस्तान के एक एक प्रदेश की अब हम पूरी छानबीन करते हैं तो कम्बोज को उनमें से किसी पर भी नहीं बैठा सकते। झोब-घाटी से अफ़रीदी-तीरा तक पक्थ देश था, फिर काबुल नदी के उत्तर कपिश और गान्धार। कम्बोज उन तीनों में से किसी का समानार्थक रहा हो सो कोई नहीं कहता।

१. आइकोनोग्राफ़ी बूधीक (बौद्ध प्रतिमा-कला), पृ० १३४, वि० स्मिथ की अर्ली हिस्टरी ऑफ़ इंडिया, ४र्थ सं०, पृ० १८३ पर निर्देश।

२. ज० रा० ए० सो०, १९११, पृ० ८०२।

डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी का कहना है कि कश्मीर के दक्खिन छिभाल प्रदेश कम्बोज था[1]। खेद है कि डा० देवदत्त रा० भण्डारकर ने भी उस निकम्मी शिनाख्त को स्वीकार कर लिया है[2]। महाभारत में एक प्रतीक है—

कर्ण राजपुरं गत्वा काम्भोजा निर्जितास्त्वया (८, ४, ५)।

डा० रायचौधुरी के मत में इससे सिद्ध होता है कि राजपुर कम्बोज की राजधानी थी, और वह आधुनिक राजौरी के सिवाय कोई नहीं है। सोलह महाजनपदों के समय (८ वीं-७ वीं शताब्दी ई० पू०) का कम्बोज महाजनपद वही था। डा० रायचौधुरी के अनुसार उसकी पच्छिमी सीमा काफिरिस्तान तक पहुँचती थी, अर्थात् जेहलम और सिन्ध के बीच का हजारा ज़िला भी उसमें सम्मिलित था। उन्होंने स्वयं यह भी सिद्ध किया है कि उस युग में गान्धार महाजनपद में कश्मीर भी सम्मिलित था,[3] किन्तु यह बात उन्हें नहीं सूझ पड़ी कि यदि कश्मीर के दक्खिन और पच्छिम का छिभाल और हज़ारा प्रदेश स्वतन्त्र कम्बोज रहा हो तो गान्धार का राज्य उसे लिये बिना कश्मीर कैसे ले सकता था! दारयवहु ने जिन भारतीय प्रदेशों को जीता था, उनमें 'कम्बुजिय' का भी नाम है, और कम्बोज अशोक के साम्राज्य में भी था। डा० भण्डारकर के मत में दारयवहु और अशोक के अभिलेखों का कम्बोज वही है।

किन्तु छिभाल प्रदेश प्राचीन भारत में सदा अभिसार के नाम से प्रसिद्ध रहा है। दारयवहु और अशोक के समय के बीच जब सिकन्दर पंजाब में आया, तब उसके साथियों ने उसका नाम अभिसार ही पाया। महाभारत में भी अर्जुन के

१. पोलिटिकल हिस्टरी औफ़ एन्श्येन्ट इंडिया, पृ० ९४-९५।
२. 'अशोक', पृ० २१।
३. पोलि० हि०, पृ० ९३।

दिग्विजय में अभिसारी का नाम कम्बोज से अलग है, और वह ठीक 'उरगा' से जो कि स्पष्टतः 'उरशा' का अपपाठ है, पहले है[1]। उरशा प्राचीन हज़ारा है, जो अभिसार से ठीक सटा हुआ है; वह भी कम्बोज का एक अंश रहा हो इसके लिए रत्ती भर भी प्रमाण नहीं है। फिर समूचे भारतीय इतिहास और वाङ्मय में कम्बोज एक सीमान्त का देश है। किन्तु उक्त शिनाख्त के अनुसार वह न केवल सिन्ध नदी के प्रत्युत जेहलम के भी पूरब और कश्मीर के दक्खिन जा पड़ता है! कश्मीर के पड़ोस के किसी देश की शिनाख्त करते समय उक्त विद्वानों को कम से कम कल्हण की साक्षी पर तो ध्यान देना उचित था। कल्हण ने ललितादित्य के दिग्विजय में कम्बोज को कश्मीर के उत्तर रक्खा है[2] जब कि ये विद्वान् उसे दक्खिन रखते हैं! राजौरी जीतने की ललितादित्य को ज़रूरत भी न थी, क्योंकि वह कम से कम उस के दादा के समय से उसके पूर्वजों के अधीन थी। रघु के दिग्विजय में[3] कालिदास ने कहा है कि कम्बोज जीत कर रघु की सेना हिमालय पर चढ़ी और फिर किन्नरों को जीतने के बाद उसपर से उतरी। यदि हिमालय की दक्खिनी उपत्यका की तरफ़ से चढ़ी होती तो भारतवर्ष के बजाय चीनी तुर्किस्तान में जा उतरती!

सन् १९२८ में मैंने पहले पहल कल्हण की राहनुमाई में चलते हुए कम्बोज को चितराल से मिलाया था, क्योंकि ललितादित्य के दिग्विजय में उसका नाम तु×खार के ठीक पहले है, और तु×खार या तुखार अरब लेखकों का तुखारिस्तान या आधुनिक बदख़्शां है। चितराल कश्मीर के उत्तरपच्छिम है, और उसीमें से बदख़्शां जाने के दोरा आदि जोतों के रास्ते

१. सभापर्व, अध्याय २८।
२. राजतरंगिणी, ४, १६३–१६५।
३. रघुवंश, ४, ७१–८०।

है। किन्तु एक सन्देह मेरे मन में बना रहा। वह यह कि चितराल की जनता दरद-जातीय है, और असल दरदों से वह जिस अंश में भिन्न है वह भेद भी प्राचीन काल से न था क्योंकि चितराल की भाषा खोवार दरदी में गल्चा के जिस मिश्रण से बनी है वह मिश्रण नया है। तब प्राचीन काल में चितराली खो लोग भी दरद कहलाते होंगे, और दरदों का नाम ललितादित्य के दिग्विजय में कम्बोजों से अलग है।

गल्चा-प्रदेश को पहले मैं भारत से बाहर का समझता था, पर हाल में भारतवर्ष के स्वाभाविक प्रान्तों और परम्परागत सीमाओं को पड़तालते समय 'अफगानस्थान' की विवेचना करते हुए मुझे यह देखने की उत्सुकता हुई कि गल्चा-प्रदेश का उस से क्या सम्बन्ध है। तब उस प्रदेश का अध्ययन करने पर मुझे यह सूझ पड़ा कि वही प्राचीन कम्बोज देश है, क्योंकि वह कश्मीर के ठीक उत्तर है और तु×खार या बदख्शां से उसकी एक तरफ़ की समूची सीमा सटी हुई है, जब कि चितराल का केवल एक कोना बदख्शां को छूता है। यह बात सूझने पर मैंने यह देखना चाहा कि यास्क ने (५०० ई० पू० से ज़रूर पहले) कम्बोजों की भाषा के विषय में यह जो लिखा है कि

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते[1],

इस बात का कोई निशान कहीं अब तक गल्चा भाषाओं में बचा हुआ तो नहीं है। मुझे अत्यन्त आश्चर्य और आनन्द हुआ जब मैंने यह पाया कि गल्चा भाषाओं में अब भी जाने के अर्थ में शवति धातु बर्त्ता जाता है! डा० ग्रियर्सन के नमूनों में, शिग्नी बोली में सुत=गया (पृ० ४६८)[2],

१. निरुक्त, १, १, २।

२. ये सब पृष्ठों के प्रतीक भा० भा० प० १० के हैं।

प्रौकोत्नी में सेत=जाना (४७३), सुइत=गया (४७४), और सौम=जाऊंगा (४७६); ज़ेबकी, संग्लीची या इश्काशिमी में शुद=गया (५००); मुंजानी या मूंगी में शिश्रा=जाना (५११); युइदुग़ा में शुई=गया (५२४)। केवल वखी के नमूनों में शवति किया नहीं है।

ग्रियर्सन का कहना है कि बदख्शां में भी पहले ग़ल्चा बोली थी[1]। बदख्शां और पामीर की जनता एक ही है—ताजिक। कोकचा के पूरब का बदख्शां का पूरबी भाग भौगोलिक दृष्टि से भी पामीर सा ही है। इस बात पर ध्यान देते हुए कि प्राचीन जनपद प्रायः आधुनिक बोलियों के क्षेत्रों से मिलते हैं[2], हम पामीर और बदख्शां दोनों को कम्बोज देश में सम्मिलित कर सकते हैं। महाभारत से इस मत को पुष्टि मिलती है क्योंकि वहाँ कम्बोज और वाह्लीक का नाम प्रायः एक द्वन्द्व में आता है[3], जिससे ज्ञान पड़ता है कि कम्बोज की सीमा वाह्लीक या बलख़ से लगती थी, अर्थात् बदख्शां उस में सम्मिलित था। रघु के उत्तर-दिग्विजय में कम्बोज देश से उसे रत्नों की भेंट मिलने का कालिदास ने उल्लेख किया है[4]; आज तक भी ग़ल्चा-भाषी शहर मुंजान के पास पन्ना की खानें हैं। कालिदास ने वहाँ कम्बोजों का उल्लेख वंक्षु-तट के हूणों के ठीक बाद किया है[5]। आधुनिक विद्वान यह निश्चय कर चुके हैं कि वंक्षु पर हूणों का इलाका वही था जिसे पारसी लोग हैतल तथा अरब खुत्तल कहते थे।

१. वहीं, पृ० ५२७।
२. दे० ऊपर § २६।
३. जैसे ६, ७५, १७; २, २८, २२–२३।
४. रघुवंश ४, ७०।
५. वहीं ४, ६८–६९।

अरब भूगोल-लेखकों के अनुसार वह आमू की धाराओं वत्तान (आधुनिक वत्त) और अक्साब (आधुनिक अक्सू या मुर्गाब) के बीच का दोआब था[१]। उस की सीमा गल्चा-प्रदेश की ठीक उत्तरी सीमा के साथ साथ सटी हुई है।

कल्हण ने कम्बोज और तु × खार के नाम अलग अलग दिये हैं। चीनी इतिहास-लेखक बतलाते हैं कि 'ताहिया' लोग पहले चीन के कानसू प्रान्त की पच्छिमी सीमा पर रहते थे, फिर वे वंक्षु-काँठे में आये डा० मार्क्वार्ट का मत है कि चीनियों के ताहिया और अरबों के तुखार एक ही हैं। इस प्रकार तुखार लोग वंक्षु-तट पर दूसरी शताब्दी ई० पू० के करीब आये, और तब से उसका नाम तु × खार-देश या तुखारिस्तान पड़ा। कम्बोज और तु × खार तब एक दूसरे के पर्याय हो गये, और नये नाम ने पुराने को दबा दिया। बोलौर, पामीर, बदख्शां, सभी किसी समय तु × खार-देश में सम्मिलित थे। बाद जब 'युइची' का वह साम्राज्य टूट गया, तब केवल बदख्शां का नाम तु × खार रह गया। इस प्रकार कम्बोज और तु × खार दोनों नाम प्राचीन कम्बोज उर्फ़ तु × खार के दो टुकड़ों के नाम रह गये।

किन्तु कम्बोज शब्द का ठीक अर्थ बहुत ज़माने तक भूला न गया था, सो इस प्रसिद्ध फ़ारसी पद्य से प्रकट होता है—

अगर क़हत्-उर रिजाल उफ़्तद् ज़े आँकस् उन्स कम गीरी—
यके अफ़ग़ाँ, दोयम कम्बोह, सोयम बद्ज़ात कश्मीरी।

---

१. एस्० कृष्णस्वामी आयंगर—हन प्रौब्लेम इन इण्डियन हिस्ट्री (भारतीय इतिहास में हूण-समस्या), इण्डियन आण्टिक्वेरी, १९१५, पृ० ६५ आदि।

जे अफ़ग़ाँ हीलाँ मीआयद, जे कम्बोह कीना मीआयद,
जे कश्मीरी नमी आयद बजुज़ अन्दोहो दिलगीरी !'[1]

डा० रायचौधुरी वाले महाभारत के प्रतीक का या तो यह अर्थ है कि कम्बोज देश का रास्ता राजौरी हो कर जाता था, और या वहां राजपुर से राजगृह का अभिप्राय है। बलख की राजधानी का नाम भी राजगृह था, सो हम ह्वान च्वाङ के यात्रा-विवरण से जानते हैं[2]। नेपाली अनुश्रुति कम्बोज को तिब्बत में क्यों रखती है, सो भी अब स्पष्ट हो गया, क्योंकि नेपाल की तरफ़ से देखने वाले को पामीर तिब्बत का बढ़ाव ही दीखता है।

(२) कम्बोज के पड़ोस में गंगा

कम्बोज देश के भूगोल का अध्ययन करते हुए मुझे यह सूझ पड़ा कि कालिदास ने क्यों उसके ठीक बाद गंगा का उल्लेख किया है[3]। कम्बोज की पूरबी सीमा सीता (यारकन्द) नदी है। एक विशेष काल के प्राचीन भारतीय विश्वास के अनुसार सीता और गंगा का स्रोत एक ही अनवतप्त सरोवर था। सीता उसके उत्तर और गंगा पूरब निकलती थी[4]। इस प्रकार उस सरोवर के उत्तर से पूरब परिक्रमा करने से रघु की सेना कम्बोज के ठीक बाद गंगा के स्रोत पर पहुँच सकती थी। कालिदास का अभिप्राय कश्मीर के उत्तर की किशनगंगा (प्राचीन नाम कृष्णा), उत्तर-गंगा (व्यथ की शाखा सिन्ध) या उत्तरगंगा की एक शाखा के स्रोत गंगा-सरोवर से नहीं हो सकता, क्योंकि वे सब

---

१. इस पद्य के लिए मैं काशी के पं० रामकुमार चौबे एम० ए० एल० टी० का अनुगृहीत हूं।

२. वैटर्स, १, पृ० १०८।

३. रघुवंश, ४, ७३।

४. अभिधर्म-कोश ३, ५७; वैटर्स—य्वान् च्वाङ, १, पृ० ३२–३५।

हिमालय की गर्भ-शृंखला के नीचे हैं, जब कि कालिदास के वर्णन के अनुसार रघु की सेना कम्बोज के बाद हिमालय वहीं और किन्नरों को जीतने के बाद उस पर से उतरी थी। स्पष्ट ही हिमालय से अभिप्राय वहां गर्भ-शृंखला से कारकोरम शृंखला तक के पहाड़ों से है।

अनवतप्त सरोवर ठीक कहां पर माना जाता था सो निश्चय हो सके तो हम रघु का ठीक रास्ता जान सकें। सिन्धु उस सरोवर के दक्खिन उतरती मानी जाती थी, और सीता उत्तर। यदि शिओक को सिन्धु की मुख्य धारा मानें तो कारकोरम जोत के पास के गलों पर उक्त बात ठीक घटती है—सिन्धु उनके दक्खिन और सीता उत्तर उतरती है। किन्तु वंक्षु और गंगा का स्रोत वहां कैसे माना जा सकता था? इस सम्बन्ध में हमें आधुनिक भूगोलशास्त्रियों के इस मत पर ध्यान रखना चाहिए कि पामीर और कारकोरम की अनेक नदियों के प्रस्रवण-क्षेत्र गलों के रास्तों की पथरीली रचनाओं (moraine formations) में परिवर्तन होते रहने के कारण ऐतिहासिक काल में बदलते रहे हैं। एक प्रामाणिक विद्वान का कहना है कि यह असम्भव नहीं है कि कभी ज़ोरकुल झील का पानी पूरब और चकमकतिन का पच्छिम —आजकल से ठीक उलटा—बहता रहा हो[1]। इस दशा में क्या यह सम्भव नहीं कि कारकोरम के गलों से पूरब तरफ़ प्राचीन काल में कोई धारा बहती रही हो जिसके विषय में यह भ्रम रहा हो कि वह गंगा की उपरली धारा है? ऐसा भ्रम होना अस्वाभाविक नहीं है; पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध तक आधुनिक

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (ब्रिटिश विश्वकोश), ११ वां संस्करण, जि० २०, पृ० ६४७।

भूगोलवेत्ता निश्चय से न जानते थे कि तिब्बत की चाङ्पो ब्रह्मपुत्र की उपरली धारा है या इरावती या साल्वीन की।

(३) किरात

कम्बोज और उसके पड़ोस की गंगा के पहचाने जाने पर मैंने रघुवंश के अनुसार रघु के उत्तर-दिग्विजय के बाकी रास्ते को टटोलने का जतन किया। उस रास्ते में गंगा के बाद किरातों का उल्लेख है[1]। कम्बोज से रघु का रास्ता कारकोरम जोत तक था, उसके आगे के किरात निश्चय से लदाख या मरयुल के तिब्बती थे; बोलौर में कालिदास के समय तक तिब्बती न थे। पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि भारत के पूरवी छोर के म्लेच्छ किरात थे[2]। यहां कालिदास ने तिब्बतियों के लिए वही शब्द बर्त्ता है, जिससे प्रकट है कि किरात शब्द ठीक आधुनिक तिब्बतबर्मी के अर्थ में चलता था।

(४) उत्सव-सङ्केत और किन्नर

किरातों का देश लाँघने के बाद रघु की 'पर्वतीय गणों से घोर लड़ाई हुई' जहां 'उत्सवसङ्केतों को विरतोत्सव कर के उसने किन्नरों से अपने विजय के गीत गवाये'। उसके बाद वह कैलाश पर्वत गये बिना हिमालय से उतर आया[3]। अन्तिम बात से सूचित होता है कि किन्नरों का देश हिमालय की गर्भ-शृंखला में और कैलाश के पच्छिम था। वह लदाख के परली तरफ़ भी नहीं हो सकता। महाभारत में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में भी किम्पुरुषों के देश के बाद गुह्यकों का हाटक

१. रघुवंश ४, ७६।

२. वायु पु०, १, ४५, ८२; विष्णु पु० २, ३, ८; दे० ऊपर § ४४।

३. रघुवंश, ४, ७७—८०।

देश आता है और फिर मान सरोवर[1]। इस प्रकार किन्नर-देश की स्थिति आधुनिक कनौर से ठीक मिलती है।

उक्त निर्देश के अनुसार किन्नर किरातों से भिन्न थे। भारतीय वाङ्मय में उनका नाम यक्षों, गन्धर्वों के साथ आता है। आधुनिक नैरुक्तों के अनुसार कनौरी एक किरात (तिब्बत-बर्मी) बोली है। किन्तु उसमें और उसके पड़ोस तथा पूरबी नेपाल की कुछ और बोलियों में—जिनमें से एक का नाम याखा भी है—स्पष्ट अ-किरात लक्षण हैं, और उन लक्षणों में वे सब मुण्ड या शाबर भाषाओं का अनुसरण करती हैं[2]। शताब्दियों किरात भाषाओं से घिरे रहने के बावजूद उन बोलियों में आग्नेय लक्षण बने रहने से यह परिणाम निकलता है कि वे मूलतः आग्नेय थीं, और बाद में किरात ढाँचे में ढल गईं। यह प्रक्रिया हिमालय की कई भाषाओं में हमारे देखते चल रही है। सन् १८४७ में जब कि हॉग्सन ने उन भाषाओं का अध्ययन किया, नेपाल की सुनवार बोली आग्नेय भाषाओं की तरह सर्वनामाख्यातिक थी, अब वह असर्वनामाख्यातिक हो गई है[3]!

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि पुराण-महाभारत में यक्ष हिमालय के निवासी हैं, किन्तु जातकों में वे लंका तथा पूर्वी सागर के द्वीपों के हैं[4]। अर्थात् हमारे पूर्वजों के मत में भी पूर्वी द्वीपों के निवासी तथा हिमालय के कुछ हिस्सों के निवासी एक ही जाति के थे। पार्जीटर का कहना है कि हिमालय

१. सभापर्व, २६, १—५।
२. भा० भा० प० १, १, पृ० ५६—५९।
३. वहीं, पृ० ५६।
४. वलाहस्स जातक (१९६), समुद्दवाणिज जातक (४६६)।

और पूर्वी भारत का सम्बन्ध पुराणों में भी परिचित है[१]। इससे यह प्रकट है कि आधुनिक भाषा-पड़ताल ने कनौरी, याखा आदि बोलियों की आग्नेय भाषाओं से जो सगोत्रता खोज निकाली है, उसे प्राचीन भारतवासी भी पहचानते थे। उस पहचान का एक और प्रमाण भी मुझे मिला है। टालमी के भूगोल में मर्त्त-बान की खाड़ी से मलक्का की समुद्रसन्धि[२] तक के समुद्र को 'सिनस् सबरिकस्' कहा है। उस समुद्र के तट पर सुवर्णभूमि के मोन या तलैंग लोग रहते थे, उसके ठीक सामने भारत के पूरवी तट पर तेलंगण और शबरी नदी है। इस प्रकार पूर्वी भारत के आग्नेयदेशी शबरों और सुवर्णभूमि के आग्नेयदेशी मोनों, दोनो के लिए शबर शब्द का प्रयोग किया गया दीखत है, जिससे न केवल यह प्रकट होता है कि उनकी सगोत्रता ज्ञात थी, प्रत्युत ऐसा भी जान पड़ता है कि शबर शब्द अग्नेयदेशी स्कन्ध की दोनो शाखाओं—मुण्ड और मोन-ख्मेर—के लिए, या दोनो के विशेष अंशों के लिए सामान्य रूप से बर्त्ता जाता था।

किन्नर = कनौर शिनाख़्त को थेरी-अपदान की निम्नलिखित गाथाओं से भी, जिन में थेरी सामा के एक पहले किन्नरी-जन्म की कहानी है, पुष्टि मिलती है—

चन्दभागा-नदी-तीरे अहोसि किन्नरी तदा।
अथऽद्दसं देवदेवं चङ्कमन्तं नरासभम्॥ इत्यादि[३]।

---

१. प्रा० भ०, पृ० २६७।

२. समुद्र-सन्धि = जलग्रीवा, straits। यह सुन्दर शब्द आधुनिक सिंहली वाङ्मय से मैंने लिया है, और मुझे हिन्दी 'जलग्रीवा' से कहीं अच्छा लगा है।

३. थेरीगाथा पर धम्मपाल की अत्थकथा परमत्थदीपनी में उद्धृत, पालि टैक्स्ट सोसाइटी संस्करण, पृ० ४५-४६।

चन्द्रभागा का स्रोत कनौर के पच्छिमी किनारे पड़ता है।

उत्सव-संकेतों का नाम किन्नरों के साथ आया है, तथा किरातों और किन्नरों के नाम के बीच। इससे मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि वे लदाख और कनौर के बीच की कनौरी-वर्ग की छोटी छोटी बोलियाँ—मनचाटी, लाहुली, बुनान, रंगलोई, कनाशी—बोलने वालों के पूर्वज थे। पार्जीटर ने रघुवंश की एक टीका से उस शब्द की जो व्याख्या उद्‌धृत की है[1] उस से प्रकट होता है कि 'उत्सव-सङ्केत' उनका नाम न था, प्रत्युत एक समाजशास्त्रीय परिभाषा थी, जो उन जातियों के लिए प्रयुक्त होती थी जिनमें विवाह-बन्धन स्थापित न हो, और खुली प्रमिश्रणा (promiscuity) या अनावरण[2] जारी हो—सङ्केत करने से कोई स्त्री या पुरुष 'उत्सव' के लिए आ सकता हो। विवाह-बन्धन की शिथिलता उक्त जातियों में आज तक है, जिस बात से मेरी शिनाख़्त को और भी पुष्टि मिलती है।

(५) कालिदास के अनुसार भारतवर्ष की सीमायें, और उसका भारत की राष्ट्रीय एकता-विषयक आदर्श

रघु के उत्तर-दिग्विजय का मार्ग इस प्रकार टटोल चुकने पर मुझे यह दीख पड़ा कि कालिदास ने भारत की उत्तरी और पच्छिमी सीमायें रघु के दिग्विजय के बहाने हूबहू वही बतलाई हैं, जो मैंने आधुनिक भूगोलशास्त्र, जनविज्ञान और भाषाविज्ञान के आधार पर निश्चित की हैं! यह ध्यान देने की

१. मार्कण्डेय पुराण का अनुवाद, पृ० ३१९।

२. अनावरण शब्द हमारे पुराने वाङ्मय में प्रमिश्रणा के अर्थ में आता है, जैसे—अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने (महाभारत १, १२८.४)।

बात है कि रघु के समूचे दिग्विजय में संक्षेप की खातिर केवल सीमान्त देशों के नाम आये हैं, किन्तु उनसे भारत की पूरी परिक्रमा हो गई है। इस पुस्तक में कही गई भारत की सीमाओं और कालिदास की सीमाओं में केवल इतना अन्तर है कि कालिदास ने सिंहल को भारत में शामिल नहीं किया। अन्यथा रघु के दिग्विजय के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस क्रान्तदर्शी महाकवि की प्रतिभा ने भारत की भौगोलिक और जातीय एकता का अनुभव किया है, और उसे एक आदर्श के रूप में चित्रित किया है। यह माना जाता है कि वह गुप्त सम्राटों के आदर्श से अनुप्राणित था। क्या उलटी बात नहीं हो सकती कि गुप्त विजेताओं को उसके आदर्शवाद ने अनुप्राणित किया हो? और उसकी प्रतिभा ने विक्रमादित्यों के कर्त्तृत्व को जगाया हो?

(६) मौर्य-साम्राज्य की उत्तरी सीमा और अशोक का खोतन पर अधिकार

मौर्य-सम्राज्य की उत्तरी सीमा अब तक हेरात से बन्दे-बाबा और हिन्दूकुश के साथ साथ मानी जाती है, और हिमालय के अन्दर कहाँ तक थी, इस विषय में कुछ स्पष्ट नहीं कहा जाता। अब कम्बोज की शिनाख्त से वह हिमालय और हिन्दूकुश के पार रंगकुल झील तक पहुँच गई! कम्बोज मौर्यों के 'विजित' में था।

खोतन और भारत की अनुश्रुति बतलाती है कि खोतन अशोक के अधीन था, और उसी के समय वहाँ पहला भारतीय उपनिवेश बसा। इस बात की सचाई पर अब तक बहुत सन्देह किया जाता रहा है, पर अब यह सच निकल आय तो कुछ भी अचरज न होगा, कारण, कम्बोज की पूरबी सीमा से खोतन तक घोड़े की पीठ पर चार-पांच रोज में पहुँचा जा सकता है।

अशोक के १३ वें प्रधान शिलाभिलेख में उसके 'विजित' में नाभक और नाभपंक्ति देश का भी नाम है। डा० हुल्श ने ब्रह्म-पुराण के एक प्रतीक का निर्देश किया है जिसके अनुसार नाभिक-पुर उत्तर कुरु में था[1]। एक दूसरे विद्वान ने दिखलाया है कि उत्तर कुरु देश शकों और हूणों के देशों के सीमान्त पर थियान शान के तले माना जाता था[2]। थियान शान हमारे कम्बोज के उत्तरपूरब पड़ोस में हैं, इसलिए इस बात की अब बड़ी सम्भावना है कि नाभक देश शायद खोतन वाला उपनिवेश ही था।

(७) अर्जुन का उत्तर-दिग्विजय

(अ) 'कुलिंग' से प्राग्ज्योतिष

रघु का उत्तर-दिग्विजय-मार्ग टटोला जा चुकने पर मैंने अर्जुन के मार्ग को टटोलने का जतन किया। उसकी यात्रा दिग्विजय-पर्व के पहले तीन, सभापर्व के २७-२८-२९ वें, अध्यायों में है। सब से पहले 'कुलिंग' देश का नाम है, जो स्पष्टतः 'कुलिन्द' का अप-पाठ है। इन्द्रप्रस्थ या दिल्ली के ठीक उत्तर के पहाड़ों से कुनिन्द-गण के सिक्के मिले हैं[3], और टालमी ने भी व्यास से टोंस तक के पहाड़ी प्रदेश का नाम 'कुलिन्द्रीन' लिखा है। पहले अध्याय में कुलिन्द से प्राग्ज्योतिष तक की विजय-यात्रा है। स्पष्ट है कि वह क्युँठल से भूटान तक की यात्रा है, किन्तु उस में अर्जुन उपत्यका में ही रहा या मध्य शृंखला के अन्दर भी गया, और गया तो कहां तक, सो कुछ

१. कौर्पस इंस्क्रप्शनम इंडिकेरम् (भारतीय अभिलेख-संग्रह) जि०१, भूमिका पृ० ३६।

२. इंडियन आंटिक्वेरी, १९१९, पृ० ६५ आदि।

३. आर्कियोलौजिकल सर्वे औफ़ इंडिया रिपोर्ट्स् (भारतीय पुरातत्व-पड़ताल-वृत्तान्त), जि. १४, पृ० १३७।

नहीं कहा जा सकता। कुलिन्द और प्राग्ज्योतिष के बीच केवल तीन देश प्रतीत होते हैं—पहला साल्वपुर जिसका राजा साल्वराज द्युमत्सेन था, फिर कट-देश जिसपर सुनाभ राज्य करता था, और तीसरे शाकलद्वीप जिस में सात द्वीप या दोआब शामिल थे और अनेक राजा राज करते थे। शाकल-द्वीप इस प्रकार एक लम्बा प्रदेश था। नेपाल का नाम न होना एक उल्लेख-योग्य बात है। अभी हम देखेंगे कि यह समूचा सन्दर्भ १७६ ई० पू० के बाद का नहीं हो सकता। इस प्रकार दूसरी शताब्दी ई० पू० के शुरू में प्राग्ज्योतिष का राज्य स्थापित हो चुका था, पर 'नेपाल' नाम प्रचलित न हुआ था।

(इ) *अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, उपगिरि; 'उलूक', लोहित, सुम्ह और चोल*

दूसरी यात्रा जो दूसरे अध्याय में है, कुलिन्द से उत्तरपच्छिम की है, क्योंकि उसमें कश्मीर, कम्बोज आदि के नाम हैं। शुरू में ही कहा है कि अर्जुन ने अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता (३)[1]। मेरे विचार में ये जातिवाची शब्द हैं जिनका अर्थ है—गर्भ-शृंखला, मध्य शृंखला और बाह्य शृंखला। आगे विवरण है। पहले उसने भारी युद्ध के बाद 'उलूक'-वासी बृहन्त को जीता (५-६)। फिर सेनाबिन्दु के राज्य को आसानी से अधीन कर (१०) तथा मोदापुर और 'सुदामा सुसंकुल' को ले कर वह उत्तर 'उलूक' देश को पहुँचा (११), और वहां छावनी डाल कर अपने आदमियों को 'पञ्च गणों' को जीतने भेजा (१२)। फिर सेनाबिन्दु की राजधानी देवप्रस्थ को लौट कर वहां छावनी डाली (१३),—स्पष्ट है कि वह स्थान उत्तर और दक्खिन 'उलूक' के बीच कहीं

१. कोष्ठों में श्लोकों की संख्यायें हैं।

पर था। वहां से राजा पौरव के किले पर चढ़ाई की (१४), और वीर पहाड़ियों को हरा कर उसे जीता (१५)। तब सात 'दस्यु' उत्सवसङ्केत गणों को काबू किया (१६), और कश्मीर तथा लोहित के दस मण्डलों के विजय के लिए प्रस्थान किया (१७)।

उक्त नामों में से उत्सव-सङ्केत हमारे पूर्व-परिचित हैं, और बाकी सब भी कश्मीर के पूरब होने चाहिएँ। मेरे विचार में 'उलूक' 'कुलूत' (कुल्लू) का अपपाठ है। यदि ऐसा हो तो पौरव का राज्य सम्भवतः चम्बा में रहा होगा। सुदामा पर्वत का नाम रामायण २, ६८, १८ में, अयोध्या से केकय जाने वाले सन्देश-हरों की यात्रा में, भी आता है[1]। उससे प्रतीत होता है कि वह ब्यास नदी के नजदीक कहीं था। हमारे हिसाब से भी उसे वहीं होना चाहिए। 'सुसंकुलम्' का मूल रूप कहीं 'सुसंकटम्' तो नहीं है? संकट माने जोत या घाटा।

कश्मीर और लोहित के रास्ते में त्रिगर्त्त (कांगड़ा), दार्व (डुगर) और कोकनद ने स्वयं अर्जुन की अधीनता मान ली (१८), पर अभिसारी (छिभाल) और 'उरगा' (उरशा या हज़ारा) मुकाबले के बिना अधीन न हुए (१९), और सिंहपुर (नमक-पहाड़ों के प्रदेश की राजधानी) तो भारी युद्ध के बाद हाथ आया (२०)। इन नामों में से कोकनद के सिवाय सब परिचित हैं।

लोहित मेरे विचार में रोह या अफ़गानिस्तान है, क्योंकि आगे वाल्हीक या बलख का उल्लेख है (२२), और बलख का रास्ता रोह में से ही हो सकता था।

१. ययुर्मध्येन वाल्हीकान् (वाहीकान्?) सुदामानं च पर्वतम्।
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शल्मलीम्॥

विष्णुपद वह पहाड़ था जिस पर महरौली वाली राजा चन्द्र की लोहे की लाट पहले गाड़ी गई थी।

आगे सुम्हों और चोलों के विजय का ज़िक्र है (२१), और फिर बाल्हीक या बलख के। बलख के पच्छिमदक्खिन का रेतीली पहाड़ियों का प्रदेश अब भी चोल कहलाता है, बाल्हीक के बाद तो अर्जुन का रास्ता निश्चय से उत्तरपूरब था, बाल्हीक से पहले ही उसका उत्तरपूरब रुख कर लेना सर्वथा संगत है। इस प्रकार चोल आधुनिक चोल है। बाकी रहा सुम्ह; सो अफ़ग़ानिस्तान से चोल के रास्ते पर होना चाहिए। मेरे विचार में वह या तो बामियां घाटी है और या चरीकर-काओशां के बीच परवाँ प्रदेश। हम अभी देखेंगे कि महाभारत का यह सन्दर्भ दूसरी शताब्दी ई० पू० का है। पहली शताब्दी ई० पू० में 'युइची' जाति के पाँच सरदारों के राज्य इन्हीं प्रदेशों में थे, और उनके जो नाम चीनी ऐतिहासिकों ने लिखे हैं, उनमें से कोई एक 'सुम्ह' का चीनी रूप हो सो बहुत सम्भव है। संस्कृत और चीनी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के कोई पंडित इस विषय पर प्रकाश डाल सकेंगे।

(उ) ऋषिक या 'युइची'

बलख से पूरब फिर कर अर्जुन ने दरदों और काम्भोजों को अधीन किया (२३)। आगे स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उसने उत्तर-पूरब के जंगलों में रहने वाले दस्युओं को जीता (२५), जिनमें लोह, परम काम्भोज और ऋषिक के नाम दिये हैं। ऋषिकों के देश में बहुत ही भयानक लड़ाई हुई।

लोह कौन थे मैं नहीं कह सकता, पर परम काम्भोज बहुत सम्भवतः जरफ़शां-स्रोत पर रहने वाले यग़नोबी[1] नाम की ग़ल्चा

---

1. भा. भा. प. १०, पृ० ४५५। दे. सन् १९१४ में रूसी भाषा में प्रकाशित एशियाई रूस की ऐटलस से बोमैन की 'दि न्यू वर्ल्ड-प्रौब्लेम्स् इन पोलिटिकल ज्यौग्रफ़ी' (नई दुनियां—उसके राजनैतिक भूगोल की समस्यायें) नामक पुस्तक (प्र०—ज्यौर्ज हैरप, लंडन १९२२) के पृ० १०६ पर उद्धृत रूसी तुर्किस्तान की जातियों का नक्शा।

बोली बोलने वाले ताजिकों के पूर्वज थे। ऋषिकों की स्थिति ठीक चीनी तुर्किस्तान में प्राचीन 'युइची' देश में जा पड़ती है, और मेरा कहना है कि युइची, युचि, युषि या उषि संस्कृत ऋषि का ही चीनी रूपान्तर है।

चीनी ऐतिहासिकों के अनुसार 'युइची' लोग दूसरी शताब्दी ई० पू० में वंक्षु-तट पर 'ताहिया' के शासक बन गये थे। वंक्षु-तट के दूसरी शताब्दी ई० पू० के 'ताहिया' कानसू सीमान्त के प्राचीन 'ताहिया' ही थे, सो मार्कार्ट और फ्रांके सिद्ध कर चुके हैं। किन्तु वंक्षु-तट के 'ताहिया' के विषय में चीनियों ने जो लिखा है, तथा वहीं के तुखारों के विषय में अरबों ने जो लिखा है, उसके मिलान से, तथा इस बात से कि य्वान च्वाङ ने कानसू-सीमान्त के देश को 'तु हु लो' कहा है, मार्कार्ट ने यह स्थापना की है कि ताहिया= तुखार। फ्रांके इस स्थापना को नहीं मानते, पर स्टेन कोनौ और अन्य अनेक विद्वान मानते हैं। अरबों के तुखार तथा यूनानी-रोमन लेखकों के Tochari एक ही जाति हैं। पौम्पियस त्रोगस ने लिखा है कि 'असियान' लोग (Asiani) तोखारों के शासक बन गये थे। 'असियान' के बजाय स्त्राबो ने 'असि' (Asioi) लिखा है। मार्कार्ट का मत था कि 'असि' या 'असियान' 'युइची' के नाम का ही रूपान्तर है, और त्रोगस का उक्त कथन चीनी लेखकों के इस कथन का रूपान्तर कि युइची ताहिया के शासक बने।

युइची और तुखारों का ठीक सम्बन्ध क्या था, इस विषय में आधुनिक विद्वान लैस्सन के समय से अनेक कल्पनायें और खोज करते आ रहे हैं। डा० कोनौ ने मार्कार्ट का अनुसरण करते हुए बड़ी पते की बात सुझाई है[1]। वे कहते हैं कि मध्य एशिया की

१. औन दि इंडोसिथियन डिनैस्टीज़ ऐंड देयर प्लेस इन दि हिस्टरी औफ़ सिविलिज़ेशन (भारतीय शक राजवंश, उनका सभ्यता के इतिहास में स्थान), मौडर्न रिव्यू, अप्रैल १९२१।

इस आर्य भाषा को उइगूर तुर्क तुखारी कहते थे, और आधुनिक विद्वान भी तुखारी कहते हैं, उसके अपने लेखों में उसे 'आर्षी' कहा है; आर्षी शब्द का असि और युइची से सम्बन्ध है; और तुखार तथा असि यद्यपि दो विभिन्न जातियों के नाम हैं, तो भी असि तुखारों के शासक थे, और उन अल्पसंख्यक शासकों का नाम उस बहुसंख्यक विजित जाति के नाम पर उसी प्रकार चपक गया, जैसे त्यूतनी शाखा के फ्रांक विजेताओं का नाम लातीनी-केल्त शाखा की एक जाति की भाषा पर, अथवा त्यूतनी कबीले रोस का नाम स्लाव शाखा की एक बड़ी जाति (रूसी) पर।

मार्कार्ट और कोनौ की स्थापनायें अब 'युइची' के मूल अभिजन में 'ऋषिक' जाति के पाये जाने से निश्चित सिद्धान्त मानी जानी चाहिएँ। क्योंकि अब तद्धित आर्षी शब्द का मूल नाम ऋषिक भी मिल गया, और वह मिला भी ठीक उस जगह जहां 'युइची' लोग हिंयगनू या हूणों द्वारा खदेड़े जाने से पहले रहते थे। क्योंकि हूण राजा मोदुक ने १७६ ई० पू० में चीन-सम्राट के पास खबर भेजी थी कि उसने 'युइची' का देश छीन कर उन्हें पश्चिम खदेड़ दिया है, इसलिए महाभारत का उक्त सन्दर्भ १७६ ई० पू० से पहले का होना चाहिए।

(ऋ) किम्पुरुष-देश से उत्तर कुरु

अर्जुन की तीसरी यात्रा के विषय में अभी मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वह पहली दो यात्राओं के रास्तों के बीच मध्य उत्तर के एक चक्करदार रास्ते से कनौर से शुरू हो कर थियान शान पर समाप्त होती है, और वह प्रायः तिब्बत के बीचोंबीच है। टंक देश, मानस सरोवर, हेमकूट, हरिवर्ष, इलावृत, मेरु, गन्धमादन आदि नाम उस में सुनाई देते हैं। तङ्कण या तंगणों का ही नाम है जिनका देश बदरिकाश्रम वाली घाटी में था, सो

मध्यकालीन अभिलेखों से जाना जा चुका है। उस रास्ते को पूरी तरह टटोलने का जतन मैंने अभी तक नहीं किया।

(८) कारस्कर

चितराल को पहले मैंने कम्बोज मान लिया था, पर जब कम्बोज उसके और उत्तर पाया गया, तब चितराल के प्राचीन नाम की मैं तलाश करने लगा। चितराल नदी, शहर और इलाके को अब भी काष्कार कहते हैं। बौधायन धर्मसूत्र, १, १, ३० में जिन देशों को जाने के बाद प्रायश्चित्त का विधान किया है उनमें कारस्कर भी एक है। यह बात उत्तरपच्छिम के किसी देश पर घट सकती है। कारस्कर से काष्कार बन जाना भी सुगम है; रेफ के कारण स् का ष् हो जाना, फिर रेफ का लोप और उसके कारण पिछले स्वर का दीर्घ हो जाना बहुत सुगम है।

(९) स्त्री-राज्य

राजतरंगिणी में ललितादित्य के उत्तर-दिग्विजय के देशों में स्त्रीराज्य का भी नाम है। वात्स्यायन के कामसूत्र में, जिसका समय प्रो० चकलादार ने तीसरी शताब्दी ई० सिद्ध किया है, स्त्रीराज्य की ऐसी प्रथाओं का उल्लेख है जिनका पता उस देश के बारीक प्रेक्षण के बिना नहीं मिल सकता था। इससे सिद्ध है कि वह एक वास्तविक देश था। मुझे अपने आदरणीय मित्र भिक्खु राहुल सांकृत्यायन त्रिपिटकाचार्य से, जो डेढ़ बरस तक तिब्बत में दूसरी बार यात्रा निवास और अध्ययन कर के लौटे हैं, वहाँ के रवाजों के विषय में जो कुछ पता मिला है, उससे मैंने यह नतीजा निकाला है कि कामसूत्र में वर्णित स्त्रीराज्य वाली प्रथाएँ तिब्बत में अब तक हैं, और उनका वहाँ सदा से रहना बहुत स्वाभाविक है; इसी कारण स्त्रीराज्य तिब्बत का कोई हिस्सा था। २, ६ में[1] जिस प्रथा का उल्लेख है, वह वास्तव में

---

१. पृ० १४४ (निर्णयसागर सं०, १९००)।

ज्ञातियों के संवेशन का एक साधारण प्रकार है। देश का
खरपन और आर्थिक दरिद्रता उन्हें बहुपतिक विवाह करने
को बाधित करती है। उन विवाहों में वे लोग वह नियन्त्रण
नहीं रखते जो कहानी कहती है कि पाण्डवों ने रक्खा था—
अर्थात् एक समय में एक। रात को पहरने के कपड़े दिन वालों
से जुदा हों, और सोते समय भी कपड़े पहने जाँय, ऐसी ऐयाशी
वे नहीं जानते। रात को समूचा परिवार एक बड़े 'चुटकू'
(गुलमा या गुदमा = संस्कृत कुतप, मुलायम बालों वाले कम्बल)
जिसे थैले की तरह तीन तरफ़ से सी रक्खा होता है, सोता
है। कामसूत्र २, ५ में[1] स्त्रीराज्य की जिस प्रथा का उल्लेख है,
वह मेरे विचार में बहुपतिक विवाह की सहज प्रतिक्रिया और
परिणाम है, क्योंकि जो गरीब स्त्रियां विवाह नहीं कर पातीं उन
के लिए 'अपद्रव्य' के प्रयोग से पारस्परिक तृप्ति करने के बिना
क्या चारा हो सकता है? फिर ५, ६ में[2] जिस प्रथा का उल्लेख
है, वह भी स्पष्टतः बहुपतिक विवाह को सूचित करती है।
२, ५ वाले निर्देश की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—
वज्रवन्तदेशात्पश्चिमेन स्त्रीराज्यम्। भूटान को तिब्बती लोग
ब्रुगयुल—बिजली का देश—कहते हैं; सप्तकौशिकी के पूरब उनका
दोर्जे-लिङ—वज्रद्वीप—है। यदि वज्रवन्त देश से अभिप्राय
इन दोनों में से किसी से हो, और 'पश्चिमेन' से उत्तरपच्छिम
समझा जाय, तो आधुनिक चाङ प्रदेश ठीक स्त्रीराज्य होगा।
भिक्खु राहुल ने विशेष कर उसी चाङ के विषय में उन प्रथाओं
का पता दिया है। २, ६ वाले प्रतीक की टीका में लिखा है—स्त्री-

---

१. पृ० १२०।

२. पृ० ३०१।

राज्यसमीप एव परतो ग्रामनारीविषयः । यदि चाङ स्त्रीराज्य हो, तो ग्रामनारी-विषय ङरी हो सकता है ।

(१०) शुक्तिमान् पर्वत

शुक्तिमान् पर्वत-विषयक विवाद बहुत पुराना है । कनिंगहाम और बेगलर ने उसे शुक्तिमती नदी का जन्मदाता मान कर क्रमशः छत्तीसगढ़-बस्तर बीच की पर्वतश्रृंखला तथा हजारीबाग के उत्तर के पहाड़ माना था[१] । पार्जीटर ने सिद्ध किया कि शुक्तिमती केन नदी का नाम है, परन्तु उसका शुक्तिमान् पर्वत से कोई सम्बन्ध नहीं है । मार्कण्डेय पुराण में शुक्तिमती का स्रोत विन्ध्य पर्वत को कहा है, और सभी पुराणों में शुक्तिमान् से निकलने वाली नदियों की जो परिगणना है उसमें शुक्तिमती का नाम नहीं है । पार्जीटर की अन्तिम सम्मति यह थी कि शुक्तिमान् का अर्थ गारो और खासी-जयन्तिया पहाड़ करना चाहिए क्योंकि महाभारत में भीम के पूर्व-दिग्विजय में शुक्तिमान् का नाम है, और पूरब में और कोई उल्लेखयोग्य पहाड़ हैं नहीं[२] ।

उसके बाद डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने शुक्तिमान् की सुलेमान पहाड़ से शिनाख़्त की है[३] । शुक्तिमान् से निकलने वाली नदियों के नाम पुराणों में इस प्रकार दिये हैं—

ऋषिका सुकुमारी च मन्दगा मन्दवाहिनी ।
कूपा पलाशिनी चैव शुक्तिमत्प्रभवाः स्मृताः ॥ (वायु)

---

१. आर्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट्स् १७, पृ० २४, ६९; ८, पृ० १२४-१२५ ।

२. मार्कण्डेय पु. का अनुवाद पृ० २८५, २८६, ३०६ ।

३. दूसरी भारतीय ओरियंटल काम्फ्रेंस (प्राच्य-विद्या-सम्मेलन) कलकत्ता का विवरण, पृ० ६०९ आदि ।

ऋषिकुल्या कुमारी च मन्दगा मन्दवाहिनी।
कृपा पलाशिनी........................ (मार्कण्डेय)

मत्स्य में 'ऋषिका' और 'पलाशिनी' के बाजाय 'काशिका' और 'पाशिनी' पाठ है। डा० मजूमदार का कहना है कि कूपा = कुभा (काबुल नदी), कुमारी = कुनार, मन्दगा या मन्दवाहिनी = हेलमन्द, पाशिनी = पंजशीर, ऋषिकुल्या = इसिकला = यूनानियों की एवुअरपला जो कि सिन्ध के पच्छिम की हिन्दूकुश से निकलने वाली कोई धारा थी। साथ ही उनका कहना है कि शुक्तिमान् नाम हिन्दूकुश से दक्खिन तरफ़ भारत के पच्छिमी सीमान्त की समूची पर्वतशृंखला का है [जिसमें केवल एक अंश में अब वह सुलेमान रूप में पाया जाता है।

भीम के पूर्व-दिग्विजय में शुक्तिमान् का नाम, उनका कहना है कि, गलती से आ गया है, जैसे अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में सुम्ह, चोल और प्राग्ज्योतिष का नाम गलती से है, या नकुल के पश्चिम-दिग्विजय में उत्सव-संकेतों का गलती से। प्राग्ज्योतिष को उत्तर में गिनने में क्या गलती है, सो मुझे समझ नहीं आया। सुम्ह और चोल का उत्तर में परिगणन गलत है सो बात हमारी पहली अज्ञान की दशा में कही जा सकती थी, रघु-दिग्विजय वाला लेख भेजते समय तक मैंने इसे अज्ञानवश गलत कहा था, किन्तु बाद जब मुझे उत्तरी सुम्ह और चोल का पता सूझा तब मैंने एक परिशिष्ट भेज कर उसे ठीक किया। उत्सव-संकेतों का नाम पच्छिम में होने में कुछ भी गलती नहीं हैं, क्योंकि उत्सव-संकेत केवल एक समाजशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द हैं, उस किस्म की कोई जाति पच्छिम में भी रही हो सो सम्भव है। यह बात पार्जीटर पहले ही दिखला चुके हैं[1]। तो भी भीम के पूर्व-दिग्विजय में शुक्तिमान् का नाम क्यों और कैसे है, उसकी व्याख्या

१. मार्कण्डेय पु० पृ० ३१९।

मैं अभी नहीं कर सकता, क्योंकि मैंने उस दिग्विजय के मार्ग को अभी तक टटोल नहीं देखा है

काबुल और हेलमन्द नदियों के स्रोत एक ही पहाड़ में हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर हेलमन्द के नाम में मन्दगा या मन्दवाहिनी का मन्द शब्द नहीं टटोला जा सकता, क्योंकि उसका मूल नाम अवस्ता में हएतुमन्त (सेतुमन्त) है। उन दोनो नदियों का स्रोत काबुल शहर के पच्छिम संगलख पहाड़ से है, जो हिन्दूकुश की एक दक्खिनपच्छिम बढ़ी हुई बाँहीं है। उस बाहीं को और विद्यमान सुलेमान पहाड़ को एक शृंखला कहना आश्चर्यजनक है, सुलेमान पहाड़ वास्तव में सीमान्त का पहाड़ है ही नहीं, सिन्ध की धारायें गोमल आदि उसके पच्छिम पार से आती हैं। ख़ास सुलेमान से निकलने वाली नदियां हैं—गुद, विहोवा, लूणी, संगर, रखनी, काहा, बेलाब, तेरातानी, चकर, बेजी और लोरालाई। किन्तु गोमल के स्रोत वाली वज़ीरिस्तान और गज़नी के बीच की पर्वत-शृंखला भी पच्छिमी सुलेमान कहलाती है; और यदि डा० मजूमदार के मत की यह व्याख्या की जाय कि संगलख-शृंखला, पच्छिम सुलेमान शृंखला, टोबा-काकड़ शृंखला, तथा कलात के दक्खिन की हरबोल, हालार और खीरथर शृंखलायें मिला कर पच्छिम सीमा की समूची पर्वतपरम्परा शुक्तिमान् कहलाती थी, तो कुमारी नदी की शिनाख्त कलात वाली कुआर से की जा सकती है। किन्तु कुनार (चितराल, काष्कार या यारखूं) के स्रोत वाले पहाड़ को और सुलेमान को एक कहने से तो हमें संस्कृत नैयायिकों का गोमयपायसीय न्याय—गोमयं पायसं गव्यत्वात्, गोबर दूध है क्योंकि वह गाय के पेट से निकलता है—याद आ जाता है! कुनार का स्रोत हिन्दूकुश की पूरबी जड़ में है जिसके दूसरी तरफ़ पामीर-ए-वखाँ है। डा० मजूमदार जैसे प्रामाणिक विद्वान उसमें

और सुलेमान में भेद नहीं कर सकते, इससे केवल यही सूचित होता है कि भौगोलिक विषयों को हमारे देश में अभी तक बहुत हलकेपन से हथियाया जाता है।

मैं शुक्तिमान् पर्वत की कोई शिनाख्त अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं कर सकता, किन्तु उस सम्बन्ध में एक दो बातों की तरफ़ मुझे ध्यान दिलाना है। एक तो यह कि महेन्द्र आदि 'कुल-पर्वत' हैं. और कुल-पर्वत तथा मर्यादा-पर्वत (सीमान्त के पर्वत) ये दो शायद प्राचीन भारतीय भूगोल की भिन्न भिन्न परिभाषायें हैं। दूसरे

> महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः
> विन्ध्यश्च परियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः,

इस परिगणन में एक क्रम है। महेन्द्र दक्खिन भारत के उत्तर-पूरबी छोर पर है, वहां से हम पूरब तट के साथ दक्खिन चलते हैं, नालमलइ से एलामलइ-आनमलइ तक सब पर्वत मेरे विचार में इस परिगणन के मलय में सम्मिलित हैं। फिर पच्छिमी तट के साथ उत्तर घूम कर हम सह्य का साथ पकड़ते हैं। ऋक्ष पर्वत सह्याद्रि के उत्तरी छोर से पच्छिम से पूरब भारत के आरपार चला गया है। फिर उसके पूरबी छोर से उत्तर घूम कर विन्ध्य और उसके आगे पारियात्र है। स्पष्ट है कि शुक्तिमान् सह्य और ऋक्ष के बीच कहीं होना चाहिए। या तो वह सह्य के उत्तरी छोर या ऋक्ष के पच्छिमी छोर पर हो, किन्तु वहां गुंजाइश नहीं के बराबर है। इसलिए मेरा कहना है कि शुक्तिमान् हैदराबाद-गोलकुंडा वाले पठार का नाम है, जो पूरबी घाट (महेन्द्र, मलय) और पच्छिमी घाट (सह्य) के बीच और दोनो से अलग है। उस पठार की नदियों में से सब से प्रसिद्ध मूसी है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'ऋषिका' वास्तव में 'मूषिका' का अपपाठ है। पेन्नार, [illegible], [illegible] और [illegible] में से

कोई एक सुकुमारी हो सकती है; मुल्लामारी कागना की शाखा ही है। मन्दगा तब शायद मानेर हो, मन्दवाहिनी मुनेरु, और पलाशिनी या पाशिनी पालेर या पल्लेरु। इस प्रकार नदियों का परिगणन भी एकक्रम से होगा। कृपा या कूपा का अन्दाज़ मैं नहीं कर सका।

मेरी यह शिनाख़्त अभी तक आरज़ी है, क्योंकि शुक्तिमान् पर्वत-विषयक कुल निर्देशों का तुलनात्मक अध्ययन अभी तक मैंने नहीं किया।

२.

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा, राष्ट्रलिपि, राष्ट्रीय वर्णमाला और परिभाषायें; तथा कुछ प्रान्तों की भाषा-लिपि-समस्या

(१) हमारे देश के भाषाविषयक ऐक्य-अनैक्य का प्रश्न

जिन लोगों के मन में भारतवर्ष के अनैक्य का विचार घर कर गया है वे उसकी भाषाओं की बहुतायत की प्रायः दोहाई देते हैं; दूसरी तरफ़ बड़े जतन से सिद्ध किया जाता है कि उसकी एक राष्ट्रभाषा है, और उसके कई पक्षपाती यहां तक सपना लेते हैं कि किसी दिन सब प्रान्तिक भाषाओं का वही स्थान ले लेगी। इस प्रश्न का एक तरफ़ जहाँ भारतवर्ष के इतिहास की व्याख्या से सम्बन्ध है, वहां दूसरी तरफ़ बड़ा व्यावहारिक महत्त्व भी है, जिससे इस वाद-विवाद में प्रायः गर्मी आ जाती है। अनैक्यवादियों का कहना है कि भारतवर्ष की सैकड़ों भाषायें हैं, और उसकी पुष्टि में वे भाषाविज्ञानियों का मत उद्धृत करते हैं; दूसरी तरफ़ ऐसा कहने वाले भी हैं कि समूचे उत्तर भारत, विंध्य-मेखला महाराष्ट्र और उड़ीसा की एक ही भाषा है, और बाकी सब उसकी बोलियां मात्र हैं। भाषाविज्ञानियों की पड़ताल के परिणामों को ठीक ठीक समझने का दोनों तरफ़ से जतन नहीं होता, और इसलिए व्यर्थ में विवाद बढ़ता है।

भारतवर्ष की वर्त्तमान भाषाओं की पूरी वैज्ञानिक पड़ताल सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन ने पिछले चालीस बरस लगातार की है, उन

जैसा प्रामाणिक विद्वान् इस विषय का इस समय शायद दूसरा कोई नहीं है। उनके हिसाब से भारतवर्ष में कुल १७९ भाषायें और ५४४ बोलियाँ हैं। सन् १९२१ की गणना में बर्मा-सहित भारत की कुल १८८ भाषायें और ४९ बोलियाँ गिनी गईं थीं। इन संख्याओं को देख कर पहला प्रश्न यही सामने आता है कि भाषा और बोली का लक्षण क्या है? दोनों में क्या भेद है? यों तो हर बीस कोस पर बोली बदल जाती है, नहीं नहीं, हर आदमी की बोली उसके पड़ोसी से कुछ बदलती है, पर बोली का पूरा बदलना किसे कहते हैं? और भाषा की भिन्नता की क्या पहचान है?

भारतीय भाषा-पड़ताल में इस विषय की विवेचना डा० ग्रियर्सन ने इस प्रकार की है—'सेंचुरी' कोष में भाषा और बोली का भेद यों किया गया है कि एक भाषा की अनेक बोलियां वे हैं जिनमें परस्परावबोध्यता हो, जिनमें से एक के बोलने वाले दूसरी को आप से आप समझ लें, किन्तु जहां एक वाणी के बोलने वाले जतन कर के सीखे बिना दूसरी को न समझ सकें वहां उन दोनों को भिन्न भिन्न भाषायें कहना चाहिए। किन्तु उत्तर भारत की आर्य भाषाओं पर ये लक्षण ठीक नहीं घटते, वहां परस्परानवबोध्यता भाषा-भेद की सदा कसौटी नहीं होती, क्योंकि बंगाल से पंजाब तक प्रत्येक नाम को शिक्षित व्यक्ति भी दुभाषिया है, और हिन्दी या हिन्दुस्तानी समझ सकता है। दूसरे उस समूचे देश में तथा राजपूताना, मध्य भारत और गुजरात में भी जनता का समूचा शब्दकोष जिसमें साधारण बर्ताव के लगभग सब शब्द हैं उच्चारण-भेदों को छोड़ कर एक ही है; इसलिए यह कहा और समझा जाता है कि बंगाल और पंजाब के बीच एक ही भाषा हिन्दी है, जिसकी बहुत सी स्थानीय बोलियां हैं। एक दृष्टि से यह ठीक है। किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से

छानबीन करने पर हिन्दी की इन तथा-कथित बोलियों में परस्पर बहुत अन्तर पाया जाता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से उन्हें एक भाषा की बोलियां मानना असम्भव है। बिहारी, पूरबी हिंदी और पछाँही हिन्दी इन तीन वर्गों में वे सब बँटती हैं। इस बँटवारे पर आपत्ति की गई है; नमूने के लिए, सन् १९२१ ई० के युक्त प्रान्त के गणना-वृत्तान्त अ० ३ § ३ में, जहां यह कहा गया है कि गोरखपुर का बिहारी बोलने वाला किसान झाँसी के पँछाहीं हिन्दी बोलने वाले की बात आसानी से समझ सकता है, और उन दोनों की वाणियों का अन्तर केवल दो बोलियों का अन्तर है, वह अन्तर उससे अधिक नहीं है जो इंग्लैण्ड में डेवन और ऐबर्डीन की बोलियों में है। (भा० भा० प०, १, १, पृ० २२-२३)

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए डा० ग्रियर्सन कहते हैं कि डेवन और ऐबर्डीन की बोलियों की वैज्ञानिक जांच उन्होंने नहीं की, यदि निरुक्तिशास्त्र की दृष्टि से वे भी दो भाषायें हों तो वैसा कहने में उन्हें कोई आपत्ति न होगी। इसीलिए परस्पर न समझा जा सकना मुख्य लक्षण नहीं है, व्याकरण के ढांचे की जांच से भाषाओं की भिन्नता या एकता निश्चित की जाती है। दूसरे जातीयता के भेद से। नमूने के लिए ओलन्देज़ (डच) और अंग्रेज़ी के व्याकरण-ढांचे में शायद कुछ भेद न होगा, पर वे दो भाषायें गिनी जाती हैं। उसी प्रकार व्याकरण और शब्दकोष को देखें तो आसमिया बँगला की वैसी ही एक बोली है जैसे चटगाउँनी, किन्तु जातीयता के भेद और स्वतन्त्र वाङ्मय होने से अब वह एक स्वतन्त्र भाषा हो गई है। (वहीं, पृ० २३-२४)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन का भाषा और बोली शब्दों का व्यवहार वैज्ञानिक अर्थों में है, न कि व्यावहारिक अर्थों में, किन्तु वैज्ञानिक एकता होते हुए भी जहां

व्यावहारिक अन्तर हो—जैसे बँगला और आसमिया का—वहां भी वे भाषा की भिन्नता मान लेते हैं। मैंने व्यावहारिक भेद, अर्थात् जातीयता के भेद, को ही मुख्य कसौटी माना है। यही कारण है कि जातीय भूमियों या स्वाभाविक प्रान्तों का बँटवारा करते समय मैंने अवध को मैदान के पछाहीं हिन्दी-प्रदेश के साथ मिला देने और बुन्देलखण्ड-बघेलखण्ड को परस्पर मिला देने में संकोच नहीं किया। समूचे भारत की एकता एक संघातमक एकता है। उसके स्वाभाविक प्रान्त एक एक स्वतन्त्र जीवित अंग हैं, और उनमें से कुछ को छोड़ कर बाकी की जो स्वतन्त्र भाषायें हैं उनका पूरा विकास होना चाहिए।

क्योंकि भारतीय भाषा-पड़ताल की संख्याओं का बाज़ारू विवादों में दुरुपयोग किया जाता है, इसलिए प्रसंगवश यह स्पष्ट कर दें कि डा० ग्रियर्सन की १७९ भाषाओं में से ११३ किरात (तिब्बतबर्मी) परिवार की हैं। हम देख चुके हैं कि किरात और आग्नेय-भाषियों की कुल मिला कर संख्या भारतीय जनता में सैकड़े पीछे केवल तीन है। इसीलिए जहां १७ आर्यावर्त्ती भाषाओं के बोलने वाले २२ करोड़ ६० लाख हैं, वहां किरात भाषाओं में से प्रत्येक के औसतन बोलने वाले १७ हज़ार हैं! उनमें से भी नागा पहाड़ों में कुल २९ नागा भाषायें हैं जिनमें से प्रत्येक के औसत बोलने वाले ११½ हज़ार हैं! सब मिला कर नागा-भाषियों की आबादी दिल्ली शहर की तीन चौथाई है!

हिन्दी को लोग पिछले कुछ समय से भारतवर्ष की 'राष्ट्र-भाषा' के रूप में पहचानने लगे हैं। वह भारतवर्ष के सब से मुख्य और केन्द्रिक कम से कम चार प्रान्तों (अन्तर्वेद, बिहार, चेदिकोशल, राजस्थान) की व्यावहारिक प्रान्तीय भाषा है। अन्य कई प्रान्तों में भी वह सुगमता से समझी जाती है। 'राष्ट्र

भाषा' का अनुवाद अंग्रेज़ी में 'लिंगुआ फ़्रांका' किया जाता है। उसके सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन कहते हैं—"ठीक ठीक कहें तो लिंगुआ फ़्रांका एक दोगली बोली होती है जो कि एक नाना-जातीय भाषा के तौर पर बर्त्ती जाती है। किन्तु हिन्दुस्तानी यद्यपि एक नानाजातीय भाषा के रूप में बर्त्ती जाती है, तो भी वह दोगली नहीं है। मुझे कोई दूसरा सुगम अंग्रेज़ी शब्द मालूम नहीं है जो कि अभीष्ट अभिप्राय (उसकी स्थिति) को लगभग ठीक दिखला सके।" (वहीं, पृ० १६४ टि० २)

मैंने जो हिन्दी-भाषियों की कुल संख्या १३ करोड़ कूती है वह मुख्यतः बिहारी, पूरबी हिन्दी, पछाँहीं हिन्दी, राजस्थानी, भीली और मध्य तथा पच्छिमी पहाड़ी की संख्यायें जोड़ने से बनती है। सन् १६२१ की गणना में इनमें से बहुत सी भाषाओं की संख्यायें असल से कम हैं, और पछाँहीं हिन्दी की असल से अधिक, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रान्तों में बहुत लोगों की बोली खाली 'हिन्दी' लिखी गई है जिससे पछाँहीं हिन्दी समझी गई है। किन्तु इस प्रकार की गलती का होना ही सिद्ध करता है कि इन सब प्रान्तों की व्यावहारिक भाषा एक है, और साधारण जनता व्याकरण-शास्त्रियों के बारीक भेदों को नहीं समझती। उक्त भाषा-भाषियों की कुल संख्या ११, ४२. ६५. १७५ आती है। उनके अतिरिक्त पंजाब की भाषा के विषय में विवाद है। कोई पंजाबी को हिन्दी की बोली-मात्र मानते हैं, कोई स्वतन्त्र भाषा। इस कारण मैंने उक्त संख्या में पूरबी पंजाब की पंजाबी बोली के अंक मिला दिये हैं और पच्छिमी पंजाब की हिन्दकी के नहीं मिलाये हैं; पंजाबी के वे अंक भी कुछ गलत तथा अधिक हैं, क्योंकि बहुत से हिन्द-की बोलने वाले उनमें गिने गये हैं। पंजाबी की संख्या मिला देने से हिन्दी-भाषियों की कुल संख्या १३,०५,२८. ७७१ बनती है। ध्यान रहे कि डा० ग्रियर्सन के मत में इसके अतिरिक्त गुजराती-

भाषियों का शब्दकोष भी उच्चारण-भेदों के सिवाय हिन्दी का ही है। हिन्दकी और सिन्धी के विषय में भी वही बात कही जा सकती है। सर अर्स्किन पेरी ने १८५३ ई० में जब पहले पहल विद्यमान भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण किया था[1] तब उन्होंने उन दोनों को भी हिन्दी की बोलियां ही गिना था।

इतनी बड़ी संख्या या इससे अधिक संख्या संसार में शायद दो ही एक और किसी भाषा बोलने वालों की होगी। उनमें से एक अंग्रेज़ी है, जो एक शक्तिशाली साम्राज्य की भाषा है; और उसके बोलने वालों की संख्या भी पिछले दो सौ बरस में ही इतनी बढ़ी है। दूसरी तरफ़ बिना किसी राजकीय सहारे के एक दलित दरिद्र दास जाति की भाषा होते हुए भी हिन्दी के बोलने वाले १३ करोड़ हैं, क्या यह भारतीय जाति की गहरी प्रसुप्त आन्तरिक एकता का उज्ज्वल प्रमाण नहीं है? और क्या यह हमारे पुरखों की शताब्दियों तक भारतवर्ष को एक राष्ट्र बनाने की चेतन चेष्टाओं का फल नहीं है? आधुनिक हिन्दीभषियों ने अपनी भाषा या संस्कृति को व्यापक बनाने की कोई वैसी चेष्टा नहीं की; उसकी आज की व्यापकता केवल इस कारण है कि वह उन भाषाओं की वंशज है जिनके बोलने वाले शताब्दियों पहले भारतवर्ष को एक राष्ट्र बनाने की चेष्टा करते रहे हैं।

(२) नागरी लिपि और भारतीय वर्णमाला

ध्यान रहे कि हिन्दी भाषा जितनी व्यापक है, नागरी लिपि उससे कहीं अधिक व्यापक है। उसे हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, पर्बतिया और संस्कृत, तथा कभी कभी पंजाबी और सिंधी

---

१. औन दि ज्यौग्राफ़िकल डिर्स्ट्रब्यूशन औफ़ दि प्रिन्सिपल लैंग्वेजेज़ औफ़ इंडिया (भारतवर्ष की प्रधान भाषाओं का भौगोलिक वर्गीकरण), ज० बम्बई ब्रांच रा० ए० सो०, जनवरी १८५३।

भी वर्त्तती हैं। गुजराती की पुस्तकें पहले पहल नागरी में छपी थीं, बाद में वहां कैथी या गुजराती लिपि चल पड़ी।

उसके अतिरिक्त, भारतीय वर्णमाला नागरी लिपि से भी अधिक व्यापक है, तथा उसकी एकता एक अपवाद को छोड़ कर समूचे भारतवर्ष की एकता को सूचित करती, प्रत्युत उसकी सीमाओं को भी लाँघ गई है, इस बात की ओर पहले पहल इस पुस्तक में ही ध्यान दिलाया जा रहा है। वैसे विद्वानों को यह बात सुपरिचित है, पर आश्चर्य है कि भारतवर्ष की एकता-विविधता के विवाद में "फंडेमेंटल यूनिटी ऑफ़ इंडिया" (भारतवर्ष की बुनियादी एकता) के लेखक डा० मुखर्जी का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। दूसरी तरफ़ स्व० श्रीयुत शारदाचरण मित्र के समय से अनेक भारतीय महापुरुषों की इच्छा और चेष्टा रही है कि भारतवर्ष की सब भाषायें नागरी लिपि में लिखी जायँ। यह विचार बहुत ही श्लाघनीय है, प्रत्युत हम तो यह चाहते हैं कि जहां जहां भारतीय वर्णमाला है वहां वह नागरी लिपि में ही लिखी जाने लगे। इस सम्बन्ध में दो बातों की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता है।

एक तो यह कि भारतवर्ष की तथा भारतीय वर्णमाला बर्त्तने वाली बाहर की भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का नागरी लिपि में सम्पादित और प्रकाशित होना आवश्यक है, जिससे उन भाषाओं के बोलने वालों को नागरी पढ़ने का अभ्यास हो। विशेष कर दो ग्रन्थ-संग्रहों के नागरी में प्रकाशित होने से उसका बड़ा प्रचार होगा। एक तो पालि तिपिटक के। वह अब तक रोमन, स्यामी और बरमी लिपियों में पूरा छप चुका है, किन्तु सिंहली में भी अभी तक अधूरा छपा है। संस्कृत ग्रन्थों के नागरी लिपि में छपने का रवाज हो जाने से नागरी का संसार भर में जितना प्रचार हो गया है, पालि तिपिटक का प्रामाणिक संस्करण

नागरी में निकल जाने से उसका उससे दूना प्रचार हो जायगा। दूसरे, श्रीगुरु-ग्रन्थ-साहेब के, जो समूचे पंजाब और सिन्ध में पढ़ा जाता है। आश्चर्य है कि अभी तक नागरी में उसका कोई अच्छा संस्करण नहीं हुआ, क्योंकि उसकी बहुत थोड़ी वाणियाँ पंजाबी भाषा या बोली में हैं, अधिक वाणियाँ पुरानी हिन्दी में ही हैं, और कुछ मराठी में भी।

दूसरी बात नागरी की पूर्णता के विषय में। उसकी जी खोल प्रशंसा संसार भर की वर्णमालाओं के विद्वान् 'दि आल्फ़ाबेट' (वर्णमाला) के लेखक सर आइज़क टेलर तथा अर्स्किन पेरी जैसे व्यक्ति कर चुके हैं। किन्तु हमें उस प्रशंसा से फूल न जाना चाहिए। भारतवर्ष की तथा भारतीय वर्णमाला बर्त्तने वाली बाहर की आधुनिक भाषाओं और बोलियों के सब उच्चारण प्राचीन संस्कृत वर्णमाला के नागरी रूप में ठीक ठीक प्रकट नहीं हो पाते। उदाहरण के लिए 'कैवल्य' के संस्कृत ऐ (अइ) तथा 'बैठक' के हिन्दी ऐ (अय) को हम एक ही तरह लिखते हैं, इसी तरह 'गौर' और 'और' के 'औ' और 'औ' को। चीनी, तिब्बती, कश्मीरी और पश्तो में च् के बदले एक दबा हुआ उच्चारण त् और स् के बीच होता है, अंग्रेज़ी वाले उसे ts लिखते हैं, जिसे अनजान हिन्दी लेखक 'त्स' समझ कर वैसा ही लिख डालते हैं, जैसे 'ह्वेन त्सांग्'! वह उच्चारण मराठी में भी है जहाँ वह 'च' ही लिखा जाता है। क्यों न उसके लिए एक अलग संकेत हो? इस प्रकार तिब्बती, तेलगु, सिंहली आदि में ह्रस्व एकार और ओकार हैं। ह्रस्व ए हिन्दकी में भी है, जैसे छोएर (लड़की) लेखेन (लेखनी) कुकेड़ (मुर्गी, कुकड़ी) आदि शब्दों में। अंग्रेज़ी के उसी उच्चारण को प्रकट करने के लिए नागरी वालों को बड़ा परेशान होना पड़ता है। क्यों न उसके लिए तेलुगु की तरह एक अलग संकेत हो? इस प्रकार के अन्य चिन्हों की भी ज़रूरत होगी, जिनमें से कुछ केवल

विद्वानों के काम आयेंगे और कुछ सर्वसाधारण के भी। किसी प्रामाणिक संस्था द्वारा उनके प्रकाशित होने की आवश्यकता है। उन के बिना नागरी को भारतीय वर्णमाला के समान व्यापक बनाने का सपना कभी सफल न होगा।

(३) उर्दू

भारतीय वर्णमाला की तरह भारतीय परिभाषाओं की एकता भी बहुत व्यापक है, और भारतीय एकता के प्रश्न में उसकी तरफ़ पहले पहल इस पुस्तक में ध्यान दिलाया जा रहा है। जनता में विज्ञान का प्रचार होने के लिए पारिभाषिक शब्द जहाँ तक ठेठ बोलचाल की बोली के हो सकें उतना अच्छा, किन्तु ऊँची परिभाषायें समूचे भारत के लिए संस्कृत-पालि की ही होंगी।

ध्यान रहे कि जब हम समूचे भारत की एक वर्णमाला और समान परिभाषाओं की बात कहते हैं, तब उर्दू हमारे कथन का अपवाद होती है। इन अंशों में उसका भारत की सब भाषाओं से विरोध है, किन्तु दूसरी तरफ़ उसकी रीढ़ और बुनियाद उस बोली से बनी है जो भारत की राष्ट्रभाषा है। हिन्दी में जो तत्सम शब्द हैं वे प्राय: बंगला मराठी गुजराती तेलगु आदि अन्य भारतीय भाषाओं के समान हैं, और तद्भव शब्द उन से जुदा। उर्दू के तद्भव शब्द ठीक हिन्दी के हैं, किन्तु तत्सम वह फ़ारसी-अरबी से लेती है। इस प्रकार भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं से न उसके तद्भव मिलते हैं, न तत्सम। हिन्दी वालों के लिए जहाँ वह केवल एक शैली का भेद है, वहाँ दूसरी भाषाओं वालों के लिए वह सोलह आना विदेशी भाषा और लिपि है। हिन्दी-उर्दू का यह भेद उन साधारण तत्सम शब्दों में ही प्रकट होने लगता है जो प्राथमिक शिक्षा में या रोज़ के व्यवहार में काम आते हैं। नमूने के लिए हिन्दी 'समत्रिबाहु त्रिभुज' के लिए बंगला मराठी तेलगु आदि में या तो ठीक वही शब्द या मिलता

हुआ शब्द होगा; किन्तु उर्दू में वह कहलाती है—मुसल्लिस् मुत्साविउल्-इज्ला !

(४) सिन्धी की लिपि-समस्या

आज से साठ सत्तर बरस पहले तक सिन्धी लिखित भाषा न थी, सर अर्स्किन पेरी ने १८५३ में उसे हिन्दी की बोली गिना था, सिन्ध की राजभाषा तब तक फ़ारसी थी। जब सिन्धी को लिखने की ज़रूरत पड़ी तब प्रश्न हुआ कि किस लिपि में लिखा जाय। शुरू में नागरी और अरबी दोनों लिपियाँ काम में लाई गईं, किन्तु सिन्ध के शिक्षित लोगों को जो प्रायः 'आमिल'[1] बिरादरी के हिन्दू थे फ़ारसी पढ़ने-लिखने का अभ्यास था, और उनके कारण अरबी लिपि अधिक चल गई। अब सिन्ध में हिन्दू स्त्रियां तक अरबी-सिन्धी पढ़ती-लिखती हैं; पंजाब में पुरुष भले ही उर्दू पढ़ें स्त्रियां नागरी या गुरमुखी लिपि का ही व्यवहार करती हैं। कुछ पुराने लोग, ख़ास कर ब्राह्मण, अब भी नागरी-सिन्धी बर्तते हैं, और उनके लिए नागरी में सिन्धी पुस्तकें छपती हैं। दूसरे लोग भी भारतीय लिपि से बिलकुल अपरिचित नहीं हैं, क्योंकि वाणिज्य-व्यापार में नागरी का विकार 'वणिको' अक्षर (जो कि पंजाब के 'लंडो' का एक रूप हैं) चलते हैं, और गुरुवाणी गुरमुखी अक्षरों में पढ़ी जाती है।

सिन्धी भाषा के अरबी लिपि अपनाने के कई स्पष्ट परिणाम सिन्धी वाङ्मय के लिए हुए हैं। एक तो यह कि कच्छी लोगों

१. सिन्धी हिन्दुओं के दो मुख्य विभाग हैं—आमिल और भाईबन्द। आमिल वे लोग हैं जो प्रायः सरकारी नौकरी करते रहे हैं। वे अब एक जात बन गये हैं ! जात-पाँत की अन्धी बुनियाद का वह एक अच्छा नमूना है।

ने, जिनकी भाषा असल में गुजराती रंगत लिये सिन्धी है, सिन्धी के बजाय गुजराती को अपना लिया है। सिन्ध ने अपना वह प्रदेश उदारतापूर्वक गुजरात को सौंप दिया है। दूसरे, सिन्धी का अपने पड़ोस और दूर की सब भारतीय भाषाओं— पड़ोस की हिन्दी, गुजराती और मराठी से, तथा दूर की बंगला वग़ैरा सभी भाषाओं—से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इन भाषाओं के वाङ्मय-विकास के लिए आपस का आदान-प्रदान कितना आवश्यक है, सो कहने की ज़रूरत नहीं। मारवाड़ का थर और कच्छ का रन सिन्ध को शेष भारत से उस तरह अलग नहीं कर सकते जैसे अरबी अक्षर! तीसरा और सबसे बुरा परिणाम एक और हुआ है। अरबी अक्षर भारतीय शब्दों भारतीय नामों और भारतीय विचारों को प्रकट करने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। भारतवर्ष के तमाम विद्यमान प्रान्तिक वाङ्मयों की बुनियादें दो हैं; एक तो संस्कृत या पालि वाङ्मय जिनके अनुवादों के आधार पर प्रत्येक नई भारतीय भाषा पहले पहल खड़ी होती है, दूसरे पच्छिमी जगत् की नई विद्यायें और विज्ञान जिनके विचारों को अपना कर भारतवर्ष के तमाम देसी वाङ्मय पुष्ट हो रहे हैं। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं भारतवर्ष की नई भाषायें पाश्चात्य विद्याओं और विज्ञानों को भी संस्कृत या पालि की सहायता के विना नहीं अपना सकतीं, उन्हें अपनाने के लिए परिभाषाओं की ज़रूरत होती है जो संस्कृत या पालि के धातुओं से ही ढाली जाती हैं। जो भाषा उन परिभाषाओं को न लेगी वह तुच्छ आरम्भिक ज्ञान से आगे न बढ़ सकेगी। सिन्धी इन दोनों सहारों को खो बैठी है। अभी तक उसका वाङ्मय बिलकुल आरम्भिक दशा में हैं, और अब भी अपना मार्ग बदल लेना उसके लिए बहुत सुगम है। सिन्ध के आमिल लोग महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों की तरह भारतवर्ष की सबसे

शिक्षित और जागरूक बिरादरियों में से एक हैं। किन्तु उनकी शिक्षा और जागरूकता के बावजूद सिन्धी वाङ्मय आरम्भिक पाठ्य पुस्तकों से आगे नहीं बढ़ा; और उससे भी बढ़ कर सिन्ध ने अपने प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व और संस्कृति का एक भी विद्वान पैदा नहीं किया, इस का कारण वही है।

(५) उत्तरपच्छिमी प्रान्तों की भाषा-समस्या

(अ) पंजाब की

पंजाब की भाषा-समस्या भारतीय राष्ट्रीयता की सब से जटिल समस्याओं में से एक है। 'पंजाबी' हिन्दी की एक बोली है या स्वतन्त्र भाषा? जब यह प्रश्न लोग पूछते हैं तब वे पंजाब की समूची वाणी को एक ही 'पंजाबी' मान बैठते हैं, वैज्ञानिक लोग जो पंजाबी और हिन्दकी का भेद करते हैं उसे नहीं समझते। उस प्रश्न का उत्तर पंजाबी के विषय में और है, तथा हिन्दकी के विषय में और। पंजाबी भीतरी उपशाखा के उसी केन्द्र-वर्ग में है जिसमें पछांही हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती हैं। पछांहीं हिन्दी का केन्द्रिक रूप ब्रजभाखा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाखा से जितनी दूर या निकट राजस्थानी है उतनी ही पंजाबी। तब उसे व्यावहारिक दृष्टि से स्वतन्त्र भाषा कहा जाय या केवल हिन्दी की बोली? यह बात मान लेने पर निर्भर है, क्योंकि जहां राजस्थानी स्वतन्त्र भाषा नहीं मानी जाती, वहां उसी वर्ग की गुजराती मानी जाती है। किन्तु गुजराती वाले दृष्टान्त के उत्तर में भी यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाखा से पंजाबी भले ही गुजराती जितनी दूर हो, राष्ट्रभाषा हिन्दी (खड़ी बोली) से तो वह राजस्थानी जितनी दूर भी नहीं है, क्योंकि खड़ी बोली ब्रजभाखा का पंजाबी में ढलता हुआ और पंजाबी के ठीक साथ लगा हुआ

रूप है। वास्तव में पछाँही हिन्दी की अपनी पाँच बोलियों के बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी के सबसे नज़दीक यदि कोई बोली है तो पंजाबी।

किन्तु हिन्दकी की बात इससे ठीक उलटी है। वह एकदम बाहरी उपशाखा की है। वह स्वतन्त्र बोली है या भाषा? इसका उत्तर भी मान लेने के अनुसार है। क्योंकि बाहरी शाखा की बिहारी बोलियाँ जहां केवल बोलियाँ बनी हुई हैं, वहां बंगला, उड़िया, मराठी और सिन्धी स्वतन्त्र भाषायें बन गई हैं।

किन्तु पंजाबी और हिन्दकी का आपस में कौन नाता है? साधारण तौर पर एक ही उपशाखा की भाषायें जहां परस्पर मिलती हैं वहां एक दूसरे में ऐसी घुलती हैं कि उनकी सीमायें तय करना कठिन होता है, जैसे राजस्थानी और गुजराती की, या बंगला और उड़िया की। किन्तु जहां भीतरी और बाहरी उपशाखा की भाषायें मिलती हैं वहां बनावटी मिश्रण भले ही हो, दोनो के प्रवाहों का रंग स्पष्ट अलग अलग दीखता है, जैसे राजस्थानी और सिन्धी की सीमा पर, या गुजराती और मराठी की सीमा पर। हिन्दकी और पंजाबी का मेल इसका अपवाद है, वे भिन्न उपशाखाओं की होते हुए परस्पर ऐसी घुली हैं जैसी कोई एक उपशाखा की दो भाषायें भी नहीं घुलीं। इसका कारण डा० ग्रियर्सन ने यों स्पष्ट किया है। पंजाबी दरदी रंगत लिये हुए पछाँही हिन्दी है, हिन्दकी वास्तव में दरदी भाषा है जिसपर पछाँही हिन्दी का रंग चढ़ गया है, इस प्रकार दोनो एक दूसरे में आसानी से घुल जाती हैं।

गुजरांवाला गुजरात और बार[1] की बोली पंजाबी और हिन्दकी का पूरा घोल है। यदि पंजाब की कोई स्वतन्त्र टकसाली भाषा बननी हो तो उसी बोली को बनना चाहिए।

---

१. लाहौर और झंग-मुलतान के बीच की बांगर भूमि।

असल में पंजाब की भाषा-विषयक पेचीदगी इन प्रश्नों के कारण इतनी नहीं है। वहां असल में यह प्रश्न मुख्य नहीं है कि 'पंजाब की बोली स्वतन्त्र भाषा मानी जाय या केवल हिन्दी की एक बोली? और स्वतन्त्र भाषा मानी जाय तो पंजाब की कौन सा बोली? असल समस्या वहां अरबी और भारतीय अक्षरों की है। पंजाब में राजकाज और शिक्षा की भाषा उर्दू है। हम यह देख चुके हैं कि ठेठ हिन्दी बोलने वालों के लिए उर्दू जहां केवल हिन्दी की केवल एक शैली है, वहां दूसरे प्रान्तों के लिए वह बिलकुल विदेशी भाषा है। पंजाबियों के सम्बन्ध में भी वही बात है। उर्दू रूप में मिलने के कारण उन्हें भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा एक विदेशी भाषा[1] जान पड़ती है। हिंदू पुरुष उर्दू पढ़ते हैं, पर स्त्रियां सदा से नागरी या गुरमुखी सीखती आई हैं। नतीजा यह है कि पत्नी की चिट्ठी पति और बहन की भाई नहीं पढ़ सकता! व्यापार-वाणिज्य में 'लंडे' (अर्थात् स्वरहीन नागरी) अक्षर चलते हैं। पहले पहल गुरुवाणी भी उन्हीं में लिखी गई थी, पर कहते हैं कि गुरू अंगददेव ने उनकी अपूर्णता देख कर नागरी और शारदा लिपियों से नये चिन्ह ले कर गुरमुखी लिपि बनाई। वास्तव में गुरमुखी और शारदा एक ही लिपि हैं, दोनों में भेद केवल यह है कि गुरमुखी से लंडों वाली अपूर्णता पूरी तरह गई नहीं, द्वित्व अक्षर अब तक उसमें ठीक नहीं लिखे जाते। इस अभाव के कारण गुरमुखी में संस्कृत परिभाषायें लिखना कठिन होता है, जिससे पंजाबी

---

१. चार बरस हुए लाहौर में मेरे एक पंजाबी मित्र का बालक उर्दू का कायदा (पहली पोथी) पढ़ता था। उस कायदे में मुर्ग़ी के चित्र के नीचे उर्दू में मुर्ग़ी लिखा था। पंजाबी में मुर्ग़ी को कुकड़ी (सं० कुक्कुटी) कहते हैं। वह बालक रटता था—मीम्-रे-गैन्-ये—कुकड़ी, मीम्-रे-गैन्-ये—कुकड़ी!

वाङ्मय के विकास-मार्ग में वही बड़ी रुकावट बनी हुई है जो सिन्धी की राह में है। फिर गुरमुखी लिपि का भी पंजाब पर पूरा अधिकार नहीं हुआ, नागरी और गुरमुखी दोनों साथ साथ चलती हैं, यद्यपि एक को जानने वाला दूसरी को घंटे दो घंटे में सीख सकता है, इसलिए बहुत लोग दोनो जानते हैं। कांगड़ा और चम्बा के पहाड़ी प्रदेश में शारदा का विकार टक्करी (मध्यकालीन टक्क देश अर्थात् स्यालकोट-प्रदेश की) लिपि चलती है।

पंजाबी का वाङ्मय बहुत ही साधारण है। गुरु-ग्रन्थ-साहेब का पाठ वहाँ सब से अधिक होता है, पर उसका अधिकांश पुरानी हिन्दी में है; थोड़ा सा अधिक प्रचलित अंश पंजाब की बोलियों में है—जपजी पंजाबी में तथा जन्मसाखी पंजाबी-घुली हिन्दकी में।

मेरा पहले यह मत था कि पंजाब की शिक्षा-दीक्षा की भाषा हिन्दी होनी चाहिए, किन्तु अब मैं 'पंजाबी' के पक्ष में हूँ। 'पंजाबी' से मेरा अभिप्राय 'पूरबी पंजाबी' या नैरुक्तों की पंजाबी से नहीं जिसे एक भाषा बनाने का भरसक जतन हो रहा है, प्रत्युत उस बार की बोली से है जहाँ गुरु नानकदेव ने जन्म लिया था, और जो पंजाबी तथा हिन्दकी के ठीक घोल को सूचित करती है, जिसमें कि जन्मसाखी लिखी गई है। मैं यह समझता हूँ कि पंजाबियों को भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा से परिचित होने की अपेक्षा भारतीय वर्णमाला से परिचित होना अधिक आवश्यक है, वह उद्देश हिन्दी की अपेक्षा उनकी अपनी बोली द्वारा अधिक सुगमता से पूरा हो सकता है, इसीलिए नागरी लिपि में पंजाब की बोली का एक भाषा के रूप में विकास होना, मेरी दृष्टि में, पंजाब के लिए हितकर होगा।

(इ) कपिश-कश्मीर की

पंजाब की तरह कपिश-कश्मीर की भी समस्या है। उस समूचे प्रदेश में कश्मीरी ही सुगमता से साहित्यिक भाषा बन सकती है, और पिछले चालीस एक बरस से उसे वैसा बनाने का जतन भी हो रहा है। किन्तु अभी तक वह जतन खुल कर नहीं किया गया, और उस डगमगाहट के कई कारण हैं। कश्मीर में संस्कृत का राज रहा है, वह संस्कृत अध्ययन का सदा केन्द्र रहा है। शुरू में नई दुनिया का संसर्ग होने पर नये व्यवहार के लिए जब एक भाषा की जरूरत हुई तो कश्मीरियों का ध्यान संस्कृत की ओर ही गया। पिछले महाराजा ने आरम्भ में युरोपियन फ़ौजी कवायद के शब्द भी संस्कृत में तैयार करवा के जारी कराये थे[1]! किन्तु संस्कृत इस ज़माने की व्यावहारिक भाषा न बन सकती थी, और अब कश्मीर पर उर्दू-हिन्दी का शासन चल रहा है। कश्मीरी की स्थिति वहाँ पंजाब में 'पंजाबी' की तरह है। उसकी स्थिति को वहाँ रह कर अपनी आँखों देख कर ही मैं अपनी अन्तिम सम्मति बना सकूँगा, तो भी फ़िलहाल मेरा यह मत है कि कश्मीरी बोली को वाङ्मय-सम्पन्न भाषा बनाने का पूरा जतन होना चाहिए, और यद्यपि पिछले समय में कश्मीर में संस्कृत का पढ़ना-लिखना शारदा लिपि में होता रहा है, तो भी नई कश्मीरी भाषा को नागरी में लिखना जारी करना चाहिए।

(उ) अफ़गानस्थान की

अफ़गानिस्तान में फ़ारसी ने पश्तो को बिलकुल दबा रक्खा है। पश्तो[2] एक ज़िन्दा जानदार भाषा है, और उसमें कुछ वाङ्मय

---

१. उनका संग्रह छप चुका है।

२. पश्तो और पख़्तो एक ही भाषा की दो बोलियां हैं। दोनों में अन्तर नाम का, केवल थोड़े से उच्चारणों का है। वह उच्चारण-भेद उन

भी है। उसमें ऊँचे विचारों का प्रकाशन आसानी से हो सकता है, और उसका पूरा वाङ्मय-विकास होना चाहिए। इस समय फ़ारसी को प्रधानता देने के कारण अफ़गानस्थान की जातीय एकता भी बनी नहीं रही, और उसकी तथा भारतवर्ष की ठीक जातीय सीमायें बतलाना भी कठिन हो गया है। पश्तो के उद्धार से वह समस्या बहुत कुछ सुलझेगी। इतिहास की दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्व का है कि अफ़गानस्थान की पार्सीवान जनता कब से पार्सीवान बनी है? या बाहर से आई है? यदि वह पुरानी हो तो यह सोचा जा सकेगा कि संस्कृत वाङ्मय का पारसीक[1] शब्द शायद उसके लिए हो। किन्तु मेरा विचार है कि वह इतनी पुरानी नहीं है।

———

दोनों के नामों से प्रकट है। जहां हम एक का नाम लें वहां दूसरी को स्वतः साथ ही समझ लेना चाहिए।

१. नमूने के लिए मुद्राराक्षस १, २० में। रघुवंश ४, ६० के पारसीकों से फ़िलहाल हम सासानी राजा समझते हैं, क्योंकि सासानियों से पहले अर्थात् २२५ ई० तक फ़ारिस पार्थव कहलाता था, उसका नाम पारस प्रचलित ही न था। इस प्रकार कालिदास का समय सासानी वंश से पहले नहीं हो सकता। किन्तु यदि वहां पारसीक का अर्थ पार्सीवान हो तो यह युक्ति न दी जा सकेगी, यद्यपि उस विशेष प्रकरण में मेरे विचार में पार्सीवान अर्थ किसी तरह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे पारसीक 'पाश्चात्य' थे, उत्तरापथ के नहीं।

३.
भौगोलिक संज्ञायें और परिभाषायें

अपने ही देश और अपने पड़ोसी देशों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति अभी तक हमारे देशवासियों में बहुत ही मन्द है, और जब उनके विषय में हमारे हिन्दी लेखकों को कुछ कामचलाऊ जानकारी पाने की ज़रूरत होती है वे प्रत्यक्ष अध्ययन करने अथवा प्रामाणिक पुस्तकें पढ़ने के बजाय अंग्रेज़ी की बाज़ारू संकलन-पुस्तकों नक्शों या पत्र-पत्रिकाओं से अपना काम चला लेते हैं। अपनी देसी भाषाओं के नामों को उनके अंग्रेज़ी रूपान्तर से फिर हिन्दी में गलत-सही ढालने में उन्हें कोई लज्जा या शंका नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार राजपूताना का 'आड़ावला' जो अंग्रेज़ी में 'आड़ावल्ली' बन चुका है, हिन्दी में 'अरवली' बन जाता है, और सिन्ध का खीरथर किरथार हो जाता है! तेलगु और सिन्धी में अकारान्त शब्दों के अन्त का अ संस्कृत की तरह पूरा बोला जाता है, इस कारण जिसे वे तेलगु में 'कडप' लिखते हैं उसे ठीक 'कडपऽ' बोलते हैं, और अंग्रेज़ी वाले उस उच्चारण को Cuddapah लिख कर प्रकट करते हैं। कूपमण्डूक हिन्दी लेखक यदि उसे कुड्डापा लिखें, कांथी (जि० मेदिनीपुर) को कोन्टाई (Contai), सक्खर को सुक्कुर (Sukkur), वढवान (काठियावाड़ में) को वधावाँ, रोपड़ को रूपार, जलालपुर जट्टां को जलालपुर जत्तन, और अराँई (पंजाब की एक प्रसिद्ध खेतिहर जाति) को अड़ैन लिखें—ये सब लिखावटें मैंने हिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं में देखी हैं,—तो दूसरे प्रान्त वालों के घाघरा को

गोगरा, मथुरा को मूत्रा, और मेरठ को मिराट लिखने पर भी उन्हें क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? 'मिराट' तो मैंने बंगला पत्रिकाओं में सचमुच पढ़ा है, गुजराती विद्यार्थियों को 'गोगरा' रटते देखा और तामिल स्कूलों में 'हिस्सर' 'कार्नल' जिलों के नाम रटे जाने की बात सुनी है ! मेरा यह अभिप्राय नहीं कि बड़ोदा को वडोदरा, पूना को पुणें, मद्रास को चेन्नपत्तन, तंजौर को तंजावुर और कलकत्ता को कलिकाता लिखा जाय;—ये शब्द तो मूल नामों के हिन्दी रूप हैं और ग्रामीण जनता की बोली तक में पहुँच चुके हैं। साहीवाल को मंटगुमरी और अप्पोज़ई को फ़ोर्ट सन्डेमन लिखना क्षम्य है, क्योंकि ये नये नाम नई रचनाओं को भी सूचित करते हैं; किन्तु अत्यन्त प्राचीन हज़ारा ज़िले को जो हिन्दी लेखक हिन्दी में ऐबटाबाद लिखे, एलामलै (मलय पर्वत) को कार्डमम, चोलमण्डल को कारोमण्डल, केंदूझर को क्योंझर, ढेंकानाल को धेनकनल, ङरी को नारी, चाङ्पो को सानपो, और समन्तकूट को ऐडम्स् पीक, उसे क्षमा करने का अर्थ हिन्दी वाङ्मय में अराजकता फैलाना होगा। जब तक हम लोग अंग्रेज़ी के गुलाम हैं, और अपने देश के पड़ोसी प्रान्तों, उनकी भाषाओं, जनताओं आदि का सीधा अध्ययन नहीं करते, तब तक यह अराजकता दूर न होगी।

मैंने भरसक प्रत्येक स्थान के नाम का ठीक उच्चारण खोज कर लिखने का जतन किया है। सतलज और व्यास के बीच के दोआब को पंजाबी लोग ठीक द्वाबा बोलते हैं, और 'द्वाबा' से केवल वही दोआब समझा जाता है। हाला पर्वत का ठीक सिन्धी नाम हालार है। प्राचीन लम्पाक को प्रायः लग़मान लिखा जाता है, लेकिन अफ़गानिस्तान वाले उसे लमग़ान कहते हैं, और वही उच्चारण मूल शब्द के अनुसार भी है। मुज़्ताग़ की चोटी चगेरी के नाम के विषय में दे० मौडर्न रिव्यू, सितम्बर १९२८, पृ० ५०१।

यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष के ही सब प्रान्तों और पड़ोसी देशों के स्थानों व्यक्तियों आदि के नाम नागरी में ठीक ठीक लिखने के लिए कुछ नये चिह्नों की भी जरूरत होगी। इस सम्बन्ध में परिशिष्ट २ (२) में भी कहा जा चुका है। मैंने वैसे कुछ चिह्न आरज़ी तौर पर बना भी लिये हैं, किन्तु टाइप में वे भी प्रकट न हो सके। च और च़ के भेद के विषय में दे० ऊपर पृ० ३० टिप्पणी। तेलगु, सिंहली और तिब्बती के कई शब्दों का ह्रस्व एकार और ओकार टाइप के अभाव से प्रकट नहीं हो सका, जैसे (सिं०) महावेलिगंग, मिनिकोई, (ते०) पेद्दवगू, (ति०) दोर्जेलिङ्, और शायद पतकोई, दिहोङ आदि आसाम-सीमान्त के नामों में भी। वैदिक संस्कृत में मूर्धन्य ल के लिए अलग चिन्ह है जो मराठी आदि में भी चलता है। दुर्भाग्य से हिन्दी छापेखानों में वह भी नहीं रहता। आड़ावला और वला (राजस्थानी), पन्हाला निर्मल, वेरुल, यवतमाल, सातमाल और माल (मराठी), बल्लारी बेंगलूर, कोलेगाल और गंगावली (कनाडी), पल्लनी (तामिल), पिदुरुतलागल, गल और समनलकन्द (सिंहली) आदि नाम और शब्द जिन प्रान्तों के हैं, उनके लोग जब इनमें दन्त्य ल पढ़ेंगे (कोलेगाल में पहले और पिदुरुतलागल में दूसरे स्थान में), अथवा वैदिक संस्कृत के पंडित जब "ऐल" या "व्यैलवाः" (पृ० २९०) में दन्त्य ल देखेंगे, तो उन्हें वह खटकेगा। अपनी लाचारी के लिए मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ।

इसके अतिरिक्त दूसरी बड़ी जरूरत है एक भारतीय भूगोल-कोष की, जिसे दस-बारह व्यक्तियों के सहयोग से कोई अच्छी संस्था तैयार करा सकती है। ऐसे कोष के बिना सावधान लेखक भी गलतियों से बच नहीं सकते—'भौगोलिक आधार' के पहले संस्करण में मैने भी कई गलत नामों का प्रयोग किया था और अब भी किसी किसी नाम के विषय में मेरे मन में सन्देह बना हुआ है।

भूगोल-कोष में स्थानों के नामों का संग्रह करने की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता भूगोल-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के संग्रह की है। जो भौगोलिक पदार्थ हमारे देश में हैं, हमारे देशवासियों ने जब उनकी सत्ता का अनुभव किया है तब उनके कुछ जातिवाचक नाम भी रक्खे हैं। यदि हम भारतीय प्रदेशों का सीधा प्रत्यक्ष अध्ययन करें तो हमें वे पारिभाषिक नाम जगह जगह मिलेंगे। उनका संग्रह न केवल भारतीय भूगोल के अध्ययन के लिए उपयोगी होगा, जिसके द्वारा हम भारतवर्ष को ठीक भारतीय दृष्टि से देख सकेंगे, प्रत्युत हिन्दी के शब्दकोष में भी कीमती बढ़ती करेगा। दूसरी तरफ़ बजाय उन परिभाषाओं को खोजने के, जिन्हें ग्रामीण जनता तक खूब जानती और समझती है, हम लोग यदि अंग्रेज़ी परिभाषाओं का अनुवाद भारी-भरकम संस्कृत शब्दों से करते हैं, तो न केवल हम हिन्दी की शैली को पण्डिताऊ बनाते हैं, प्रत्युत उससे बढ़ कर यह सिद्ध करते हैं कि हमारी जनता ने अपनी आँखों के सामने के पदार्थों का भी अनुभव और नामकरण नहीं किया। साधारण जनता तक अपने देश का ज्ञान पहुँचाने का सब से अच्छा उपाय उसे जनता के अपने शब्दों में पेश करना है। नमूने के लिए अंग्रेज़ी शब्द प्लैटो के लिए हिन्दी भूगोल-लेखकों ने "ऊर्ध्वभूमि" शब्द गढ़ा है, और "ग्लेशियर" के लिए "हिमानी"। उन्होंने यह कभी न सोचा कि जब भारतवर्ष में प्लैटो और ग्लेशियर हैं, तो उनके वाचक कोई शब्द भी होंगे, और शब्दों का न होना केवल एक बात को सूचित करता कि हमारे देशवासी अपनी आँखों के आगे की चीज़ को नहीं देख सकते थे। 'ऊर्ध्वभूमि' तो मुझे ऐसा जान पड़ता है जैसे उष्ट्रपृष्ट! राजपूताना-मालवा में इस अर्थ में पठार शब्द प्रचलित है, और कश्मीर में छोटे छोटे पठारों को उड्डर कहते हैं। 'हिमानी' बुरा शब्द नहीं है, पर कुमा-

उँनी उसे 'गल' कहते हैं। घाटी, घाटा, जोत, दर्रा, दून आदि शब्दों के विषय में ऊपर जहां तहां लिखा जा चुका है। दून शब्द हिन्दी-शब्द-सागर में नहीं है, पर पहाड़ों के अन्दर घिरी हुई तंग मैदान की बस्ती के लिए, विशेष कर जो किसी नदी की धारा के साथ साथ चली गई हो, वही ठेठ हिन्दी शब्द है। उस अर्थ में हिन्दी में घाटी शब्द भी है, लेकिन मैं समझता हूँ "घाटी" का असल अर्थ छोटा घाटा या घाट ही है जैसा कि अजमेर और पुष्कर के बीच की जोत को घाटी कहने से प्रकट होता है। दून के अर्थ में घाटी शब्द के प्रयोग को गौण मानना चाहिए। परन्तु अंग्रेज़ी की मक्खी पर मक्खी मारने वाले हिन्दी लेखक न केवल पहाड़ी नदियों की दूनों को प्रत्युत मैदान की नदियों के काँठों को भी घाटी लिख डालते हैं, क्योंकि अंग्रेजी में दोनों को व्वैली कहते हैं! काँठा शब्द गुजराती में खूब चलता है, और हिन्दी-शब्द-सागर के अनुसार वह पुराने हिन्दी पद्य में भी प्रयुक्त है। कोई कारण नहीं कि जरूरत पड़ने पर उसे हिन्दी गद्य में क्यों न बर्त्ता जाय। दिल्ली को जमना की घाटी में और कानपुर को गंगा की घाटी में कहना हिन्दी मुहावरे के सरासर खिलाफ़ है।

बालू की पहाड़ी के अर्थ में गुजराती शब्द डूंगरी अपनाने को मेरा जी करता है। उस शब्द का राजस्थान में भी चलन है, इसलिए वह ठेठ हिन्दी भी माना जा सकता है। पहाड़ के एक तरफ़ बढ़ाव के लिए, जिसे अंग्रेज़ी में रिज (ridge) कहते हैं, ठेठ हिन्दी में ढांग शब्द है, जैसे बिजनौर और गढ़वाल ज़िलों की सीमा पर लाल ढांग। बांगर और खादर शब्दों को गंगा-काँठे की सूखी ऊँची और नदी की बनाई हुई ज़मीन के अर्थ में "औक्सफ़र्ड सर्वे औफ दि ब्रिटिश एम्पायर" में भी बर्त्ता गया है। हिन्दी में उन्हें साधारण भौगोलिक परिभाषाओं के रूप में

न बर्त्तने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार मैंने 'आमू का खादर' प्रयोग किया है।

पहाड़ की परम्परा के अर्थ में हिन्दी में शृंखला शब्द बर्त्ता जाता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ठेठ हिन्दी शब्द 'धार' का वही अर्थ है, और मैंने पहले सब जगह वही शब्द बर्त्त भी डाला था। किन्तु मेरे बुज़ुर्ग और मित्र अध्यापक रामरत्न जी का, जिनकी हिन्दी मुहावरे के विषय में प्रामाणिकता सबकी मानी हुई है, कहना है कि 'पहाड़ की धार धार चले जाइए' का अर्थ है 'पहाड़ की चोटी चोटी चले जाइए', और धार शब्द में परम्परा का अर्थ ज़रूर है पर केवल चोटी की परम्परा का न कि पहाड़ की रीढ़ का। मेरा कहना है कि 'पहाड़ की धार धार चले जाने' में 'पहाड़ की चोटी की परम्परा पर चले जाने' का जो अर्थ है, उसमें चोटी अर्थ धार शब्द के कारण नहीं प्रत्युत पहाड़ शब्द के कारण है, क्योंकि पहाड़ का मूल अर्थ चोटी ही है न कि पर्वत, वह पालि पब्भार और संस्कृत प्राग्भार का अपभ्रंश है जिनका अर्थ है 'आगे बढ़ाव' या कगार; इस प्रकार धार शब्द में केवल परम्परा या ताँते का अर्थ बचता है, और वह ताँता चाहे पर्वत की चोटी का हो चाहे रीढ़ का। अपने पक्ष की पुष्टि में मैं कांगड़ा-कुल्लू के धौला धार और सिरी-(श्री-) कन्द धार नामों को पेश करता हूँ। उन दोनों नामों का धार शब्द मेरे विचार में शृंखला का वाचक है—पर्वत की शृंखला का न कि केवल चोटियों की परम्परा का। कश्मीर के पीर पंचाल का संस्कृत नाम पञ्चाल-धारा है। डा० स्टाइन वहां धारा शब्द के ठीक अर्थ का निश्चय नहीं कर पाये, और इसी कारण यह निश्चय भी नहीं कर पाये कि पञ्चालधारा शब्द समूची शृंखला के लिए बर्त्ता जाता था या केवल पीर पंचाल जोत के लिए। मेरे विचार में धारा शब्द में जोत का अर्थ कभी नहीं था, शृंखला

का ही अर्थ था। किन्तु जब तक संस्कृत, पहाड़ी और हिन्दी भाषाओं के पण्डित इस विवाद का फ़ैसला न कर दें, मैंने शृंखला शब्द बर्त्तना ही ठीक समझा।

आवश्यकता होने पर संस्कृत परिभाषायें गढ़ने का मैं विरोधी नहीं हूँ। इस प्रकार "कैचमेंट एरिया" के लिए शायद कोई बोलचाल का शब्द हो, पर मुझे अभी तक वह नहीं मिला, इसलिए 'प्रस्रवण-क्षेत्र' शब्द मैंने गढ़ लिया है। उसी प्रकार 'सिन्क्लिनल' के लिए 'अन्तः प्रवण'।

४.

प्राचीन भारत का स्थल-विभाग

जब हम साधारण रूप से 'प्राचीन भूगोल' की कोई परिभाषा बर्त्तते हैं, तब यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन काल कुछ थोड़े से दिनों या बरसों का न था, और उस समूचे काल में भारतवर्ष के भौगोलिक विभाग और प्रदेशों के नाम एक से न रहे थे। जातिकृत और राजनैतिक परिवर्त्तनों के अनुसार भौगोलिक संज्ञायें और परिभाषायें भी बदलती रहीं हैं। तो भी बहुत सी संज्ञायें और परिभाषायें अनेक युगों तक चलती रही हैं, और यद्यपि उनके लक्षण भी भिन्न भिन्न युगों में थोड़े-बहुत बदलते रहे हैं तो भी उन विभिन्न लक्षणों की भी मानों एक औसत निकाली जा सकती है। हमने साधारणतया प्राचीन भूगोल की जो परिभाषायें बर्त्ती हैं, वे वही हैं जो प्राचीन काल के अनेक युगों में थोड़ी-बहुत रद्दोबदल के साथ लगातार चलती ही रही हैं, और उन परिभाषाओं का प्रयोग भी हमने उनके "औसत" अर्थ में ही किया है।

यहाँ मुझे विशेष कर प्राचीन भारत के स्थल-विभाग के विषय में कुछ कहना है। प्राचीन भारत के 'नव भेदाः' करने की भी एक शैली थी। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता अ० १४ में मध्यदेश के चौगिर्द आठों दिशाओं में एक एक विभाग रख कर कुल नौ विभाग किये हैं। किन्तु उस वर्णन में बहुत गोलमाल है, नमूने के लिए विदर्भ (बराड) को आग्नेय कोण में (श्लोक ८) और कीर (कांगड़ा), कश्मीर, अभिसार, दरद को ईशान

(उत्तरपूरब) कोण में (श्लो० २९) रख डाला है ! मैं ज्योतिष से एकदम अनभिज्ञ हूँ, इसलिए कह नहीं सकता कि यह वराहमिहिर का निरा अज्ञान है या फलित ज्योतिष में किसी विशेष प्रयोजन से जिस जनपद का जो ग्रह अधिपति है उसके अनुसार विभाग करने से ऐसा हो गया है। जो भी हो वराहमिहिर के नौ विभाग तथा पुराणों के "नव भेदाः" (वायु पु० १, ४५, ७८), जिनके नाम मात्र कवि राजशेखर ने उद्धृत किये हैं (काव्यमीमांसा पृ० ९२), एक ही वस्तु नहीं हैं। वे 'नव भेदाः' हैं—

इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णी गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥७९॥
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।

इनमें से ताम्रपर्णी स्पष्ट ही सिंहल है, और नौवाँ जो 'यह द्वीप' है उसमें फिर महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र ये सात कुलपर्वत कहे गये हैं, जिससे स्पष्ट है कि वह विन्ध्यमेखला और दक्खिन भारत है, अथवा हिमालय-हिन्दूकुश के बिना समूचा भारत। बाकी सात कहां रहे ? सब से पहला श्लोक इसपर कुछ प्रकाश डालता है—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्त्तिताः ।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ॥७८॥

ये नौ भेद भारतवर्ष के हैं, किन्तु एक दूसरे के बीच समुद्र होने से परस्पर (स्थलमार्ग से) अगम्य हैं। यह सूचना बड़े महत्त्व की है, और इससे प्रतीत होता है कि ये नौ भेद बृहत्तर भारत के थे, और उस अर्थ में भारत शब्द का प्रयोग चीनी और यूनानी-रोमन लेखक भी करते थे—टालमी ने हिन्दचीनी प्रायद्वीप को गंगा-पार का हिन्द कहा है तथा पाँचवीं शताब्दी

ई० के चीनी यात्री फ़न-ये के अनुसार भारतवर्ष काबुल से आनाम तक था[१]।

दूसरी तरफ़ जिन्हें राजशेखर 'पञ्च स्थलम्' कहता है वे मुख्यतः ठेठ भारत के विभाग जान पड़ते हैं। काव्यमीमांसा में उन्हीं का विस्तृत वर्णन है, और रघुवंश के रघु-दिग्विजय-प्रकरण में भी उन्हीं की तरफ़ निर्देश है। य्वान च्वाङ और अन्य चीनी यात्रियों के "पाँच इन्दु (हिन्द)" भी वही थे[२]। भरत के नाट्य-शास्त्र (अ० १३, श्लो० २५) की चार 'प्रवृत्तियां' भी उन्हीं पांच के अनुसार हैं,—औड्र-मागधी = प्राच्य, आवन्ती = पाश्चात्य, दाक्षिणात्या, तथा पाञ्चाली या पाञ्चालमध्यमा = मध्य-देश और उत्तरापथ की। राजशेखर ने पांच स्थलों के नाम दिये हैं—पूर्वदेश, दक्षिणापथ, पश्चाद्देश, उत्तरापथ, और मध्यदेश (पृ० ९३-९४)। वायुपुराण के नाम हैं—मध्यदेश, उदीच्य, प्राच्य, दक्षिणापथ और अपर जनपद (श्लो० १०९-१३१)। इससे स्पष्ट है कि अपर जनपद = पश्चाद्देश; अपर जनपदों की कुल गिनती के अन्त में पाठ है—इत्येते सम्परीताश्च, जिसके बजाय एक प्रति में है—इत्येते ह्यपरान्ताश्च, जिससे स्पष्ट है कि अपरान्त = पश्चाद्देश। रघुवंश में अपरान्त में कोंकण के साथ केरल की भी गिनती है (श्लो० ५३-५४), शायद वहां अपरान्त शब्द केवल पच्छिमी तट के अर्थ में है।

किन्तु वायुपुराण में उक्त पाँच विभागों के जनपदों को गिनाने के बाद 'विन्ध्यवासिनः' (१३१) या 'विन्ध्य-पृष्ठनिवासिनः' (१३४), तथा 'पर्वताश्रयिणः' (१३५-१३६) अर्थात् विन्ध्य और

१. ज० रा० ए० सो० १९१२, पृ० ६७७।

२. कनिंगहाम—एन्श्येन्ट ज्यौग्राफ़ी औफ़ इंडिया (भारत का प्राचीन भूगोल), पृ० ११-१२।

हिमालय के ऊपर रहने वाले राष्ट्रों को अलग गिनाया है—शायद ठीक वैसे ही जैसे हमने सरलता की खातिर पर्वतखण्ड के प्रान्तों को अलग गिना दिया है। दूसरे सब पुराणों में भी वैसा ही है।

मध्यदेश की पूरवी सीमा काव्यमीमांसा में वाराणसी कही है, किन्तु कभी कभी वह प्रयाग तक होती थी, और काशी 'पूरब' में गिनी जाती थी (बृहत्संहिता १४, ७)। आज भी भोजपुरी बोली की पच्छिमी उपबोली 'पुरबी' कहलाती है, क्योंकि अन्तर्वेदियों की दृष्टि में बिहार के पच्छिमी छोर से 'पूरब' शुरू हो जाता है। परन्तु बौद्ध 'विनय' में विदेह और मगध निश्चित रूप से मध्यदेश में हैं (महावग्ग. ५), और पतञ्जलि के महाभाष्य (२, ४, १०) में भी धर्मसूत्रों (वासिष्ठ १, ८, बौधायन १, १. २५) के अनुसार 'कालकवन' को आर्यावर्त्त की पूरवी सीमा कहा है। कालक वन सम्भवतः संथाल-परगना का जंगल है, और यदि वैसा हो तो मध्यदेश के दो लक्षणों का अन्तर बौद्ध और अबौद्ध लक्षणों का अन्तर नहीं, प्रत्युत पुरानी और नई परिभाषाओं का अन्तर है।

दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) काव्यमीमांसा के अनुसार प्राच्य देश में था, किन्तु नाटयशास्त्र में कोशलों की 'प्रवृत्ति' (रंग-रूप वेषभूषा) दाक्षिणात्या गिनी गई है, असल में वह 'पूरब' और 'दक्खिन' की सीमा पर है।

पृथूदक के उत्तर उत्तरापथ है, इसकी स्पष्ट व्याख्या पहले पहल 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' और 'भौगोलिक आधार' में की जा रही है। जान पड़ता है कि राजशेखर का यह कथन पुरानी परिपाटी के अनुसार था जो कालिदास के समय भी प्रचलित थी। मध्यदेश की पच्छिमी सीमा देवसभ का स्थान-निश्चय नहीं

किया जा सका; पर पतञ्जलि ने पूर्वोक्त प्रकरण में अदर्श को आर्यावर्त्त की पच्छिमी सीमा कहा है, और वासिष्ठ तथा बोधायन धर्मसूत्र में वही अदर्शन (सरस्वती का विनशन) है; इस कारण देवसभ कहीं उसी की सीध में—उसी की देशान्तर रेखा में—रहा होगा।

संशोधन और परिवर्धन

पृ० ५ पं० २३ तथा ३३—२४, २७; जंड या जांड ब्रज में भी होता है और वहां वह छोंकर कहलाता है। इसलिए शमी को हिन्दी में छोंकर ही कहना चाहिए।

३५—१, १०; बंगला 'खाल' का ठीक समानार्थक ब्रजभाखा का खार शब्द है। माने नाला।

४८—११; १३७—१८; मालकन्द शायद दर्रा नहीं, जोत है

५८—२५; खासी न कि खसिया।

८५—२६, १४७—७, २७ उडुर न कि उडर।

८९—२; गुत्ति न कि गूटी।

६०—५; शेरवराय या सर्वराय न कि शिवराय।

६०—१५; पच्छिम न कि पूरब।

११५—१०; दायें दायें न कि बायें बायें।

१३०—१४; पूरबी न कि उत्तरी।

१५२—१४; पूरब न कि पच्छिम।

१६१—१; लहसुनिया (वैदूर्य) न कि गोमेद।

२१३—३-५; गारो पहाड़ियों को बंगला भाषा ने घेर लिया है; इसलिए उन्हें बंगाल में गिनना होगा न कि आसाम में।

३०१—१८; लहसुनिया (वैदूर्य) न कि पन्ना।

अनुक्रमणिका

(श्रीमती सरस्वतीदेवी काव्यतीर्थ साहित्याचार्य तथा श्रीमती सुमित्रादेवी शास्त्री द्वारा संकलित)

अ. ग्रन्थनिर्देशविषयक

[केवल उन्हीं ग्रन्थों के नाम मुख्य अकारादिक्रम में दिये गये हैं जिनके कर्त्ताओं के नाम साथ नहीं हैं। फुटकर लेखों के शीर्षक नहीं दिये गये। बिना निर्देश की संख्यायें पृष्ठों की हैं।]

इ. साधारण

[संकेत--आ = आचार्य, विद्वान्; उ = उत्तर, उत्तरी; जा = जाति, वंश, जात, जन आदि; ज़ि = ज़िला, प्रदेश; जो = जोत या दर्रा; ती = तीर्थ; द = दक्खिन, दक्खिनी; दे = देश, प्रान्त, जनपद; द्वी = द्वीप; न = नदी, उसकी घाटी या काँठा; प = पर्वत, पर्वतशृंखला; पू = पूरब, पूरबी; प्र = प्रतीच्य, पच्छिम; ब = बस्ती, गाँव, शहर, किला, बन्दरगाह; बो = बोली, भाषा, लिपि, वाङ्मय, वर्णमाला; रा = राजा; स = सरोवर, ह्रद; से = सेनापति ।]

छपाई की भूलचूक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
[१५	२७	१	१२
[२१	पंक्ति २ को पंक्ति ५ के रूप में पढ़िये।		
२४]	२१	पाक	अनु
३	१७	का	की
११	२५	उद्देश्य	उद्देश
२२	२३,२४	क्षुतुद्र	क्षुतुद्र्
२५	१०	देता है उस···। जिस	देता है। उस···जिस
२६	२	के—	के।
२६	११	पूर्ण के विकास	पूर्णा के निकास
२७	१२	मार्कण्डे	मार्कण्डेय
२६	१०	बिचला	वह बिचला
३०	१५	निश्चित···है, कि	निश्चित···है कि
३०	२१	उच्चारण···। व मराठी	उस उच्चारण···। मराठी
३१	४	तार्थ्य	तार्प्य
३१	११	४,	४७
३१	२०	मधुवनी	मधुवना के
३१ ३२	२६ २५	दीघ विकाय	दीघ निकाय
३२	१४	लम्बाई	लम्बाई—
४७	१७	थे।	थे[3]।
६३	७	गवाल	गवील
६३	१३	(दशार्णा	(दशार्णा)
६५	११	तक	तक।
६५	२३	का मिला	को मिला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७७	११	तावर	तीवर
८७	८	हुगली	हुबली
९३	१७	पैएणार, नदी	पैएणार नदी
१२८	१	का	की
१८३	११	मन	मनी
२२८	८	जाते	जीते
२२९	२०	फ-ल-न,	फ-ल-न
२७२	२७	'४२५	२४'२५
२७२	२८	५३	'५३
३५१	१	का	को
३५५	१०	सुधारक	सुप्पारक
३५५	११	किन्द, ८६१ ।	न्दि, १८६ ।
३५६	१४	३१३	३१०-३
३५६	२२	१३६	३१०
३५६	२३	३१०	१३६
३५७	१४	२३१	२३०-१
३६०	२५	३१०-१	३१०-१५
३६३	६	३४१	४१

पहले संस्करण पर कुछ सम्मतियाँ

Pandit Vidyalankar has touched upon a very interesting subject. His considerations on geographical and orographical peculiarities of India shed new light on Indian history and civilisation. How the strategic points determined the military enterprises in this land is most ably dealt with.

(पंडित विद्यालंकार ने एक बड़े मनोरञ्जक विषय को हाथ में लिया है। उनके भारतवर्ष की भौगोलिक विशेषताओं के विवेचन ने भारतीय इतिहास और सभ्यता पर नई रोशनी डाली है। देश की नाकेबन्दी का लड़ाइयों के फ़ैसले कराने में कैसे कैसे प्रभाव होता रहा सो बड़ी योग्यता के साथ दिखलाया गया है।)

—मौडर्न रिव्यू, जनवरी १९२७।

अध्ययन की गम्भीरता, विचारों की पैठ और कल्पना की उड़ान बड़ी प्रभावोत्पादक…है ।…… विचार-स्वतन्त्रता का परिचय……खूब मिलता है ।…हिन्दी में…ऐतिहासिक मनोवृत्ति के धारण करने वाले विरले ही हैं।…जयचन्द्र विद्यालंकार

उन्हीं विरलों ··· में ··· हैं। ··· भारतीय इतिहास-विज्ञान के सम्बन्ध में न तो हिन्दी में और न अंग्रेजी में ही अभी तक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ ··· । एक के बाद एक ऐतिहासिक घटना भौगोलिक रज्जु से आकर्षित हो कर आप के सामने से गुज़रती चली जायगी। भारत के भूगोल का इतना अच्छा ऐतिहासिक अध्ययन अभी तक ··· और किसी ने नहीं किया।··· भूगोलेतिहास के अध्ययन की एक नवीन दिशा सुझाई है।··· भौगोलिक परिस्थितियों के ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रभावों को जिस सुन्दर ढंग से वर्णन करते हैं वह पढ़ते ही बनता है। ··· लेखक ने स्थान स्थान पर अपनी तर्कशक्ति का कितना अच्छा परिचय दिया है। ··· विश्वविद्यालयों और कालेजों के विद्यार्थी इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

—प्रताप, १३ जुलाई १९२५।

··· originality of thought and clearness of views ··· (विचार की मौलिकता और विशदता ···)।

—वैदिक मैगज़ीन फ़रवरी १९२७।

विचारशील लेखक की गाढ़ी मेहनत और गहरे विचार की छाप ···। ··· मौलिक विचारों की एक नई परम्परा ···। भारतीय इतिहास ··· के साहित्य में एक बिलकुल नई चीज़···। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में ··· किसी ने अभी तक भारतीय इतिहास की भौगोलिक भित्ति का शृंखलाबद्ध अनुशीलन नहीं किया था। ··· भाषा अपने ढंग की रोचक और सजीव है।

—सरस्वती, सितम्बर १९२६।

उसी लेखक की कलम से

भारतीय इतिहास की रूपरेखा

(भूमिका-खण्ड और प्राचीन काल)

प्राचीन भारतीय इतिहास के दो प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मति सुनिये—

श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार जी की लिखी हुई 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नाम की पुस्तक मैंने आद्योपान्त सुनी। हिन्दी साहित्य में प्रामाणिक प्राचीन इतिहास के ग्रन्थों का अभाव है। यह पुस्तक बड़े श्रम और गवेषणा से लिखी गई है, और इससे भारत के प्राचीन इतिहास के एक अंश की पूर्ति हो सकती है। ऐसे ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन से ही हिन्दी भाषा का गौरव बढ़ सकता है और हिन्दी साहित्य के उस अंश का अभाव किसी अंश में दूर हो सकता है। मैं इस रचना के लिये उसके कर्ता को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अजमेर ता० १६-६-२६। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

श्रद्धेय ओझा जी ने सन् १६२८ में जब इस ग्रन्थ को सुना था, तब इसका केवल राजनैतिक अंश लिखा गया था। पूरे ग्रन्थ के विषय में प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रमुख भारतीय आचार्य ने हाल में जो सम्मति लिखी है वह यों है—

I have examined Mr. Jay Chandra Vidyalankara's Outlines of Indian History (Ancient Period). *It is a unique work.* From the Vedic age up to the end of the Gupta period, Indian History has been surveyed in all its aspects—political, social and cultural. The author has

utilized the researches by various scholars up to date, and has added his own contributions which are important. *Such a synthetic work had not been attempted before.* The book is in Hindi. This will stand in the way of the author's results reaching foreign scholars.

The learned author's method is perfectly critical, and his judgement logical.

The work deserves to be translated into English.

Patna St 31, July 1931. K. P. Jayaswal

(मैंने श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार की भारतीय इतिहास की रूपरेखा (प्राचीन काल) को पूरी तरह देखा भाला है। यह एक अद्वितीय कृति है। वैदिक काल से ले कर गुप्त युग के अन्त तक भारतीय इतिहास की राजनैतिक, सामाजिक और संस्कृति-विषयक, सभी पहलुओं से विवेचना की गई है। लेखक ने विभिन्न बिद्वानों की अब तक की खोजों का उपयोग किया है, और उनमें अपनी नई खोजें, जो महत्त्वपूर्ण हैं, जोड़ी हैं। इस प्रकार का समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखने की अब तक किसी ने चेष्टा न की थी। पुस्तक हिन्दी में है। इस कारण लेखक के परिणाम विदेशी विद्वानों तक पहुँचने में बाधा होगी।

विद्वान् लेखक की शैली पूरी तरह आलोचनात्मक है, और विचारपद्धति तर्कसंगत।

इस ग्रन्थ का अँग्रेज़ी अनुवाद होना चाहिए।

पटना, ३१ जुलाई १९३१। का० प्र० जायसवाल।)

प्रकाशक का ठीक होते ही पुस्तक छपने लगेगी।